

दान : अमृतमयी परंपरा

डॉ. प्रीतम सिंघवी



दान से लाभ
दान की परिभाषा और महत्त्व
भारतीय संस्कृति में दान
दान का उद्देश्य और महत्त्व
दान की विशेषता
दान के भेद-प्रभेद
दान से ऋण मुक्ति



प्रकाशक
पार्श्व इंटरनेशनल शैक्षणिक और
शोधनिष्ठ प्रतिष्ठान
अहमदाबाद

सद्गुरुश्री सिद्धिसूरीश्वरजी म. साहेब की दिव्याशीष



अज्ञानतिमिरान्धानां ज्ञानांजन शलाकया ।
नेत्रमुन्मिलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥

दान : अमृतमयी परंपरा

अर्पण - समर्पण

सागर का पानी जैसे बादल में और वर्षा के द्वारा नदी में और नदी द्वारा वापस सागर में ही विलीन होता है। वैसे परमात्मा का बताया हुआ प्रत्यक्ष और परोक्ष गुरु चैतन्य द्वारा, स्वार्थ से परमार्थ तक ले जाने वाला दान गुण मुझे जितने अंश में समझ में आया है और जितने अंश में मेरे हृदय में स्पर्श हुआ है उसका यतकिंचित् निरूपण करने की कोशिश की है। यह मेरी बुद्धि का नहीं किन्तु सभी गुरुवर्यो की कृपा का ही फल है। अतः उन सबके चरणकमलोमें अंतर की उर्मियों के साथ यह पुस्तक समर्पित करती हूँ। एवं प्रस्तुत पुस्तक के मार्गदर्शन के लिए तथा मेरे अध्यात्म जीवन के उपकारी सुनंदाबहेन को कैसे भूल सकते ? इस अवसर पर प्रस्तुत पुस्तक उनको भी अर्पण करती हूँ।

चरणेषु

प्रीतम सिंघवी

दान : अमृतमयी परंपरा

डॉ. (श्रीमती) प्रीतम सिंघवी

(M.A., Ph.D., N.W.D.)



प्रकाशक :

पार्श्व इन्टरनेशनल शैक्षणिक और शोधनिष्ठ प्रतिष्ठान

अहमदाबाद

Dan : Amritmayi Parampara
by Dr. Pritam Singhvi

© P. Singhvi

First Edition 2012

Price : Rs. 310-00

Publisher : Pārśva International Educational
and Research Foundation
Ahmedabad 380015
Phone : (079) 26749220

प्राप्तिस्थान : Pārśva International Educational
and Research Foundation
101, Shantam Apartment, Haridas Park,
Satelite Road, Ahmedabad 380015
Phone : (079) 26749220

सरस्वती पुस्तक भंडार
११२, हाथीखाना, रतनपोल, अहमदाबाद-३८० ००१
फोन : 25356692

Printed by : Krishna Graphics
966, Naranpura Old Village,
Ahmedabad-380013
Phone : (079) 27494393

त्याग, ग्रन्थि का : दान, ग्रन्थि का

भारतीय संस्कार में धर्म सर्वप्रथम और सर्वोच्च संस्कार है। बिना धर्मसंस्कार के, हमारा पूरा जीवन असंस्कृत ही रह जाएगा। वस्तुतः जीवन में उपयुक्त अच्छे संस्कार ही 'धर्म' के नाम से पहचाने जाते हैं।

धर्म-संस्कार को हमारे ज्ञानीओं ने चार विभागों में बांट दिया है — दान, शील, तप और भाव। देखा जाता है कि इन चारों धर्मों में प्रथम क्रम दान धर्म को दिया गया है।

दान का मतलब है देना। देना यानी कि त्याग करना। कुछ त्याग किये बिना दान नहीं हो सकता। लेकिन दान देने वाला केवल स्थूल या बाह्य वस्तु का ही त्याग करता है, ऐसा नहीं। वह कुछ अभ्यन्तर ग्रंथिओं का भी त्याग करता है। बिना भीतरी त्याग के, बाहरी त्याग प्रायः असंभवित है। जैसे कि — एक व्यक्ति, दूसरे व्यक्ति को कोई वस्तु देता है, तो उस देने वाले के चित्त में उस वस्तु के प्रति जो ममत्व था, राग था, उसको वह छोड़ देता है; और साथ ही साथ, जिस व्यक्ति को वह दे रहा है, उस व्यक्ति के प्रति अरुचि या द्वेष-दुर्भाव को भी वह छोड़ देता है। इन दो तत्त्वों को बिना छोड़े वह बाह्य वस्तु का दान कभी नहीं दे पाएगा। तो सार यह निकलता है कि दान देने से जैसे परिग्रह का त्याग होगा, वैसे ही अंशतः राग-द्वेष का भी त्याग अवश्य होगा। और यही कारण है कि 'दान' को धर्म का दर्जा मिला है। जो करने से राग-द्वेष न्यून होते हैं उसी को धर्म कहा जाता है, और 'दान' करने में इस शर्त का पालन, उक्त रीत से सोचें तो बराबर हो जाता है।

ऐसे 'दान' धर्म के विषय में हमारे पुरखों ने अनेक ग्रन्थ लिखे हैं। कई शास्त्रों में इस विषय में भिन्न भिन्न तरीकों से प्ररूपण एवं प्रतिपादन किया है। इसके अनेक प्रकार बताये हैं। इसकी महिमा गाई है। दान देने वालों की कई कथाएं भी लिखी है। इन सब का यानी दानविषयक विविध बातों का संकलन इस ग्रन्थ में किया गया है।

विविध ग्रन्थों में दान के बारे में जो कहा गया है, और विविध धर्म-परम्पराओं में जो दान की महिमा गाई गई है, उन सबका अवगाहन कर, उनमें से सार सार ग्रहण करके डॉ. प्रीतमबहेन ने यह संकलन किया है, और उन बातों को अपनी सरल, लोकभोग्य शैली में ढाल कर हमारे सामने पेश किया है। हिन्दी भाषा में किया गया यह संकलन व आलेखन अनेक जिज्ञासुओं के अतीव उपकारक सिद्ध होगा, इस में लेश भी शंका नहीं। एक प्रकार से, उनके द्वारा हुआ यह आलेखन व प्रकाशन भी, दानधर्म का ही एक स्वरूप है। उन्होंने स्वाध्याय किया, स्वाध्याय को शब्दस्थ भी किया, और जिज्ञासुओं को उन शब्दों का इस ग्रन्थ के रूप में दान-ज्ञानदान भी किया, एतदर्थ उन्हें साधुवाद देना चाहिए।

साधुवाद देने के साथ ही मैं चाहूंगा कि उनकी यह स्वाध्याययात्रा अविरत चलती रहो, और उसके ऐसे ग्रन्थ-फल भी जिज्ञासु जनों को मिलते रहो !।

माघ शुदि १, २०६८, नन्दनवनतीर्थ

— शीलचन्द्रविजय

॥ श्री आदिनाथाय नमः ॥

॥ श्रीपद्म-जीत-हीर-कनक-देवेन्द्र-कलापूर्ण-कलाप्रभसूरिगुरुभ्यो नमः ॥

धर्मस्यादिपदं दानम्

पुस्तक का प्रारम्भ ही पूज्यश्री हरिभद्रसूरिजी के वाक्य से होता है :
धर्मस्य आदि-पदं दानम् ।

धर्म का प्रथम सोपान है दान ।

बात भी सच है । बिना दान धर्म में प्रवेश ही कहां ?

धन सार्थवाह ने श्रीधर्मघोषसूरिजी को धी का दान किया और समकित की प्राप्ति हुई । वही धन सार्थवाह आगे चलकर आदिनाथ भगवान बने । नयसार ने साधु भगवन्त को अन्न का दान किया और समकित की प्राप्ति हुई । वही नयसार आगे चल कर भगवान महावीर बने । मतलब हमारे प्रथम व अंतिम तीर्थंकर दान-कल्पवृक्ष के ही मधुर फल थे । तीर्थंकरों को भी धर्म-प्राप्ति दान से होती हो तो दूसरों की क्या बात करना ?

किसी को भी अगर धर्म की प्राप्ति होती है तो दान से ही होती है - ऐसा भी हम कह सकते हैं । 'धर्मस्यादि-पदं दानम्' पूज्यश्री हरिभद्रसूरिजी का वचन भी इसका ही समर्थक है ।

दान सिर्फ धन या भोजन का ही नहीं होता, हर तरह का दान हो सकता है । मेघकुमार ने पूर्व भवं में खरगोश को 'जगह' का दान किया था । अवंती सुकुमाल इत्यादि ने भी स्मधुओं को वसति का दान दिया था । चार प्रकार के धर्म में सर्व प्रथम दान है, शील, तप आदि बाद में है । शील, तप और भाव दान से भिन्न है - ऐसा मत समझें, सच में तो दान का ही सब विस्तार

है। दान का अर्थ है त्याग। दान में सामान्य रूप से धन का त्याग है तो शील में स्त्री का, तप में शरीर का व भाव में मन का - विचारों का त्याग है, जो उत्तरोत्तर सूक्ष्म है। पर जो स्थूल धन आदि पदार्थों का भी त्याग नहीं कर सकता, वह सूक्ष्म का (मन का - विचारों का) त्याग कैसे कर पाएगा ? स्थूल से प्रारंभ करना है, सूक्ष्म तक पहुंचना है।

अतः एव धर्म-सिद्धि के पांच लक्षणों में भी सर्व प्रथम स्थान औदार्य को दिया गया है - जो दान का ही एक रूप है।

तीन प्रकार के वीर में एक दानवीर है।

कई लोग स्वभाव से ही उदार होते हैं - दानवीर होते हैं।

कहा जाता है कि महाराजा भोज स्वभाव से ही दानवीर थे। कोई भी विद्वान कवि आदि ने कुछ भी नया श्लोक-नई कृति इत्यादि इधर सुनाया और उधर अनर्गल दान ! रोज-रोज होता यह दान का सिलसिला मंत्री से देखा न गया, सोचा: ऐसा हुआ तो खजाना खाली हो जायेगा। पर, महाराजा को मना कैसे की जाय ?

कुछ सोच कर महामंत्री ने उद्यान की एक दिवार पर, जहां महाराजा रोज घुमने आते थे, लिखा: आपदर्थ धनं रक्षेत्। मुश्किल समय के लिए धन बचाना चाहिए।

दूसरे दिन भोज राजा ने यह पढा। तुरंत समझ गये : मुझे ही किसीने यह संदेश दिया है। पर महाराजा कोई कम नहीं थे। उन्होंने उसके नीचे लिखा : 'श्रीमतामापदः कुतः ?' 'श्रीमंत आदमीओं को मुश्किल समय किस प्रकार आ सकता है ?'

दूसरे दिन मंत्री ने लिखा : 'कदाचित् कुपिते दैवे।' जब नसीब रुठ हो जाता है तब कभी श्रीमंतों को भी मुश्किलें आ सकती हैं।

महाराजा ने अगले दिन फिर लिखा : 'सञ्चितोऽपि विनश्यति।' 'जब नसीब कुपित होता तब इकट्ठा किया हुआ धन भी नष्ट हो जायेगा। फिर, दान देने में क्या आपत्ति है ?'

मंत्री चूप हो गया।

दानवीर-उदार आदमी दान के हजार कारण बता सकता है तो उधर लोभी दान नहीं करने के भी हजारों कारण बता सकता है, लेकिन जीव को लोभी की बात तुरंत मन में बैठ जाती है।

अनादि काल के लोभ के संस्कार हैं न ?

अतः एव दान मुश्किल है, दुष्कर है।

प्रीतम बहन के इस पुस्तक में जगह-जगह पर दान की महिमा गाई है। न केवल जैन-शास्त्र, अजैनों के भी विशाल प्रमाण में उद्धरण दिये गये हैं, जो बात को बहुत ही पुष्टि कारक बनाते हैं।

प्रीतमबेन सिंघवी ने बहुत ही परिश्रमपूर्वक दानविषयक दृष्टान्त, अवतरण, तर्क, आगम-प्रमाण-इत्यादि सब कुछ दिये हैं। भाषा में न निरर्थक कहीं दीर्घ वाक्यावली है, न ही क्लिष्ट शब्द। इस प्रकार का दान-विषयक सार्वत्रिक संघय शायद ही कहीं देखने मिले।

अमुक वाक्य तो चित्त को चमत्कृत करनेवाले हैं। जैसे - "दान का अर्थ है कि स्व की मानी जानेवाली वस्तु पर से अपना मालिकाना हक छोड़ कर दूसरों को आनंद से अर्पित कर देना।"

कितनी अद्भुत है यह बात ? वस्तु का अपना स्वामित्व दूसरों को सौंपना-वह भी आनंदपूर्वक ! जब हम दान दें तब निरीक्षण करें : ऐसा सच में हो रहा है ?

तत्त्वार्थसूत्र का अवतरण दे कर लेखिका कहते हैं : 'स्वयं प्रकाशित हुए बिना दूसरे को प्रकाश कैसे दे सकते हैं ?'

आमतौर से हम समझते हैं कि दान दे कर हम दूसरे के उपर उपकार कर रहे हैं, लेकिन यहां पर कहते हैं कि अपनी आत्मा के उपर ही उपकार करने के लिए दान देना है।

आगे पुस्तक में एक अच्छा वाक्य नजर में आया: 'दान सिर्फ दान नहीं, हृदय में अनेक गुणों का आदान भी है।'

सच्चे दान से सचमुच कौन से गुण नहीं आते ?

ऐसे तो कई उत्तम वाक्य के मोती पुस्तक में यत्र तत्र सर्वत्र बिखरे हुए हैं। यहां तो कितने लिखें? पढ़ने पर ही विशेष रूप से पता चलेगा।

एक ही पुस्तक में दान-विषयक इतनी सारी सामग्री पाठक को दानमय बना देती है, दान के बारे में विचारने के लिए विवश बना देती है।

प्रीतम बहन का परिचय अभी पालीताणा चातुर्मास में ही हुआ। वह भी सिर्फ ५-१० मिनट का ही। फिर भी उसमें ज्ञान संबंधी ही बातें थीं। वार्तालाप से ही पता चल गया कि यह आत्मा है विद्या-व्यासंगी। पुस्तक देखने से विद्या-व्यासंग का सम्यक् पता चला।

गुर्जर ग्रन्थरत्न कार्यालय वाले कान्तिराल गोविंदजी व सुनंदाबेन वोहोरा के सूचन से यह लिखना हुआ। अतः इन दोनों का स्मरण स्वाभाविक है।

आशा है, पाठक-गण दान-विषय में रुचिवाले बन कर प्रीतम बहन के परिश्रम को सार्थक बनायेंगे। लेखिका को पुनः पुनः अभिनंदन और उनको तैयार करने वाले सुनंदा बहन को भी।

जामनगर

पाठशाला उपाश्रय

वि.सं. २०६८

श्री आदिनाथ-जन्म-दीक्षाकल्याणक-दिन

दि० १५-३-२०१२, गुरुवार

— पं. मुक्तिचन्द्रविजय

— पं. मुनिचन्द्रविजय

हैं नमः

दानः सनातन संस्कृति

अखिल विश्वमें अहिंसा की आलबेल
 पुकारकर विश्वशांति का राह
 बतानेवाला जिनशासन तब ही
 साकार हुआ जब तीर्थकर भगवंतोने
 अपने पवित्रमुखकमलसे
 देशना का दान जगज्जनता को
 दीया !

इसी अहिंसा के संदेश को
 अपनी समग्र जीवनचर्यामें ग्रथित
 करके विश्वसंन्यासीसमाजमें अपना
 अनूठा और अजोड़ गौरव
 प्रस्थापित करनेवाले जैनसाधुओं की
 गरिमा का प्रासाद भी अभयदान के
 स्तम्भ पर खड़ा है ।

सम्राट संप्रति हो कि

सम्राट कुमारपाल !

मंत्रीश्वर वस्तुपाल हो कि

मंत्रीश्वर विमल !

सभीने अपूर्व स्थापत्योंके सृजन से

विश्वभरमें जो जैनशासनकी
 प्रभावना की है और युग-युगांतर
 तक अपनी यश-कीर्ति को व्याप्त
 की है इनके मूलमें है
 संपत्तिदान !

यह तो

लोकोत्तरक्षेत्रकी बात हुई !

कुछ अपने आसपास के जगत को भी

दृष्टिगोचर बनाइए साफसाफ पता चल

जायेगा कि श्रुतदान, माहितीदान, अभयदान, धनदान,

जैसे दानों यदि न होवे तो

इस जगत की कल्पना ही

गगनकुसुमवत अशक्य है !

लेकिन, दान तो वस्तुतः

वही है जो मोक्षप्राप्ति का अमोघ

उपाय हो । शास्त्रकार उन्हीं दानों की

प्रशंसा करते आए हैं !

इसीलिए कहा जाता है कि

खानदान वही है जो भ्रष्टाचारादि रूप से खाता न हो, मगर

दान करता हो । खानदान को खाने में भोगोपभोग में

तादृशरुचि नहीं होती है ! यादृशरुचि

सुपात्रदान, अनुकंपादान, अभयदान, वात्सल्यदान

में होती है ।

क्या है ऐसे दान का स्वरूप जो

खुराण्ट व्यक्ति का भी खानदान में

परावर्तन करता है ?

क्या है उनके भेद-प्रभेद ?

क्या है शास्त्रकारों की दृष्टि में दान ?

क्या है दान देने के लिए पात्र का स्वरूप ?

ऐसी कई जिज्ञासाएं जिज्ञासुमुमुक्षु को होना
सम्भवित है ।

इन सभी का विस्तृत समाधान

विभिन्न आयामों में

विद्याव्यासंगी प्रीतमबेन एस. सिंघवी की

ओर से प्रस्तुत पुस्तक में प्रस्तुत

हो रहा है !

समयाभावसे पुस्तक तो

मैं पूरा देख नहीं पाया हूँ

मगर आशा अवश्य है कि

जिज्ञासु इस पुस्तक से

अपनी जिज्ञासा को अवश्य

उपशान्त कर सकेंगे ।

प्रान्ते,

दान की यह प्रस्तुति जो कि दानकी स्तुतिरूप ही है

वह, सभी भव्यजीवों के भीतर

करुणा की खुशबु को प्रसारित करें यही

शुभकामना के साथ

फरवगुन शुक्ला पंचमी

२७-२-२०१२

सोमवार

सामखीयाली

कच्छ

लि.

आचार्य विजयभुवनभानुसूरीश्वर

प्रशिष्य पंन्यास यशोविजय

दान : अमृतमयी परंपरानुं वर्णन करतुं पुस्तक...

जमणो हाथ दान आपे तो डाबाने खबर पडवी न जोईअे एम कहेवाय छे. अेम शा माटे कहेवायुं हशे ? दान जेटलुं गुप्त अेटलुं वधु सारुं. परंतु समाजमां तो आपणे अेथी अवळुं जोईअे छीअे. मुठ्ठीभर दान आपीने जंदगीभर प्रतिष्ठ मेळववाना प्रयासो करतां पण कोई जोवा मळे छे.

खरेखर दाननुं शुं महत्त्व छे ? केटला प्रकारना दान छे ? दान क्यारे निष्कळ जाय छे ? भावदाननुं स्वरूप शुं छे ? आवा-आवा अनेक विषयो उपर सरळ भाषामां खूब ज तलस्पर्शी चर्चा प्रीतमबेन संघवीअे करी छे. मात्र अनुक्रमणिका जोईअे तो पण ख्याल आवशे के नव प्रकरणमां वहेंचायेलुं आ पुस्तक दान विशे एक नवी ज दृष्टि आपे तेवुं छे. डॉ. हरिवल्लभ भायाणी साहेब पासे पीएच.डी. थयेला प्रीतमबेन संघवीअे तेमनुं संशोधननुं काम सतत चालु राख्युं छे अने जैन धर्मना घणा ग्रंथों तेमणे आप्या छे. प्रीतमबेन पोते अत्यंत सरळ व्यक्तित्व छे. श्रद्धावान छे. सरळता अने श्रद्धा धर्मना गहन रहस्यने तागवा माटे / पामवा माटे अनिवार्य छे. गुरुकृपाअे तेमने आ सुलभ बन्युं छे तेनो आनंद छे.

मंदिरमां जइने आपणे घंट शा माटे वगाडीअे छीअे ? चंदनना चांदलानुं शुं महत्त्व छे ? गर्भगृहनुं शुं महत्त्व छे ? शा माटे दीवो प्रगटावामां आवे छे ? प्रत्येक झीणामां झीणी विधिनुं एक विराट विज्ञान छे. आ रहस्योना जाणकार ओछा थता जाय छे. त्यारे धर्मना रहस्योनी आ परंपराने

साहित्य द्वारा साचववी अनिवार्य बनी जाय छे. 'दान : अमृतमयी परंपरा' दान विशेषी शास्त्रीय चर्चा करतो ग्रंथ छे. हजु तेमां घणा रहस्योनी वात करी शकाय परंतु ए दरेकने माटे नथी. ए गुरुगम छे. आपणे सौ एकबीजानी साथे ऋणानुबंधथी ज जोडायेला छीअे. धर्मना रस्ते प्रत्येक पगलुं अनेक जन्मो अने अनेक कर्मोनुं रहस्य खोलतुं होय छे. समर्थ गुरुनी कृपाथी अे बंधुं शक्य बने छे.

तमारुं एक नानकहुं दान कोईना जीवन माटे केटलुं उपयोगी होय छे अे तमे जाणता नथी होता. प्रारब्ध कर्मने, कर्मना बंधनोने अने दानने केवो गूढ संबंध छे अे गुरुकृपाअे जाणी शकाय छे. क्यारेक मात्र अहंकारनी पुष्टी माटे करेलुं दान भविष्य माटे केटलुं जोखमी बनी जाय छे तेनो आपणने ख्याल नथी होतो. घणीवार आपणे दान करता रहीअे छीअे अने आपणने खबर पण नथी होती के दान मूळमांथी निष्फळ जई रह्युं होय छे. दानना आवा न कल्पेला विज्ञाननी चर्चा धर्मनी दृष्टिअे पूरी निष्ठाथी प्रीतमबेने करी छे. मारी दृष्टिअे दान विशेषेनुं आ प्रकारनुं आ पहेलुं पुस्तक छे.

'दान : अमृतमयी परंपरा' पुस्तकने हुं आवकारता प्रसन्नता अनुभवुं छुं अने आशा राखुं छुं के सौ तेने हृदयथी वधावी लेशे. प्रीतमबेनने पण आ क्षणे हार्दिक शुभेच्छाओ अने हार्दिक अभिनंदन.....

राजेश व्यास 'मिस्कीन'

ॐ अर्हम नमः

दानधर्मनी उच्च गरिमा अने लेखिकांनुं अभिवादन

प्रितमबहेननो मारी साथेनो परिचय लगभग बे वर्षनो छे, छतां तेमना सरळता अने विवेक जेवा गुणोथी तेओ पुराणा सत्संगी मित्र होय तेवुं अनुभवुं छुं. यद्यपि तेओअे तो आध्यात्मिक साधना माटे मने शोधी लीधी छे अने तेवाज अर्पण भावथी संपर्कमां रहे छे. स्वयं लेखिका छे. पीएच.डी.नी डिग्री धरावे छे तेनी तो मने पछीथी खबर पडी कारण के तेओ मारी पासे नव तत्त्व, तत्त्वार्थसूत्र, ज्ञानसार जेवा विषयोनो अभ्यास करता त्यारे बाळसहज विद्यार्थीनी जेम भणवा बेसता, त्यारे मने जरा पण ख्याल आव्यो न हतो के तेओ लेखिका अने अभ्यासी छे.

तेमनी साथेना वार्तालापथी जाणवा मळ्युं के तेमने आत्मसाधक, अध्यात्म अनुभव विदूषी स्व. साध्वी महाराजश्री पद्मलताजीनी निश्रामां आत्मबोधनो पाठ मळेलो छे. तेओ तेमनी गुरुभक्तिथी रंगायेला छे, ते उपरांत अन्य पू. आचार्य श्री शीलचंद्राचार्य, पं. श्री मुनिचंद्रजी, पं. श्री मुक्तिचंद्रजी, पं. श्री यशोविजयजी भगवंतोना पण तेओ सेवा भावे परिचयमां छे. आ लेखनमां आ मुनिराजोनी प्रेरणा मळी छे. तेने कारणे तेमनामां तत्त्व जिज्ञासानी विवेकपूर्ण भावनाना दर्शन थाय छे. मारा पर तेमनो प्रभाव तेमनी आ जिज्ञासाना कारणे प्रथमथी ज पहेली बेठके पडेलो अने ते सहज भावे विकसतो रह्यो.

रोजनी जीवनचर्यामां धर्म अनुष्ठानोनी तेमनी रूचि सारी छे. गृहस्थ धर्म साथे आत्मश्रेय साधवुं ते तेमनो हार्दिक आदर्श छे. तेमां उपर जणाव्युं तेवा साधु भगवंतोनी कृपा मेळवता रहे छे. साधु भगवंतोना परिचयथी तेमनामां विवेकनो योग्य मेळ छे. आ तेमनी प्रशंसा माटे नथी लखती पण तेमना प्रत्ये मारी हार्दिक

अनुमोदना छे. आपणे ज्यांथी उत्तम वस्तु शीखवा मळे त्यांथी शीखवानी छे. जीवन उदात्त बनाववा आ मानव जन्म मळ्यो छे ! पूर्णता पामता सुधी सौंअे गुण विकासनी केडीअे चाल्या ज करवानुं छे. गुण ग्रहण करवाना छे.

दानधर्म पर तेमना हस्ते सुंदर लेखन थयुं छे. तेमां जैन जैनतरना विविध शास्त्रोनो आधार लई तेमणे घणो श्रम उठाव्यो छे. केवळ दानधर्मने विविध पासाओथी एकज पुस्तकमां संकलन थयुं छे ते अजोड छे. दानधर्म विषे घणा विद्वानोना, साधुजनोना लखाण उपलब्ध छे. छतां अेक पुस्तककारे आ विरल संकलन थयुं छे तेम मने जणाय छे. आ तेमनी प्रशंसा मांटे जणावती नथी पण लेखनने पूरेपुरुं वांचीने मारी भावना व्यक्त करुं छुं.

दानधर्मना अनेक विकल्पो होई शके. लेखिकाना शब्दोमां जोईअे : दान कभी भी निष्फल नहीं जाता । देखो, सुपात्र को दान देने से वह धर्म का कारण बनता है । दीन-दुःखी या अनुकम्पा योग्य पात्रों को देने से वह दाता की दया की प्रशंसा करता है । मित्र को देने से परस्पर प्रेम बढ़ाता है और शत्रु को दान देने से वैर भाव नष्ट करने में समर्थ है । भृत्य (सेवक) को दान देने से उसके दिल में भक्ति का प्रवाह पैदा करता है । राजा को भेट देने से सम्मान दिलाता है । चारण भाट आदि को देने से वह कीर्ति फैलाता है ।

कोई वार अेवुं बनतुं होय छे के तप विषे सुंदर व्यक्तव्य रजु करनार, वळी श्रोताने रात्रिभोजन त्यागना भाव सुधी खेंची जाय पण पोते तेम करी शकता न होय. तत्त्व जेवा विषयने हृदयप्रेरक शैलीमां रजुआत करे पण तेनुं अनुभवज्ञान न होय. परंतु दान विषे पुस्तक लखनार आ प्रितमबहेने ते बाबतमां लेखनने साकार अने सार्थक कर्युं छे.

दान विषे पुस्तक लखवा साथे तेमना हाथे तेओ निरंतर दान कार्य करता रह्या छे. अेटले ज कदाच तेमना वरद हस्ते आ लेखन थयुं छे, तेम लगभग छेल्त्र बे वर्षमां तेओ निरांतनी पळोमां मारी साथे वार्तालाप करता त्यारे मने जाणवा मळतुं के आ मैहिने तेमणे जीवदयानो लाभ लीधो वळी बीजे महिने जाणवा मले के साधु जनोंना वैयावच्चनो लाभ लीधो वळी शत्रुंजय तीर्थ पर प्रतिष्ठा जेवा विविध कार्योनो लाभ लीधो छे. जरुरियात मंद वाळा प्रत्ये तो तेमनुं हृदय अत्यंत कोमळ थई जतुं अने तेमना हाथ वडे सहज सहाय थई जती. वळी

आ दान कार्यनो क्याय देखाव नहि. कह्युं छे “जमणो हाथ आपे, डाबो हाथ न जाणे” तेवुं तेमणे सार्थक कर्युं छे.

दान धर्मना पुस्तकमां जेम विविधता छे विशदता छे तेम तेमना दानधर्म करवामां विविधता अने विशदता रही छे. वाचकवर्गने थशे हुं तेमनी प्रशंसा करुं छुं, पण तेवुं नथी आ साची हकीकत जणावुं छुं. कारण के तेमनी आ विगत जाण्या पछी हुं लखवा प्रेराई छुं. आ कार्यमां तेमना पति तथा परिवारनो पूरो साथ छे तेवो पुण्ययोग छे.

सविशेष तेमना आवा उदात्त कार्यमां तेमना पतिश्री सज्जनसिंहनी प्रेरणा प्रशंसनीय छे. बे हाथे ताळी पड़े तेनो रणको जुदो होय. तेवो तेमना जीवनमां सुमेळ छे ते उदाहरणरूप छे. तेमना पति सहित परिवार पण पुण्यवंतो छे तेथी तेओना सहयोगथी तत्त्वनो अभ्यास करवामां समयनो खूब सदुपयोग करी रह्या छे. दान जेवुं सत्कार्य करवामां अने लखवामां उदत्तभावे करी शक्या छे.

वळी पोते स्वयं तो सत्कार्य करे पण तेओ तेमां मने पण सत्कार्य कराववामां साथे राखे छे. त्यारे तेमनो आनंद वृद्धि पामे छे. आ तेमनी प्रशंसा नथी पण ते माटे तेमने हार्दिक अभिनंदन आपुं छुं.

दान धर्मना पुस्तकमांथी केटलाक नोंधपात्र लेखनने समजवा आपणे प्रयत्न करीअे.

“दान विषे प्रथम भागमां जणाव्युं छे के भगवान महावीरे दान विषेनो महिमा बताव्यो छे के “मूधादायी अने मूधाजीवी”, अर्थात् जेमां दातानुं तथा ग्रहण करनार बनेनुं कल्याण होय. जो के तेवा उत्तम दानमां मुख्यत्वे तिर्थकरनुं वरसीदान छे. वळी श्रेष्ठ प्रसंगे राजाओ ज्यारे तेमना दासदासीओने भेट आपता त्यारे तेमनुं दारिद्र जीवनपर्यंत दूर थाय ते रीते आपता हाता. वस्तुपाळ, तेजपाळ, भामाशाह विगेरे उत्तम दानवीरो आ शासनमां थया छे.

धन कमावुं मुश्केल नथी वळी ते तो पुण्यथी वगर आमंत्रणे आवे छे, पण तेनो दानादिथी सदुपयोग कोई पुण्यशाळी निःस्पृहभावे करी शके छे.”

लेखिकाअे दाननी विविधता सुंदर रीते दर्शावी छे :

आहारदान, ज्ञानदान, अभयदान, अनुकंपादान, जीवनदान, औषधदान.

आ सर्व प्रकारना दानना विषयने सचोटपणे दर्शावा तेमणे कोई संप्रदायनी पद्धति न लेता बधा ज दर्शनकारोना शास्त्रोना विधानोना उदार चित्ते उपयोग कर्यो छे. तेथी दानधर्मनी विशदता अने महत्ता सात्त्विक अने तात्त्विक वाचकवर्गने माटे अत्यंत उपयोगी छे.

कथंचित दानधर्म विषे क्यांय मतभेद होय तो पण तेनी गौणता छे. कारण दान केवळ धनना ज माध्यम पूरतुं मर्यादित नथी. पण दरेक पोतानी शक्तिनो यथायोग्य उपयोग करी शके तेवी विविधता ज्ञानीओअे जणावी छे.

शास्त्रोक्त प्रमाणे दान अंतःस्थल सुधी काम करे छे ते तेमना ज शब्दोमां जोईअे.

“जैन मनीषियों ने प्रायः ‘दान’ के स्थान पर ‘संविभाग’ शब्द का जो प्रयोग किया है, वह बड़ी सूझ-बुझ के साथ किया है। दान में समत्वभाव, समता और निष्पृहता की अन्तर्धारा बहती रहे यह आचार्यों का अभिष्ट रहा है जो संसार के अन्य चिन्तकों से कुछ विशिष्टता रखता है। देना ‘दान’ है, किन्तु दान ‘व्रत’ या ‘धर्म’ तब बनता है जब देने वाले का हृदय निःस्पृह, फलाशा से रहित और अहंकारशून्य होकर ‘लेने वाले के प्रति आदर, श्रद्धा और सद्भाव से परिपूर्ण हो। सद्भाव तथा फलाशा-मुक्त दान को ही ‘अतिथिसंविभागव्रत’ कहा गया है।”

यद्यपि अेवुं बने के दान करनारने माननी स्पृहा होय, अथवा अहंकारयुक्त होय अने दान ग्रहण करनारने मस्तक नमावी दान लेवुं पडे. तो पण छती शक्तिअे दान न आपनार केवळ भोग विलासमां धननो उपयोग करवा करतां, अपेक्षा ते दान पण लेनारने माटे उपकारी छे. आपनारने त्यागनो लाभ छे.

वळी दानधर्मनी विशिष्टताओ दर्शावा तथा वाचकवर्गने ते रसप्रद बने ते माटे तेमणे विविध दृष्टांतो आप्या छे जेथी वाचकवर्गने पण दान करवाना भाव थाय तेवुं जणाय छे. ते दृष्टांतो शास्त्रोक्त, प्राचीन अने अर्वाचीन स्वदेश, परदेश अेम विविध प्रकारे दर्शाव्या छे ते मननीय छे.

जैनदर्शनमां श्रावकधर्मनी विशेषता बताववा माटे दान, शील, तप अने भाव चार धर्मनी प्रणालिमां दानधर्म प्रथम छे. जेनी पासे परिग्रहनी सांसारिक

પ્રવૃત્તિઓ છે તેને દાનધર્મ વઢે ધનની મૂર્છા ઘટે છે, ત્યારે તેની ધર્મનિષ્ઠા પળ વૃદ્ધિ પામે છે. તેવા પાત્રજીવો સુપાત્ર જેવા દાનથી પરંપરાએ મુક્તિને પામે છે.

લેખિકાએ એક અભિગમ સુંદર રીતે પ્રકાશિત કર્યો છે કે વિશ્વમાં કુદરત પળ માનવને એ શીખવે છે કેવલ્લ લેવાનું ન રાખો પળ આપવાનું રાખો. પૃથ્વી, પાણી, વાયુ, આકાશ, વનસ્પતિ જેવા એકેન્દ્રિય જેવા પ્રાણીમાત્રને જીવનશક્તિ આપી રહ્યા છે. તો પછી માનવે શા માટે કૃપણ થવું. વઢી માનવ કેવલ્લ ધનથી જ દાન કરી શકે તેવું નથી તેની પાસે બીજી પળ શક્તિઓ છે, જેનું તે પ્રદાન કરી શકે. તે દ્વારા આ જગતનું ઋણ ચૂકવી શકે છે. માનવ માટે ઋણમુક્તિનો એ મહાન અવસર અને અભિગમ છે.

સંસ્કૃત મહાકાવ્યોમાંથી પળ લેખિકાએ દાનનો મહિમા ઉદ્ધત કર્યો છે. જે લગભગ સામાન્ય રીતે બહુ પ્રચલિત નથી. તેને પ્રકાશમાં લાવ્યા છે. તે ઉપરાંત નિતી કથાઓ, ભાગવત પુરાણ ગ્રંથોમાંથી પળ આપણને દાનનો પરિચય કરાવ્યો છે. આવા અનેક ગ્રંથોનો આધાર લઈને દાનની ગરિમા, શુદ્ધિ, વિધિ જેવા પ્રકારો દર્શાવી દાનધર્મનું ગૌરવ પ્રસ્તૂત કર્યું છે.

છતાં આ સર્વે દાનમાં અભયદાન શા માટે શ્રેષ્ઠ છે તે દર્શાવતા જણાવે છે કે અણુયુદ્ધ જેવા આ સમયમાં હરેક રાષ્ટ્રમાં પશુતા દૂર કરવા અભયદાનનો બોધ અત્યંત જરૂરી છે. અણુ બૉમ જેવા સ્પ્નેટક પદાર્થોએ કેવી તરાજી સર્જી છે તે આપણે સૌ જાણીએ છીએ. પાંચ દસ પેઢી સુધી અમાનવીય રીતે કરેલા આ પ્રયોગથી જીવો દુઃખ સહન કરશે. તેવા કાળે અભયદાનનો પ્રસાર અત્યંત જરૂરી છે.

દાનના વિવિધ પ્રકારો દર્શાવવા સાથે લેખિકાએ દાતાની યોગ્યતા વિષે પળ કેટલાક વિકલ્પો રજૂ કર્યા છે. જીવમાત્ર ભાવના સ્વરૂપ છે. તેથી ભાવશુદ્ધિની અસર અન્યોન્ય થાય છે. દાન આપનારના ભાવની કેવી અસરો થાય છે તે વિગત સચોટ દૃષ્ટાંતથી જણાવી છે : તે વાંચીને સમજાય છેકે દાન આપવા સાથે માનવના મનની ભાવના ઉદાત્ત અને શુદ્ધ હોવી જોઈએ. જે અન્યોન્ય ઉપકારી બને છે.

જેમ ઉત્તમ સ્થાનોમાં આપેલું દાન ઉત્તમ પ્રકારે ફલદાયી થાય છે, તેમ ઉત્તમ ભાવના વઢે આપેલું દાન ગ્રહણ કરનારને પળ લાભદાયી થાય છે. દાતા ગુણવાન હોય તો સ્વ-પર શ્રેય થાય છે તેના ઉદાહરણ તેમણે ટાંક્યા છે. જો દાન આપનારનો ભાવ લેનાર પ્રત્યે તિરસ્કાર યુક્ત હશે તો લેનારને પળ તે દાનથી

सद्बुद्धि नहि आवे. संभवं छे के ते दाननो दुरउपयोग करी ले, अेटले दातानी योग्यता माटे अहीं ठीक अेवी विगतो दर्शावी छे.

भारतमां प्रचलित छ दर्शनोना माध्यमथी दाननी विशदता जणावी छे तेथी जणाय छे लेखिकाअे दानधर्म विषयने पूरतो न्याय आपवा प्रयत्न कर्यो छे. वर्तमानमां जैन दर्शननी दाननी विशिष्टता दर्शावता जणावे छे के -

जैन समाज में भामाशाह के नाम से पहचाने जाने वाले दानेश्वरी श्री दीपचन्द्रभाई गार्डी का जीवन प्रसंग जब मैंने पहलीबार पढ़ा था तो आश्चर्य चकित हो गई कि वर्तमान में भी ऐसे दानवीरों की कमी नहीं है। ९७ वर्ष की उम्र में भी १७ से १८ घंटे काम करते देखकर एक मिलने आए हुए महानुभाव ने पूछ ही लिया कि आपका स्वास्थ्य इतना अच्छा है उसका रहस्य क्या है ? गार्डीसाहब ने जवाब दिया — “मैं लोगों की सेवा करता हूँ उसका यह परिणाम है।” विशेष में उन्होंने कहा कि “जीवदया का पालन करने से, निःस्वार्थ भाव से तथा किसी प्रकार की अपेक्षा या बदले की भावना के बिना सत्कार्य करने वाले को भगवान लम्बी आयु देता है।”

इनके दान का क्षेत्र इतना व्यापक और विस्तृत है कि उनका वर्णन करना कठिन है। शिक्षा के क्षेत्र में, स्वास्थ्य के क्षेत्र में काफी योगदान है। आठ राज्यों में ५०० से भी ज्यादा सस्थाएँ हैं जिस में लाखों कर्मचारी कार्य करते हैं।

प्रस्तुत पुस्तकना पूरा लेखने जेतां अेवुं लागे छे, लेखिकाने ते समये ज्यां ज्यां नजर पडे के विचार वहे त्यारे दान, दान, दाननो ज प्रभाव घेरी लेतो हशे. अेटले ज कदाच वर्षोथी तेमणे स्वयं दाननुं वहेण स्वीकार कर्युं छे. अर्थात् तेमना तन, मन, धन दानधर्ममां ओत-प्रोत हता. पुस्तक प्रकाशन अे सत्कार्य गणीअे तो तेमना अंतरभावने आपणे दानथी परंपराअे थती निर्जरा गणीअे तो तेमां अतिशयोक्ति नथी. आथी आपणे सौ तेमना पुस्तकरूपी छाबने वधावीअे. दानधर्मनी वास्तविक प्रेरणा पामीअे. अेवो अवसर मळे तेवी भावना करीअे. लेखिका देवगुरुकृपामतना पूर्ण रीते पात्र थाय. तेमना परिवारने पण प्रेरणा मळे. सौने आवा कार्य करवानो अवसर मळे तेवी प्रभु प्रत्ये प्रार्थना करी विरमुं छुं.

दान गुण की अनुप्रेक्षा

भारतीय धर्मदर्शन और संस्कृति में दान को अत्यधिक महत्त्व दिया गया है। यह मानव जाति का आधारभूत तत्त्व है। मानव का ही नहीं पशु-पक्षियों का भी वह जीवन तत्त्व है। दान के बिना उनकी जीवन गति ही अवरुद्ध हो जाती है। इसीलिए मनुष्यों के लिए 'दान' का उपदेश सर्व प्रथम उपदेश माना गया है। 'दान' मनुष्य के सह-अस्तित्व, सामाजिकता और अन्तर्मानवीय सम्बन्धों का मूल घटक है। कहीं पर वह 'संविभाग', कहीं 'समविभाग', कहीं 'त्याग' और कहीं 'सेवा' के रूप में प्रकट होता है। 'दान' इसलिए नहीं दिया जाता कि इससे व्यक्ति बड़ा बनता है, या प्रतिष्ठा पाता है या उसके अहंकार की तृप्ति होती है अथवा परलोक में स्वर्ग तथा समृद्धि मिलती है। किन्तु 'दान' में आत्मा की करुणा, संवेदना, स्नेह, सेवा, बंधुत्व जैसी पवित्र भावनाएँ लहराती हैं। दान से मनुष्य की मनुष्यता तृप्त होती है। देवत्व की जागृति होती है और ईश्वरीय आनन्द की अनुभूति जगती है। केलविन कूलिज ने भी कहा है -

"No person was ever honoured for what he received honour has been the reward for what he gave."

प्रागैतिहासिक काल से लेकर आज तक चक्रवर्ती भरत, दुष्यन्त, हरिश्चन्द्र, पुरुरवा, एल, नल, नघुष, राम, कर्ण, युधिष्ठिर आदि अनेक श्लाघनीय दानी हुए हैं, परन्तु वे सब के सब दानी के दान द्वारा प्राप्त कीर्ति से ही अमर हुए। इसलिए उनके दान ने उन्हें इतना गौरव दिलाया कि वे जनता के हृदय में चिरस्थायी हो गए।

यह कहना कि 'दान' का महत्त्व भारतवर्ष में ही अधिक है, गलत

होगा। संसार के प्रत्येक धर्म, सम्प्रदाय अथवा धार्मिक आस्था के उपरांत समाज में भी दान की परंपरा रही है और इसकी आवश्यकता तथा उपयोगिता मानी जाती है। पर कुछ देश में यह भावना जन्मजात पाई जाती है, जैसे कि भारत में। वहाँ यह भावना एक संस्कार के रूप में प्रकट होती है। चूँकि भारतीय मनीषा प्रारम्भ से ही चिन्तनशील व वैज्ञानिक रही है, अतः वह किसी भी वस्तु को धर्म मानकर उसका अन्धानुकरण नहीं करती, अपितु उस पर दार्शनिक और तार्किक दृष्टि से भी विचार करती है। उसके स्वरूप, प्रक्रिया विधि, देशकालानुसार उपयोगिता, गुण-दोष आदि समस्त पहलुओं पर चिन्तन कर धर्म-अधर्म का निर्णय करने में भारतीय चिंतक विश्व में सदा अग्रणी रहे हैं। 'दान' जैसे जीवन और जगत से अटूट सम्बन्ध रखने वाले विषय पर भी भारतीय विचारकों ने और खासकर जैन मनीषियों ने व्यापक चिन्तन किया है, तर्क-वितर्क कर उसमें गुत्थियाँ पैदा भी की हैं और उन्हें सुलझाई भी है।

'दान' दो अक्षरों का बहुत ही महत्वपूर्ण शब्द है जो हृदय को विराट बनाता है और जीवन को निर्मल बनाता है। दान एक प्रशस्त धर्म है तथा धर्म का प्रवेशद्वार है। बिना दान दिये धर्म में प्रवेश नहीं हो सकता। दान से आत्मा का अन्धकार नष्ट होता है। अन्तर के अन्धकार को नष्ट करने के लिए दान सूर्य के समान है। कलियुग में दान से बढ़कर धर्म नहीं है। लेकिन दान धर्म तभी बन सकता है जब वह हृदय के भावों से ओतप्रोत होता है।

एक पाश्चात्य विचारक ने लिखा है

"They who scatter with one hand, gather with two; Nothing multiplies so much as kindness."

जो एक हाथ से बाँटता है वह दोनों हाथों से प्राप्त कर लेता है, दया-दान की तरह वृद्धि पाने वाली अन्य वस्तु नहीं है जिसका गुणाकार होता हो। एक अन्य विचारक ने भी कहा है -

"The hand that gives, gathers."

जो अपने हाथ से दान देता है वह इकट्ठा करता है।

दान सम्पूर्ण मानवजाति का आधारभूत तत्त्व है। स्वामी रामतीर्थ

ने कहा - दान देना ही आमदनी का एकमात्र द्वार है। पाश्चात्य चिन्तक विक्टर ह्यूगो ने लिखा है - ज्यों - ज्यों धन की थैली दान में खाली होती है दिल भरता जाता है।

“As the purse is emptied the heart is filled.” अतः “Give without a thought.”

प्रार्थना मन्दिर में जाकर प्रार्थना के लिए सौ बार हाथ जोड़ना उत्तम भावना है परन्तु एक बार दान के लिए हाथ ऊपर उठाना उससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण है।

तत्त्वार्थसूत्र में वाचकवर्य श्री उमास्वाति जी ने लिखा है-

‘अनुग्रहार्थं स्वस्यातिसर्गो दानम्’

अनुग्रह का अर्थ है अपनी आत्मा के अनुसार होने वाला उपकार का लाभ। अपनी आत्मा को लाभ हो इस भाव से किया गया कोई कार्य यदि दूसरे के लाभ में निमित्त हो तब यह कहा जाता है कि पर का उपकार हुआ। वास्तव में अनुग्रह स्व-का है, पर तो निमित्त मात्र है। अर्थात् स्व के अनुग्रह के लिए जो त्याग किया जाता है वह दान है। देकर भूल जाना यह भी दान की विशिष्ट पद्धति है।

प्रत्येक मनुष्य का यह अनुभव है कि देने में उसको आनंद प्राप्त होता है, चाहे वह धन के रूप में दे या मदद के रूप में या सहानुभूति के रूप में हो। इसी भावना को ग्रीक्स The love of Fellow men कहते हैं।

वास्तव में दान देने वाले का हृदय इतना उदार और नम्र हो जाता है कि उसमें क्षमा, दया, सहनशीलता, संतोष आदि दिव्य गुण स्वतः ही प्रकट हो जाते हैं। मनुष्यों के लिए वेदों में ‘अमृतस्य पुत्राः’ कहा गया है। भगवान महावीर और श्रमणों ने ऐसे दिव्य गुणशाली गृहस्थ के लिए ‘देवानुप्रिय’ (देवों का प्यारा) शब्द का प्रयोग किया है। इसका अर्थ यही है कि दान देने से व्यक्ति में उदारता आदि दिव्य गुण स्वतः होते जाते हैं।

जैन दर्शन के तीर्थंकर दाक्षा से पूर्व वर्षादान करते हैं। ऋषभदेव से लेकर महावीर पर्यन्त सभी तीर्थंकरों ने दान दिया था। उनका तर्क यह

था कि दान की क्रिया ममता और परिग्रह को कम करती है। ममता और परिग्रह का अभाव ही तो धर्म है।

इसीलिए नीतिकार कहते हैं कि "किसी विशिष्ट कार्य के लिए जिसे धन तू देगा या जिसका उपभोग प्रतिदिन करेगा, उसे ही मैं तुम्हारा धन मानता हूँ। फिर बाकी का धन किसके लिए रखकर जाते हो।"

वैदिक धर्म के व्यवहार पक्ष का प्रतिपादन करने वाले मनुस्मृति आदि ग्रन्थों में गृहस्थ के लिए प्रतिदिन दान की परम्परा चालू रखने हेतु 'पंचवैवस्वदेवयज्ञ' का विधान है। अर्थात् गृहस्थ के द्वारा होने वाले आरम्भजनित दोषों को कम करने के लिए भोजन तैयार होते ही सर्वप्रथम गाय, कुत्ता, कौआ, अग्नि एवं अतिथि इन पाँचों के लिए ग्रास निकाला जाये। शील, तप या भाव का विधान वहाँ सभी गृहस्थों के लिए नहीं किया गया है। इस दृष्टि से भी दान को प्रथम स्थान दिया गया हो तो कोई आश्चर्य नहीं। इसीलिए परमात्मप्रकाश में स्पष्ट कहा है - "गृहस्थों के लिए आहारदान आदि परम धर्म है।"

अपने-अपने युग में वैदिक, जैन और बौद्ध आचार्यों ने लोक-कल्याण के लिए, लोक मंगल के लिए और जीवन उत्थान के लिए बहुत से सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया था। उनमें दान भी एक मुख्य सिद्धान्त रहा है। प्रत्येक परम्परा ने दान के विषय में अपने देश और काल के अनुसार दान की मीमांसा की है, विचार किया है और दान पर अपनी मान्यताओं का विश्लेषण भी किया है। दान की परिभाषा और दान की व्याख्या सब की एक जैसी न भी हो, परन्तु दान को भारत की समस्त परम्पराओं ने सहर्ष स्वीकार किया है, उसकी महिमा की है।

दान के सम्बन्ध में महावीर ने 'स्थानांगसूत्र' में कहा है - "मेघ चार प्रकार के होते हैं-एक गर्जना करता है, पर वर्षा नहीं करता। दूसरा वर्षा करता है पर गर्जना नहीं करता। तीसरा गर्जना भी करता है और वर्षा भी करता है। चौथा न गर्जना करता है और न वर्षा करता है। मेघ के समान मनुष्य भी चार प्रकार के हैं - कुछ बोलते हैं देते नहीं। कुछ देते हैं, किन्तु बोलते नहीं। कुछ बोलते भी हैं और देते भी हैं। कुछ न बोलते हैं न देते ही हैं।"

महावीर के इस कथन से दान की महिमा एवं गरिमा स्पष्ट हो जाती

है। जैन परम्परा में धर्म के चार अंग स्वीकार किये हैं - दान, शील, तप एवं भाव।

दान = परपीडा का परिहार करने वाला है।

शील = इन्द्रियों का निरोध करने वाला है।

तप = इच्छाओं का निरोध करता है।

भाव = सभी जीवों के प्रति स्नेहरूप है।

इनमें दान ही मुख्य एवं प्रथम है। क्योंकि गृहस्थों के लिए तप करना सरल नहीं होता। विषयासक्तों के द्वारा शील पालन भी नहीं होता और आरम्भयुक्त लोगों के हृदय में शुभभाव पैदा होना भी कठिन है, क्योंकि भाव सदा मन-मस्तिष्क के स्वाधीन होने पर ही उत्पन्न होता है। व्यापार आदि की चिन्ता में उलझे हुए मन मस्तिष्क में उत्तम भाव कहाँ से उत्पन्न हो सकते हैं? उपर्युक्त चतुर्विध मार्ग में से दान ही एक ऐसा मार्ग है जो आसान और सर्वजन सुलभ है।

मानव की यह दानवृत्ति बढ़ते बढ़ते जब अखण्ड जीवनवृत्ति बन जाती है तब उसमें मनुष्यत्व से ऊपर का देवत्व पैदा हो जाता है। देव का अर्थ है निरन्तर देने वाला।

दान को मनुष्य जीवन का एक श्रेष्ठ गुण कहा गया है। मनुष्य के आचरण से सम्बन्ध रखने वाले गुणों में दान सबसे ऊँचा गुण माना गया है।

मनुष्य ने आज तक अपने पूर्वजों से, ऋषि-मुनियों से, सृष्टि से तथा समाज से जो ज्ञान-विज्ञान पाया है, जो सुसंस्कार, सभ्यता और संस्कृति का धन पाया है तथा सेवा और धन सम्पत्ति तथा विद्या-बुद्धि पाई है, उसे चुकाने का उपाय दान के सिवाय और कौन-सा है ?

अनेक जीवों का ऋण यानी कर्ज ले करके यह जीव जगत में आया है।

उनका ऋण चुकाने के लिए दान ही एक अमोघ साधन है। अर्थात् यों कह सकते हैं कि दान द्वारा कुछ अंशों में ऋण चुकाने का विनम्र प्रयत्न

इसलिए गृहस्थ के चार धर्मों में दान का प्रथम स्थान है। दान से दानी शीलवान बनता है, शीलवान से तपस्वी बनता है। तपश्चर्या से भाव शुद्ध बनता है, तब व्यक्ति में शुद्ध धर्म प्रगट होता है जो मुक्ति को प्रदान करता है।

दान के विषय में इसीलिए लिखने का मन हुआ। तथा जैसे-जैसे इस विषय पर लिखती गई मुझे अपार आनन्द और आत्म-सन्तुष्टि की अनुभूति हुई। इसलिए मुझे विश्वास है कि प्रबुद्ध पाठकों को भी इसे पढ़ते समय आनन्द की अनुभूति होगी।

‘दान : अमृतमयी परंपरा’ विषयक मेरे इस अध्ययन एवं चिंतन को मूर्त्त रूप प्रदान करने में जिन महापुरुषों विचारकों, दार्शनिकों, लेखकों तथा गुरुजनों का प्रत्यक्ष और परोक्ष सहयोग रहा है उन सबके प्रति आभार प्रदर्शित करना मैं अपना पुनीत कर्तव्य समझती हूँ।

प्रस्तुत ग्रन्थ के लिए जिन जिन पुस्तकों को पढ़ा, उनसे संदर्भ लिये और जिनकी प्रेरणा से मुझे में यह दृष्टिकोण आया तथा जिनके साहित्य ने न केवल मेरे चिंतन को दिशा-निर्देश दिया है वरन् जैन ग्रन्थों के अनेक महत्वपूर्ण संदर्भों को बिना प्रयास के मेरे लिए उपलब्ध कराया, उन सभी को मैं आभारी हूँ।

जिनकी दिव्य अनुग्रह धारा सतत मेरे पर बरसती रही है ऐसे वात्सल्यवारिधि गुरुदेव श्री सिद्धिसूरिश्वरजी म.सा. तथा कल्याणकारीणी गुरुवर्या श्री पद्मलताश्रीजी मा.सा. के चरण कमलों में कोटि कोटि वन्दन।

‘त्याग, ग्रंथि का : दान, ग्रन्थ का’ हेडिंग वाले उद्गारवचन लिखकर भेजने की कृपा करने वाले पू. गुरुदेव श्री शीलचन्द्रसूरिश्वरजी म.सा. तथा ‘धर्मस्यादिपदं दानम्’ नामक शीर्षक के रूप में आशीर्वचन लिखकर भेजने की कृपा करने वाले पू. गुरुदेव श्री मुक्तिचन्द्रजी व मुनिचन्द्रजी म.सा. तथा ‘दानःसनातन संस्कृति’ नामक शीर्षक के रूप में प्रस्तावना लिखकर भेजने की कृपा करने वाले पू. गुरुदेव श्री यशोविजयजी म.सा. की मैं अत्यन्त कृतज्ञ हूँ जिन्होंने अनेक कारणों में व्यस्त रहते हुए भी मेरी प्रार्थना पर प्रस्तुत ग्रंथ के लिए ‘आशीर्वचन’ लिखकर भेजा। इसके लिये मैं उन सभी का आभार मानती हूँ उनके चरणों में कोटि कोटि वन्दन।

श्रदेय गुरुवर्य श्री राजेशभाई / मिस्किन साहब की मैं अत्यन्त आभारी हूँ। यह लेखन कार्य काफी समय से बंद पड़ा था। उनकी सतत प्रेरणा और आशीर्वाद से इस कार्य में गति प्राप्त हुई तथा अपने परिष्कृत दृष्टिकोण से आवश्यकतानुसार हर समय मार्ग दर्शन किया। मेरी प्रार्थना स्वीकार करके इस पुस्तक के लिए आशीर्वचन लिख कर दिया। उसके लिए मैं हार्दिक आभारी हूँ।

उन गुरुजनों के प्रति, जिनके व्यक्तिगत स्नेह, प्रोत्साहन एवं मार्गदर्शन ने मुझे इस कार्य में अभूतपूर्व सहयोग दिया है, यहाँ श्रद्धा प्रकट करना भी मेरा अनिवार्य कर्तव्य है। सौहार्द, वात्सल्य एवं संयम की मूर्ति पू. सुनंदाबहेन की मैं अत्यन्त आभारी हूँ। अपने स्वास्थ्य तथा व्यक्तिगत कार्यों की चिन्ता नहीं करते हुए भी उन्होंने प्रस्तुत ग्रंथ को पूरा पढ़ा और यथावसर उसमें सुधार एवं संशोधन के लिए निर्देश भी दिया। जब भी मैं उनके पास आध्यात्मिक अभ्यास करने जाती तब पूछते प्रस्तुत कार्य में प्रगति कितनी हुई। उन्हीं की ऐसी प्रेरणा और प्रोत्साहन से 'दान' पर यह पुस्तक तैयार हो सकी। मैं नहीं समझती हूँ कि केवल शाब्दिक आभार व्यक्त करने मात्र से मैं उनके प्रति अपने दायित्व से उद्गृहण हो सकती हूँ। क्योंकि मुझे तत्त्वज्ञान, कर्मग्रंथ, ज्ञानसार, प्रशमरति जैसे विषय पढ़ा कर मेरी दृष्टि ही बदल दी। तथा मेरे व्यक्तित्व में भी एक खास प्रकार की आध्यात्मिक परिवर्तन की अनुभूति मुझे होने लगी। जब भी उनके सान्निध्य में रहने का मौका मिलता केवल आत्मलक्षी बातें ही होती। यह सब उनकी कृपा का ही परिणाम है कि मुझे आत्मतत्त्व का ज्ञान कराया। उनका मेरे पर कितना उपकार है! मेरी लेखनी में इतना सामर्थ्य नहीं है कि उसका वर्णन कर सके। इसलिए उनके ऋणों का उल्लेखमात्र करती हूँ क्योंकि मेरी इच्छा है कि मैं सदैव उनकी ऋणी बनी रहूँ।

मैं अपने गुरुवर्य स्व पू. श्री भायाणी साहब की तथा मेरे स्व पू. पिताश्री एवं माताश्री की भी आभारी हूँ जिनके आशीर्वचन रूप बीज के प्रस्फुटन का ही यह साकार फल है।

लेखन कार्य की व्यस्तता के अवसर पर मेरे पति और परिवार के सदस्यों का जो समय-समय पर सराहनीय प्रेरणा व सहयोग मिलता रहा उसे शब्दों में वर्णन करना मुश्किल है ।

इस पुस्तक को प्रकाशित करने के लिए पार्श्व इन्टरनेशनल शैक्षणिक और शोधनिष्ठ प्रतिष्ठान (अहमदाबाद) प्रति मैं हार्दिक आभार व्यक्त करती हूँ ।

इस प्रयास में मेरा अपना कुछ भी नहीं है, सभी गुरुजनों का दिया हुआ है । इसमें मैं अपनी मौलिकता का भी क्या दावा करूँ । मैंने तो अनेकानेक आचार्यों, विचारकों एवं लेखकों के शब्द एवं विचार-सुमनों का संचय कर माँ सरस्वती के समर्पण हेतु इस माला का ग्रंथन किया है; जिसे आपके समक्ष प्रस्तुत कर रही हूँ ।

क्रिश्ना ग्राफिक्स, अहमदाबाद को सुन्दर छपाई के लिए धन्यवाद देती हूँ । और पुस्तक की कवर डिजाइन तथा सुंदर फोटोग्राफ्स के लिए किरीट ग्राफिक्स के श्रेणिकभाई को धन्यवाद ।

प्रीतम सिंघवी

विषयानुक्रमणिका

प्रस्तावना : दान गुण की अनुप्रेक्षा

डॉ. प्रीतम सिंघवी

प्रथम अध्याय

विषयप्रवेश

१. दान विचार	१
२. दान और त्याग में फर्क	११
३. दान करने का हेतु	१६
४. दान की मान्यता पर मतभेद	३०

द्वितीय अध्याय

दान का महत्त्व और उद्देश्य

१. मानव-जीवन का लक्ष्य	२४
(i) मानव-जीवन का लक्ष्य मोक्ष-प्राप्ति	२६
(ii) मोक्ष प्राप्ति में गृहस्थ के चार धर्म	२८
(iii) चारों धर्मों में सब से आसान धर्म-दान	२९
(iv) धर्म के चार अंग-दान, शील, तप और भाव	३०
(v) धर्म के चारों अंगों में दान प्रथम क्यों ?	३०
(vi) दान की प्राथमिकता के कारण	३१
२. दान का महत्त्व	
३. दान पर्व अक्षयतीज	३७

तृतीय अध्याय

दान की परिभाषा और लक्षण

१. दान की परिभाषा	५२
२. दान और महादान में फर्क	६९
३. दान और संविभाग	७३
४. दान का लक्षण - अहंत्व, स्वत्व और स्वामित्व के विसर्जन की भावना ही दान की सफलता है ।	७७

चतुर्थ अध्याय

दान से लाभ

१. सुपात्रदान से धर्म प्राप्ति	८२
२. दान : जीवन का अ-मृत तत्त्व (जीवन्त तत्त्व)	९३
३. दान : कल्याण की नींव	९९
४. दान : धर्म का प्रवेशद्वार	१०८
५. दान : गृहस्थ-जीवन का सबसे प्रधान गुण	१११
६. दान द्वारा उद्भूत भावनाओं का विकास	११५
७. दान की पवित्र प्रेरणा	१२०
(i) प्रकृति द्वारा दान की मूक प्रेरणा	१२०
(ii) तीर्थंकरों द्वारा वार्षिकदान से प्रेरणा	१२५
(iii) रंकजनों के दान से प्रेरणा	१२९
८. दान से ऋण-मुक्ति	१३५

पञ्चम अध्याय

भारतीय संस्कृति में दान

वैदिक षड्दर्शन में दान-मीमांसा	१४२
श्रमण परम्परा में दान	१४३
ब्राह्मण और आरण्यक साहित्य में दान	१४५
रामायण-महाभास्त में दान की महिमा	१४६
संस्कृत महाकाव्यों में दान	१४९
संस्कृत के पुराण साहित्य में दान	१५१
संस्कृत के नीति काव्यों में दान	१५२
हिन्दी कवि और दान	१५४
आचारशास्त्र में दान	१५६
इतिहास के संदर्भ में दान	१५९

षष्ठ अध्याय

भावना के अनुसार दान का वर्गीकरण

१. दान की तीन श्रेणियाँ	१६१
-------------------------	-----

(i) सात्त्विक दान का लक्षण	१६२
(ii) राजस दान का लक्षण	१६४
(iii) तामस दान का लक्षण	१६५

सप्तम अध्याय

दान के भेद-प्रभेद

(१) सुपात्रदान	१६९
(२) अनुकम्पादान : स्वरूप और उद्देश्य	१७४
(३) आहारदान का स्वरूप और महत्त्व	१८३
(४) औषधदान का स्वरूप	१९२
(५) ज्ञानदान का महत्त्व	१९७
(६) अभयदान की महिमा	२१३
(७) दान के अन्य भेद	२३३
(८) दान से पुण्य : एक विश्लेषण	२३८

अष्टम अध्याय

दान की विशेषता

१. दान की विधि	२४४
२. देय द्रव्य-शुद्धि	२५५
३. दाता के गुण	२६३
४. दान में पात्र का महत्त्व	२६९

नवम अध्याय

दान की निष्फलता के कारण व भाव दान का स्वरूप

परिशिष्ट

दानमहिमार्गाभितं श्री दान कुलकम्	२९०
----------------------------------	-----

॥ श्री शंखेश्वर पार्श्वनाथाय नमः ॥

॥ ॐ ऐं नमः ॥

प्रथम अध्याय

दान विचार

विषयप्रवेश

दान के विषय में आचार्यश्री हरिभद्रसूरि कहते हैं -

“धमस्य आदि पदं दानं”

“ददाति इति दानं” - जरूरतमंद को दिया जाता है वो दान ।

“दीयते इति दानं” - जो दिया जाता है वह दान ।

ऋग्वेद में भी दान के बारे में कहा गया है -इन्सान की दौलत बेमानी बन जाती है अगर उसका उपयोग नहीं करें और बाँटे नहीं - “The wealth of a person becomes meaningless if it is not distributed and utilized.”

भारतीय संस्कृति धर्मप्रधान होने से उसमें दान की विशेष महिमा है । दान की परम्परा ठेट दर्शनों से लेकर आज तक प्राप्त होती है ।

दान का अर्थ यह है कि स्व की मानी जानेवाली वस्तु पर से अपना मालिकाना हक्क छोड़कर वह हक्क दूसरों को आनंद से अर्पित कर देना । इस तरह से किया गया दान व्यक्ति की त्याग भावना को विकसित करता है । त्याग को हर एक धर्म में एक महत्त्व की धर्मप्रवृत्ति का स्थान दिया गया है । दान में मानवधर्म की भावना, त्याग की भावना और अन्य को सहायक होने की भावना समाई हुई है । दान के फल के विषय में “उपदेश प्रधान” ग्रंथ में कहा है ।

फलं यच्छति दातृभ्यो दानं नात्रास्ति संशयः

फलं तुल्यं दादात्ये तदाक्षर्यम् त्वनुमोदकम् ॥

दान दाता को फल देता है उसमे कोई संशय-शंका नहीं, परन्तु दाता की तरह अनुमोदना करनेवाले को भी फल देता है ।

आचार्य अमितगति दान के विषय में कहते हैं - "दान, पूजा, शील तथा तप ये चार भवसागर रूपी वन को भस्म करने के लिए आग के समान है। इस संसार में आसुरी तत्त्वों, अमानवीय तत्त्वों, मोहमाया, अंधकार वगैरह तत्त्वों को जलाकर भस्म करने के लिए आग के समान है। गृहस्थ की शोभा दान है।

हमारे सूत्रवेत्ता कहते हैं कि धन की तीन गतियाँ होती है। दान, भोग और नाश। सबसे उत्तम दान है जिस दान में चित्त, वित्त, पात्र तीनों शुद्ध हो वह दान उच्च कोटि का सुपात्र दान है। दान देने से हमारा धन उस व्यक्ति के पास पहुँच जाता है जिसे उसकी आवश्यकता है। अगर दान नहीं देना है तो हम उसका भोग करें। भोग से जीवन का फूल मुरझा जाता है और त्याग से खिलता है। योगी योग में मस्त रहता है, भोगी भोग में मस्त रहता है। मस्त दोनों हैं फर्क इतना है कि एक अंत में रोता है और दूसरा हँसता है। दान और भोग नहीं करने पर उसका नाश होना अवश्यभावी है। इस क्षण भंगुर जीवन में भौतिक संग्रह को छोड़कर आत्मिक संग्रह पर ध्यान देना चाहिए। इससे मानव को परम शान्ति की अनुभूति होती है। उत्तम दान से भव परम्परा घटती है और मोक्ष प्राप्ति के अनुकूल निमित्त भी मिलते हैं। उदाहरणार्थ-संगम ग्वाला ने विशुद्ध भावों से मुनि को खीर का दान देकर, पुण्यानुबंधी पुण्य का अर्जन कर दूसरे भव में शालिभद्र बने व अपरिमित ऋद्धि के स्वामी बने, फिर संयम ग्रहण कर, सर्वार्थ सिद्ध में गये वहाँ से एक भव मनुष्य का करके सिद्ध गति को प्राप्त करेंगे, यह सब उत्तम दान का प्रभाव है। दान देते समय भावना प्रशस्त होनी चाहिए। जिसकी जैसी भावना होती है वैसा ही फल प्राप्त होता है। चंदनबाला ने उड़द के बाकुले दिए, जिसे श्रद्धापूर्वक भगवान को बहराये। चंदनबालाजी का हृदय भावों से गद्गद् हो हर्ष-विभोर हो गया। खुशी का पार नहीं रहा। नयनों में अश्रुधारा बह आई, मन और शरीर प्रफुल्लित एवं पुलकित हो उठा, यह है प्रशस्तभाव। कर्ण ऐसा महादानी था कि जिसके पास अन्त में देने को कुछ भी नहीं बचा फिर भी याचक को खाली हाथ नहीं लौटाया। अपने दांतों में लगे स्वर्ण पत्थर की चोट से निकाल कर दे डाला। दधिची, शिवी का, बलि का, भामाशाह का दान

सराहनीय एवं अनुकरणीय है। राष्ट्र संत विनोबा भावे ने कहा था दान देना बोनो के समान है। एक दाना बोनो से उसके हजार दाने पैदा हो जाते हैं।

दान का मूल अर्थ है एक दूसरे की सहायता करना। दान करना आसान काम नहीं है। हर कोई दान नहीं कर सकता है। सम्पत्ति बहुतों के पास हो सकती है, पर उसका मोह छोड़ना सरल नहीं है। वस्तु पर से जब तक ममता न छूटे, तब तक दान नहीं किया जा सकता। ममता को जीतना ही दान है।

भगवान महावीर ने बहुत सुन्दर शब्दों का प्रयोग किया है — मूधादायी और मूधाजीवी। दान वही श्रेष्ठ दान है जिसमें दाता का भी कल्याण हो और ग्रहीता का भी कल्याण। दाता स्वार्थ रहित होकर दे और पात्र भी स्वार्थ शून्य होकर ग्रहण करें। वह दान, जिसके देने से दाता के मन में अहंभाव न हो और लेने वाले के मन में दैन्यभाव न हो। इस प्रकार का दान विशुद्ध दान है, यह दान ही वस्तुतः मोक्ष का कारण है।

धन का कमाना दुर्लभ नहीं धन का त्याग करना दुर्लभ है। स्वार्थ की संकीर्ण भावना कम करके, पदार्थ-परमार्थ के भाव विकसित करने के लिए गृहस्थ को दान का गुण अवश्य अपनाना चाहिए। दान, करुणा, सेवा परमार्थ के कार्यों से तत्काल आत्मा को शान्ति प्राप्त होती है। भोग और वासनाओं से छुटकारा पाकर त्याग का लाभ प्राप्त करना चाहिए। अपने स्वभाव में सद्गुणों को स्थान देना त्याग नहीं वरन् एक प्रकार का लाभ ही है। यही वह लक्षण है जो व्यक्ति को देव, मानव, ऋषि पद से सुशोभित करते हैं। मनुष्य अपने संकीर्ण स्वार्थ से ऊपर उठकर अपने सामाजिक दायित्वों को समझ कर अपने पास प्राप्त साधनों से, सम्पत्ति से समाज के विभिन्न वर्ग के लिए यथाशक्ति संविभाग करें। गृहस्थ श्रावक जो कुछ भी साधन, सम्पत्ति प्राप्त करता है। उनमें उसके परिवार पोषण के अलावा समाज के त्यागी वर्ग का हिस्सा है। दीन, दुखियों, दयापात्रों का हिस्सा है। श्रावक को उदारतापूर्वक अपने साधनों में से उनको यथाशक्ति दान देना चाहिए। अतिथि संविभाग व्रत का यही अभिप्राय है।

शास्त्रों में कई प्रकार के दानों का उल्लेख है। जैसे अभयदान, अनुकंपादान, ज्ञानदान, सुपात्रदान।

(१) अनुकंपादान : इस दान का मुख्य आधार अनुकंपा है। एक मानव द्वारा दूसरे मानव को दुःख देखकर दिया जानेवाला दान, यह दान का मुख्य अंग है। इस दान में पीड़ित, दुःखी, दीन, दरिद्र जीवों को देखकर किसी भी प्रकार से उनकी मदद करने का भाव होता है। उनका दुःख दूर करने की तीव्र उत्कंठा जागती है उसको अनुकंपा दान कहा जाता है। अनुकंपा दान यह मानवता का दर्शनरूप है। जिसके द्वारा मानव की मानवता और सम्यक्त्व का नाप निकलता है।

(२) आहारदान अथवा अन्नदान : आहारदान का महत्त्व विशेष है। आहार, भोजन यह सभी के लिए जीवन टिकाने के लिए प्राथमिक जरूरत है। व्रतधारी त्यागी, मुनियों वगैरह का आधार गृहस्थ पर है। इसलिए गृहस्थ के लिए आहारदान एक श्रेष्ठ दान है। आहार के बिना किसी भी मनुष्य या पशु का जीवन टिकाए रखना असंभव है। इसलिए हर एक के लिए आहार एक प्रमुख वस्तु है। इसी कारण से अन्न का सदाव्रत चलानेवाला भूखे मनुष्य का हार्दिक आशीर्वाद प्राप्त करके महान पुण्य उपार्जित करता है। इस बाबत में जैन बहुत आगे हैं। जैनों के तीर्थ स्थलों में भोजनशालाओं तथा भाता देने की व्यवस्था होती है।

(३) ज्ञानदान : मनुष्य के भौतिक शरीर की रक्षा के लिए खुराक की जितनी आवश्यकता है उतनी ही जरूरत उसके चैतन्य शरीर की रक्षा और पोषण के तथा उन्नति के लिए है। वह रक्षा ज्ञान द्वारा होती है। ज्ञान का दूसरा नाम 'आध्यात्मिक औषधि' दे सकते हैं और इस आध्यात्मिक औषधि के बिना चैतन्य शरीर की रक्षा करना असंभव है। ज्ञानदान का स्थान सबसे श्रेष्ठदान की तरह गिना जाता है, कारण कि मोह का नाश ज्ञान के बिना संभव नहीं है। ज्ञान यह एक ऐसी विशेष प्रकार की शक्ति है जिसके प्रभाव से क्लेश, कषाय, दुःख, राग, मोह वगैरह का नाश होता है। ज्ञान के लिए कहा जाता है कि ज्ञान एक दीपक है जो सब को प्रकाश देता है। ज्ञान एक शक्ति है। ज्ञान प्राप्त करना और देना यानी अज्ञानी को प्रकाश देना, सच्चा मार्ग बताना, उसका आत्मिक बल, नैतिक बल बढ़ाना। विद्यार्थियों को अभ्यास के लिए दान देना, उसको आर्थिक तथा नैतिक सहायता करनी यह अत्यन्त महत्त्व का ज्ञानदान कह सकते हैं।

जरूरत मंदवालों के लिए शालाएँ बनवानी, गरीब बच्चों को पढ़ाना यह सब ज्ञानदान के प्रकार है।

(४) अभयदान : इन सब दान में अभयदान अत्यन्त श्रेष्ठदान है। अभयदान अर्थात् सुख की इच्छावाले तथा दुःखों से गिरे हुए भयभीत प्राणियों को जो भय से मुक्ति दिलावे। सब प्रकार के प्राणियों को संकट से मुक्त करना, उनकी सहायता करनी, जीवनदान देना, शरण में आए हुए प्राणी की रक्षा करनी, उसको भय से बचाना, उसकी संपूर्ण रक्षा करनी। आचार्य वट्टेकर 'मूलाचार' में बताते हैं —

“अभयदान यह सब दानों में श्रेष्ठ दान है।”

मृत्यु के भय से भयभीत ऐसे जीव को जो अभयदान दिया जाता है वह सर्व दानों में श्रेष्ठ है।

आचार्य पद्मनंदी कहते हैं — “अभयदान यह एक मात्र श्रेष्ठदान है, बाकी के दान उसकी तुलना में गौण हैं।”

इसके उपरान्त गुप्तदान की महिमा भी बहुत ही है। यह दान मनुष्य किसी भी प्रकार की अपनी प्रसिद्धि की आशा रखे बिना करता है अर्थात् इसमें अपना नाम, कीर्ति या यश का जरा भी मोह नहीं रखा जाता। इसलिए इस दान को 'गुप्तदान' कहा जाता है।

दान देते समय दाता को स्वामी अदत्त, जीवअदत्त, तीर्थकर अदत्त और गुरु अदत्त ये चार अदत्त को नजर समक्ष रखना चाहिए, अर्थात् दाता स्वयं जिसका मालिक न हो, दूसरा जो मालिक हो उसकी आज्ञा नहीं ली हो तो ऐसा दान नहीं करना चाहिए। ऐसा द्रव्य चोरी का द्रव्य कहा जाता है और वह दान भी अधिकार बिना का कहा जाता है।

दान के विषय में कितने ही दृष्टान्तों जानने जैसे हैं। जिसमें भगवान् महावीर के किये गये दान में स्वयं त्याग की भावना की महिमा समाई हुई है।

तीस वर्ष की उम्र में वर्धमान ने जब दीक्षा लेने का नक्की किया और दीक्षा का अवसर समीप आते जानकर प्रभु ने वरसीदान देने की शुरुआत करी। प्रभु सुर्योदय से प्रारम्भ करके दोपहर तक याचकों को दान देने लगे। प्रभु हर

दिन एक करोड़ और आठ लाख सोने की मुहरों का दान देते। समग्र वर्ष दौरान प्रभु ने कुल तीन अरब अट्टयासी करोड़ अस्सी लाख सोनेमुहरों का दान दिया।

ऐसे प्रभु ने जगत का दरिद्र्य दूर किया। भगवान के हाथ से जो लोग दान लेते उनका असाध्य रोग मिट जाता। प्रभु ने सर्वस्व दान में देकर सर्वस्व का त्याग किया, परन्तु इन्द्र ने स्वयं उनके कंधे पर एक देवदूष्य वस्त्र डाला था। दीक्षा के बाद जब विहार करते थे तब रास्ते में उनके पिता का मित्र सोम नामका एक ब्राह्मण आया और कहने लगा मैं जन्म से महादरिद्र हूँ। आपने जब दान से अनेक लोगों का दरिद्र्य दूर किया था तब मैं दूसरे देशों में भटक रहा था। मैं कुछ नहीं लिए बिना घर गया तो मेरी पत्नी ने मेरा तिरस्कार किया। आप अब भी मुझे कुछ देंगे इस आशा से यहाँ भेजा है। प्रभु महावीर ने कहा- 'अब तो मैं निश्चिंत हुआ हूँ, परन्तु मेरे कंधे पर जो यह अमूल्य वस्त्र है इसका आधा भाग तू लेकर जा।' ब्राह्मण उस वस्त्र का आधा भाग लेकर हर्षित होता हुआ वापिस लौटा। और फटी हुई किनारे को ठीक कराने के लिए बुनकर के पास गया। बुनकर ने पूछा कि 'तू ऐसा अमूल्य अर्धवस्त्र कहाँ से लाया?' तब ब्राह्मण ने सच्ची बात बतायी। बुनकर ने ब्राह्मण को समझाया कि तू शीघ्र प्रभु के पीछे जा, कारण कि चलते-चलते महावीर का बाकी का आधा वस्त्र काँटे में फसकर गिर जाएगा। वो निस्पृह मुनि उसको लेने के लिए खड़े नहीं रहेंगे इसलिए तू लेकर आ जाना। फिर दोनों टुकड़े सिलकर तुझे दे दूँगा। उसका मूल्य लाखों में होगा। उस धन को अपन दोनों में बाँट लेंगे। ब्राह्मण महावीर के पीछे गया और नदी के किनारे काँटे में फसे हुए वस्त्र को लेकर वापिस लौटा।

इसी तरह जैनेतर कथाओं में भी बलीराजा की दान भावना जानने जैसी है। बलीराजा ने इन्द्र होने के लिए नर्मदा नदी के किनारे ९९ यज्ञ पूरे किये। सौवें यज्ञ का प्रारम्भ किया और वह पूरा होने को आया उसी समय विष्णु ने वामनरूप धारण करके उसके पास जाकर के तीन पाँव जमीन की याचना की। बलीराजा ने यह देने के लिए संकल्प करके जल रखा तब विष्णु ने ब्राह्मण रूप त्याग करके विराट रूप धारण किया। एक पाँव पृथ्वी पर, दूसरा पाँव आकाश में रखकर तीसरा पाँव रखते हुए कहा, 'अब तीसरा पाँव कहाँ रखूँ?' यह

सुनकर बली दुःखी हुआ। बली ने कहाँ 'तीसरा पाँव मेरे शरीर पर रखो।' विष्णु ने वैसा किया अपने पाँव से दबाकर उसको पाताल में पहुँचा दिया। फिर वरदान दिया कि - "वैवश्वत मन्वन्त" पूरा हो तब तक तू यहाँ रहना, मैं तुझे फ़िलहाल अभी उपेन्द्र बनाता हूँ और आठवें सावरणी मन्वन्तर में तू स्वर्ग का इन्द्र होगा।

इसके उपरांत दानवीर जगदुशाह ने दुर्भिक्ष में प्रजा को छ महीने तक चले उतने अन्न का दान किया था। जैन धर्म में अभयदान के अनेक दृष्टान्तों जानने लायक हैं। मेघरथ राजा अत्यन्त दयालु थे। देव ने उनकी परीक्षा लेने के लिए क्रौंच पक्षी का रूप लिया और राजा के पास जाकर हाथ में रहे हुए पक्षी को मांगा। मेघरथ राजा ने वह नहीं दिया किन्तु उसके बदले में अपना शरीर सौंपा।

राजा श्रेणिक के पुत्र मेघ कुमार ने पूर्व के हाथी के भव में ढाई दिन तक पाँव ऊपर रखकर खरगोश को बचाया था। नेमनाथ भगवान ने उग्रसेन राजा के दरवाजे तक बारात लेकर गये किन्तु पशुओं की पुकार सुनकर वापिस तोरण से लौट गए और पशुओं को अभयदान दिया।

वसति का अर्थात् रहने का दान भी महत्त्व का गिना जाता है। कौशांबी नगरी के राजा शतानिक की बहन जयंती ने अनेक बार मुनिओं को (जगह का) वसति लाभ दिया था। ज्ञानदान के लिए महाराजा कुमारपाल ने पू. आ. हेमचन्द्राचार्य सूरिश्वरजी महाराज के उपदेश से २१ ज्ञानभण्डारों का निर्माण किया। ३०० लहियाओं को शास्त्रों ताडपत्रों पर लिखने के लिए रखे थे।

वस्तुपाल तेजपाल ने १८ करोड़ खर्च करके ज्ञान भण्डारों का निर्माण कराया और २१ आचार्य पदवी प्रदान करवाई।

पूणिया श्रावक रोज अपनी दो दोकडा की कमाई में से देव की, गुरु की और साधार्मिक की अपूर्व भक्ति करते थे। अनंत लब्धिनिधान गौतमस्वामी ने १५०० तापसों को खीर द्वारा पारणा कराया था।

जैनधर्म में दान के विषय में अनेक दृष्टान्तों प्राप्त होते हैं जिसका विस्तृत विवेचन आगे किया है।

जैन धर्म में दान की अनोखी महिमा है। दान प्रत्येक जीव देता है और देना चाहिए। त्यागी, तपस्वी और संत पुरुषों ने संसार का त्याग किया होने से वे धन का दान नहीं कर सकते किन्तु वे ज्ञानदान कर सकते हैं। सिद्ध गति के जीव जब मोक्ष को प्राप्त करते हैं तब निगोद में दुःख भोगते एक जीव को 'अभयदान' देकर उपकारक बनते हैं। 'धर्मस्य आदि पदम् दान।' इस शास्त्र वचन के अनुसार धर्म की प्रथम सिद्धी 'दान' कहा है। जो शक्ति होते हुए भी दान धर्म का पालन नहीं करता वह 'दानांतरायादि' कर्म बाँधते हैं। इसी तरह शक्ति होते हुए भाव बिना का दान देते हैं वह संपूर्ण लाभ प्राप्त करने का अधिकारी नहीं बनता।

मनुष्य के आध्यात्मिक विकास में जैन धर्म का योगदान महत्त्वपूर्ण है। उसमें 'दान' भावना ने विविध प्रकार से योगदान दिया है। आज भी दान के प्रतीक रूप में विविध स्थलों आहारदान के स्थान (भोजनालयों), मन्दिरों, उपाश्रयों, होस्पिटल, शैक्षणिक संस्थाएँ वगैरह देखने को मिलता है। इसलिए जैन धर्म में दान का अनेक रूप से महत्त्व है।

जैन परम्परा के पुराणों में आदिपुराण, उत्तरपुराण, हरिवंशपुराण, त्रिषष्टिशलाकापुरुष चरित आदि में दान समन्वन्धी उपदेश तथा कथाएँ प्रचुर मात्रा में आज भी उपलब्ध है। बाईबल में दान के विषय में कहा गया है — "तुम्हारा दायाँ हाथ जो देता है उसे बायाँ हाथ न जान सके ऐसा दान दो।" कुरान में दान के सम्बन्ध में कहा है — "प्रार्थना ईश्वर की तरफ आधे रास्ते तक ले जाती। उपवास महल के द्वार तक पहुँचा देता और दान से हम अन्दर प्रवेश करते हैं। योगी की शोभा ध्यान से होती है, तपस्वी की शोभा सयम से होती है, राजा की शोभा सत्य वचन से होती है, और गृहस्थ की शोभा दान से होती है।

तप, शील, भाव सबके लिए सुगम और सुलभ नहीं है। दान ही एक ऐसा मार्ग है जो संसार के सभी मानवों के लिए सुलभ है, सर्वश्रेष्ठ है।

मनुष्य जब कमाने लायक होता है तब से वह अपने अंत समय तक धनोपार्जन के लिए कठिन परिश्रम करता रहता है। उसके लिए वह रात-दिन एक करता है लेकिन सच तो यह है कि जब जाता है तब वह अपने साथ कुछ

भी नहीं ले जा सकता। खाली हाथ आया और खाली हाथ चला जाता है। इसी से सम्बन्धित एक कथा याद आती है —

जैनशास्त्र में अमरावती के श्रेष्ठी सुमेद की एक कथा आती है उसका सारांश निम्न है—

अमरावती नगरी के सबसे धनिक सेठ की मृत्यु हुई। वह सुमेद के पिता थे। अन्तेष्टि क्रिया में सभी लोग इकट्ठे हुए। सभी संबंधियों ने विदाई ली। इसके उपरान्त सेठ के मुनिम ने सुमेद के समक्ष आकर सभी हिसाब-किताब प्रस्तुत किया। उसकी धन, दौलत, पैसा कितना है यह बताया। पिता का कारोबार कहाँ-कहाँ है और कितना फैला हुआ है। देश-परदेश में कितनी पेढियाँ हैं। व्यापार धंधे में कितनी मूडी का रोकान है सभी कुछ विगतवार बताया और उसे समझाया। इसके बाद मुनिम सुमेद को तहखाने में ले गया। भण्डारों और तिजोरियों की चाबियाँ उसे सौंपकर कहा कि अब इस सारी सम्पत्ति का मालिक वह है।

सुमेद ने सभी हिसाब-किताब देखा, भण्डारों और तिजोरियों को देखा। मूल्यवान हीरे-मोती, सोना-चाँदी देखी जिसका मूल्य अरबों रूपये में था। इतनी सारी दौलत देखने के उपरान्त भी सुमेद को उसमें मोह-ममता या लालच नहीं हुआ। यह जानकर मुनिम को बहुत आश्चर्य हुआ। उसने सामने देखा कि सुमेद की आँखों में अश्रुधारा प्रवाहित हो रही थी। यह देखकर मुनिम ने प्रश्न किया कि तुम इतने अरबों रूपये के मालिक हो, इसके वारसदार हो, तुम्हारे पूर्वजों की यह सम्पत्ति है फिर क्यों तुम अश्रु बहा रहे हो ?

सुमेद ने मुनिम से कहा, 'मुझे तुमसे एक बात समझने की है। मेरे पड़दादा की मृत्यु हुई वह इस सम्पत्ति को साथ नहीं ले जा सके। मेरे दादा भी इस सम्पत्ति को यहीं छोड़ गये। मेरे पिता भी इस सम्पत्ति को साथ नहीं ले जा सके। तुम कोई ऐसी तरकीब बताओ मैं मेरी मृत्यु के बाद इस धन को साथ ले जाना चाहता हूँ, यहाँ इसे नहीं छोड़ना चाहता। कल सुबह से पहले मुझे कोई उपाय बताना क्योंकि शायद मेरी मृत्यु हो जाय और तुम इस धन की चाबी मेरी सन्तानों को दो। न मैं यह सम्पत्ति साथ ले जाऊँगा और न मेरी मृत्यु के उपरान्त मेरी सन्तान यह धन साथ ले जाएँगे। इसलिए मैं इस धन की व्यवस्था करना

चाहता हूँ।

मुनिम ने सुमेद को जवाब दिया, 'सेठश्री ऐसा तो कभी हुआ नहीं और न कभी होने वाला है। कोई भी मृत्यु के बाद सम्पत्ति साथ लेकर गया नहीं।

अन्त में सुमेद ने उपाय खोज निकाला। उपाय यह कि सुमेद ने सम्पत्ति का दान करके संसार का त्याग करने का उपाय बताया। उपाय खोजकर उसने सारी सम्पत्ति का दान करके दीक्षा ग्रहण कर ली।

इस कथा का बोध पाठ प्रत्येक मनुष्य को ग्रहण करने जैसा है। आचार्यश्री रजनीश ने इस संदर्भ में सही कहा है, 'दुनिया की कोई सम्पत्ति मनुष्य मृत्यु के उपरान्त साथ नहीं ले जा सकता। सिवाय दिल के अन्दर की सम्पत्ति जो ध्यान है। यह ज्ञान जिसे प्राप्त हो जाता है वही मृत्यु के समय साथ आनेवाली सम्पत्ति का स्वामी है। सच्चा अमीर वही है जो मृत्यु के बाद भी साथ में कुछ लेकर जाता है।

गुरु नानक ने भी कहा है, 'सच्चा धन तो वही है जो मृत्यु के पश्चात् भी मूड़ी बनकर हमारे साथ आता है। प्रभु नाम के बैंक से ट्रेवलर्स चेक अंतिम यात्रा में ले जाया जा सकता है। प्रभु की सेवा यही सच्ची सेवा है। अंदर का ज्ञान यही सच्ची सम्पत्ति है।'

मेरा मुझ में कुछ नहि, सब कुछ हो तो, तेरा,
तेरा तुझको सौंप दू, तो क्या लगेगा मेरा।

ऐसे भी मृत्यु के समय दुनिया की कोई वस्तु साथ नहीं आती, साथ आता है सिर्फ धर्म, संस्कार, सत्कर्मों और पुण्य। स्वामी शिवानंद ने लिखा है — 'Be Good, Do Good' अर्थात् भला बनो और भला करो यही शेष जीवन की कमाई है।



दान और त्याग में फर्क

‘अनुग्रहार्थं स्वस्यातिसर्गो दानम् ।’ — तत्त्वार्थसूत्र

वाचकवर्थ श्री उमास्वातिजी के अनुसार ‘स्व’ के अनुग्रह के लिए जो त्याग किया जाता है वह दान है। देकर के भूल जाना यह भी दान की विशिष्ट प्रकृति है। जैसे वणथली (सौराष्ट्र) के सोमचंदभाई ने अहमदाबाद के सवचंदभाई झवेरी पर अपनी रकम जमा न होते हुए भी एक लाख रुपये की हुण्डी लिख दी, जिसे सवचंदभाई ने सोमचंदभाई पर संकट का अनुमान करके हुण्डी सिकार दी थी, लेकिन जब सोमचंदभाई की आर्थिक स्थिति अच्छी हो गई तो वह ब्याज सहित सारी रकम सवचंदभाई को वापस देने अहमदाबाद गया। उस समय सवचंदभाई की आर्थिक स्थिति बिगड़ी हुई थी, फिर भी उन्होंने वह रकम यह कहकर नहीं ली कि हमारे यहाँ आपके नाम से कोई रकम नहीं है। बहीखाते टटोलने पर पता लगा कि वह रकम खर्च खाते लिखी गई थी। आखिर वह रकम दोनों की ओर से धर्मकार्य में लगाई गई। यह भी दान का एक नमूना है। ऐसा कृतदान जीवन में कर्तव्य की भावना जाग्रत होने पर ही चरितार्थ होता है। ऐसा इतिहास तो जैनशासन के लोगों ने भारत की गली गली में लिखा है। सिर्फ इन सबकी आज लिखित जानकारी इतनी नहीं मिलती।

दान की विस्तृत चर्चा करने से पहले दान और त्याग के बीच क्या फर्क है? उसको समझ लेते हैं।

दान अर्थात् आंशिक (Partial) त्याग। त्याग यानी सर्वस्व का (Total) दान। अपने पास जो हो उसमें से अपने लिए रख करके, बाकी में से अमुक भाग दूसरे को देते हैं तो उसको दान कहा जाता है, लेकिन अपने अधिकार (मालिकी) में कुछ भी नहीं रखकरके, सर्वस्व छोड़ दे या दे देते हैं तो उसको त्याग कहा जाता है। त्यागी को कोई भी पदार्थ, व्यक्ति या परिस्थिति के प्रति ममत्वभाव अर्थात् मेरापना नहीं होता है, अधिकार भाव(मालिकीभाव) नहीं होता है, कर्ताभाव नहीं होता है। जबकि दान करने वाले को ममत्वभाव, अधिकारभाव, कर्ताभाव होता है।

तीर्थंकरों ने पहले दान किया फिर त्याग। इसलिए महावीर का त्याग

कहा जाता है। बुद्ध का त्याग कहा जाता है। अपने देते हैं उसको दान कहा जाता है, त्याग नहीं कहा जाता।

त्याग का उच्च हेतु तो स्व का परम कल्याण (परमार्थ) साधकर के दूसरे का कल्याण (परार्थ) करने का होता है। स्व का साधे बिना दूसरे का साधने निकलने वाले आत्मवंचना करते हैं। शास्त्र में कहा है - 'स्वार्थभ्रंशो हि मूर्खता।' अपने स्व के अर्थ में से भ्रष्ट होना यह मूर्खता है। स्वार्थ शब्द के अर्थ को समझे बिना ही अपन ने उसके अर्थ को खराब कर दिया है, बिगाड़ दिया है। स्वार्थ (स्व+अर्थ) साधे बिना परार्थ (पर+अर्थ) कर ही नहीं सकते। यह अपने को समझना चाहिए। महावीर ने पहले स्वार्थ को साधा, फिर परार्थ किया। बुद्ध ने भी पहले स्वार्थ को साधा, फिर परार्थ किया। सच्चा त्याग इसी को कहा जाता है। जिन्होंने अपना ही नहीं साधा वो दूसरे का क्या कल्याण कर सकते हैं ?

स्वार्थ शब्द का अर्थ खराब नहीं, अच्छा है। जगत् के महापुरुषों ने, संतों ने, पहले अपना कल्याण (साधा) किया, स्वयं प्राप्त किया, स्वयं को प्रकाशित किया, फिर दूसरे को प्रकाश दिया। स्वयं प्रकाशित हुए बिना दूसरे को प्रकाश कैसे दे सकते हैं ?

त्याग के साथ दान ही सर्वांगीण दान :

वैसे देखा जाय तो त्याग के साथ दान ही सर्वांगपूर्ण दान कहलाता है। कोरा दान(देना) कोई महत्त्वपूर्ण नहीं होता। त्याग रहित दान प्राणरहित शरीर जैसा है। केवल दान तो किसी स्वार्थ, भय, लोभ या परम्परागत रूढ़िवश भी हो सकता है। केवल दान से व्यक्ति के जीवन में बदले में कुछ लेने की भावना भी हो सकती है। कोरे दान से अहंत्व, ममत्वादि पाप का त्याग नहीं होने से पाप रोग जाता नहीं, आत्मशुद्धि होती नहीं, अपितु दान से तो पाप का केवल ब्याज ही चुकता है, मूल तो ज्यों का त्यों बना रहता है। इसलिए केवल दान (त्यागरहित) का स्वभाव ममतालु होता है, जबकि त्यागयुक्त दान का स्वभाव होता है दयालु। इसे यों भी कहा जा सकता है कि त्यागयुक्त दान का निवास धर्म के शिखर पर है, जबकि त्यागरहित कोरें दान का निवास धर्म की तलहटी में है। धर्म की तलहटी से शिखर तक पहुँचने के लिए दान के साथ त्याग की

आवश्यकता है। लोभी मन दान तक ही पहुँचता है, किन्तु वस्तु होते हुए भी उसके प्रति अनासक्त मन त्यागसहित दान को अपनाकर क्रमशः धर्म के उच्च शिखर तक पहुँच जाता है। केवल वस्तु का दानकर्ता अर्जित धन को सहसा छोड़ नहीं सकता, छोड़ता है तो भी साथ में बदले की या अधिक लेने की भावना मन में संजोता है, वह त्याग करके भोग करने की कला नहीं जानता, जबकि दान के साथ उस वस्तु के प्रति ममत्व, स्वत्व, स्वामित्व तथा दान के अहंत्व आदि का त्याग करना दान की कला को चरितार्थ करना है। कोरा दान वाला पात्र नहीं देखता, वह विधि, द्रव्य एवं उद्देश्य का विचार नहीं करता; जबकि ममत्वादि त्याग सहित दान वाला पात्र, विधि, द्रव्य तथा दान के स्वपरानुग्रहरूप उद्देश्य को देखता है। सिर्फ दान वाला धन को धूल या हाथ का मैल नहीं समझता, जबकि त्याग के साथ दान करने वाला यही सोचता है — धन तो कूड़ा-ककट है, धूल है, मैल है, इसका क्या दान करना है? यह तो श्वासोच्छ्वास की तरह अनायास क्रिया है, इसमें दान देने का मान ही नहीं होना चाहिए। इसलिए सच्चे माने में दान त्यागरूपी काँटों से सुरक्षित गुलाब के फूल के समान है। बिना त्याग के दानरूपी गुलाब को सुगन्धरूप फल से रहित होने का खतरा बना ही रहता है।

एक दूसरे दृष्टिकोण से त्याग और दान का विश्लेषण करें तो दान की अपेक्षा त्याग बढ़कर मालूम देगा। एक व्यक्ति अविवेकपूर्वक किसी प्रकार का पात्र, देश, काल, स्थिति, विधि, द्रव्य आदि का कोई विचार न करके किसी व्यक्ति को परम्परागत रूप से गायें दे देता है। किसी को घोड़े या हाथी दे देता है। पर लेनेवाला इतने पशुओं को संभाल नहीं सकता, न उन्हें पूरा चारा-दाना दे पाता। तो ऐसे दान से क्या मतलब सिद्ध हुआ? इसकी अपेक्षा एक व्यक्ति इन सब सोने, चाँदी, सिक्के, जमीन, जायदाद आदि सबको मन से भी त्याग करके मुनि बन जाता है। उस व्यक्ति का त्याग दान की अपेक्षा बढ़कर है।^१

श्रमण भगवान महावीर के पंचम गणधर आर्य सुधर्मा स्वामी के चरणों में जहाँ बड़े-बड़े राजा, राजकुमार, श्रेष्ठी, श्रेष्ठीपुत्र आकर मुनि-दीक्षा लेते थे, वहाँ

१. जो सहस्रं सहस्राणं, मासे मासे गवं दए ।

तस्सावि संजमो सेओ, अदिन्तस्स वि किंचण ॥ — उत्तरा., अ. १/४०

दीन दरिद्र भी, पथ के भिखारी तक भी दीक्षित होते और साधना करते थे। इसी श्रृंखला में एक बार राजगृह का एक दीन लकड़हारा भी विरक्त होकर मुनि बन गया था। साधना के क्षेत्र में तो आत्मा की परख होती है, देह, वंश और कुल की नहीं। एक बार महामंत्री अभयकुमार कुछ सामन्तों के साथ वन-विहार के लिए जा रहे थे, मार्ग में उन्हें वही लकड़हारा मुनि मिल गए तो उन्होंने तुरन्त घोड़े से उतरकर मुनि को भक्तिभाव से विनम्र वन्दना की। घूमकर पीछे देखा तो सामन्त लोग कनखियों में हँस रहे थे, अन्य पास में खड़े नागरिक भी मजाक के मूड में थे।

महामंत्री अभय को सामन्तों और नागरिकों के हँसने का कारण समझते देर न लगी। फिर भी उसने पूछा तो एक सामन्त ने व्यंगपूर्वक कहा — “जो कल दरदर की ठोकें खानेवाला दीन लकड़हारा था, वही आज बहुत बड़ा त्यागी और राजर्षि बन गया है कि मगध का महामंत्री भी उसके चरणों में सिर झुका रहा है। धन्य हैं, इसके त्याग को कि महामंत्री तक को अश्व से नीचे उतरकर प्रणाम करना पड़ा।”

सामन्त के इस तीखे व्यंग और त्याग के उक्त संस्कारहीन उपहास पर अभयकुमार को रोष तो आया पर उन्होंने मन ही मन पी लिया। अभयकुमार जानते थे कि सामन्त ने मगध के महामंत्री का नहीं, ज्ञातपुत्र महावीर की क्रान्तिकारी त्याग-परम्परा का उपहास किया है। भोग का कीट त्याग की ऊँचाई की कल्पना भी कैसे कर सकता है? एक गम्भीर अर्थयुक्त मुस्कान के साथ अभयकुमार आगे बढ़ गए। सब लोग वनविहार का आनन्द लेकर अपने-अपने महलों में लौट आए।

दूसरे दिन महामंत्री ने राजसभा में एक-एक कोटि स्वर्ण-मुद्राओं के तीन ढेर लगवाए और खड़े होकर सामन्तों से कहा कि “जो व्यक्ति जीवनभर के लिए कच्चे पानी और अग्नि के उपयोग तथा स्त्री-सहवास का त्याग करे, उसे मैं ये तीन कोटि स्वर्ण-मुद्राएँ उपहार में दूँगा।” सभा में सन्नाटा छा गया। सभी एक दूसरे के मुँह की ओर ताकने लगे। “इन तीनों के त्याग का अर्थ है, एक तरह से जीवन का ही त्याग, फिर तो साधु ही न बन गए..... और तब इन स्वर्णमुद्राओं का करेंगे क्या? न न बाबा, ये त्याग बड़े कठिन हैं.....।” - एक

सामन्त ने कहा। इसके बाद सभा में सन्नाटा छा गया। महामंत्री फिर खड़े होकर गम्भीर स्वर में बोले - “लगता है, हमारे वीर सामन्त एक साथ तीन बड़ी शर्तों को देखकर हिचकिचा रहे हैं। अच्छा, तो मैं उनके लिए विशेष रियायत की घोषणा कर देता हूँ - तीनों में से कोई भी एक प्रतिज्ञा करनेवाला भी स्वर्ण-मुद्राओं का अधिकारी हो सकता है।” फिर भी सभी सभासद अवाक् थे। कोई भी वीर सामन्त इस नरम की गई शर्त को भी स्वीकार करने की हिम्मत नहीं कर सका।

तभी एक समवेत ध्वनि गूँज उठी - “नहीं, नहीं महामंत्री ! एक ही वस्तु के सम्पूर्ण त्याग का मतलब है - जीवन की समस्त सुख-सुविधाओं का त्याग ! कितना कठोर है यह !” सबके मस्तक इन्कार में हिल रहे थे।

“तो फिर सामन्तों ! जिस व्यक्ति ने इन तीनों का त्याग किया हो, वह कितना महान् और कितना वीर होगा ?”

“अति महान्, अति वीर ? अवश्य ही वह अति कठिन एवं असाधारण साहस करनेवाला है। उसका त्याग महान है !” एक साथ कई स्वर गूँज उठे।

“वीर सामन्तों ! हमने कल जिस मुनि को नमन किया था, वह तीनों का ही नहीं, बल्कि ऐसे अनेक असाधारण उग्र व्रतों तथा प्रतिज्ञाओं का पालन करने वाला वीर है, त्यागी है। उसके पास भोग के साधन भले ही अल्प रहे हों, पर भोग की अनन्त इच्छाओं को उसने जीत लिया है। त्याग का मानदण्ड राजकुमार या लकड़हारा नहीं हुआ करता, किन्तु व्यक्ति के मन की सच्ची विरक्ति हुआ करती है।”

दान करने का हेतु

दान करने के पीछे अलग-अलग हेतु होते हैं ।

कितनेक सामने वाले पर दया आने से या उपकार करने की भावना से दान करते हैं ।

कितनेक लोग अपनी अन्याय की, अनीति की कमाई के पाप को धोने के लिए प्रायश्चित के रूप में दान करते हैं ।

कुछ लोग अपनी फर्ज समझ कर दान करते हैं । वे धनवान होने से समाज के कमजोर वर्ग के प्रति अपना कर्तव्य है ऐसा समझ करके दान करते हैं ।

कुछ लोग स्व-पर-उपकार अर्थात् अपना ममत्व घटे और संतोष का गुण प्रगटे तथा दूसरे को मदद मिले और उनके सदगुण खिले इस प्रयोजन अर्थात् हेतु से दान करते होते हैं ।

बहुत कम लोग 'ऋणमुक्ति' के भाव से दान करते हैं ।

अपन जानते ही हैं कि भाव बिना की हुई क्रिया का फल बहुत अल्प और तुच्छ होता है । क्रिया के साथ भाव होना बहुत जरूरी है ।

अनंत लब्धिनिधान गौतमस्वामी ने श्रीपाल कथा में श्रेणिक राजा को चार प्रकार से धर्म बताया है : दान, शील, तप और भाव । उसमें दान को प्रथम स्थान में रखा है लेकिन वह दान भाव के साथ होना चाहिए ।

इसीलिए अपने जो दान करते हैं उसमें कौन सा भाव मिला हुआ है ? किस प्रीति के वश होकर अपन दान करते हैं ? और कितनी समझपूर्वक अपन यह कार्य करते हैं ? यह सब समझना जरूरी है, कारण कि जैसी भावना होगी वैसा फल प्राप्त होगा ।

(१) दया :

दान करते समय यदि यह विचार आए कि "यह बिचारा गरीब है, अनाथ है, निराधार है इसलिए मैं इस पर दया करता हूँ" तो यह दान फलता नहीं है ।

सामनेवाले को दीन, अनाथ, बिचारा, गरीब, तुच्छ समझ करके, दयाभाव

का दिखावा करके, उस पर उपकार किया है ऐसा भाव रख करके दान करना यह अपने 'मान' कषाय को, अहंकार को पुष्ट करना है। पुण्यकर्म करने के भ्रम में पापकर्म बांध लेंगे। अज्ञान से पापकर्म बंधता है। बांधने वाला जीव ज्ञान भी नहीं पाता और कर्म बांधे उसका यह उदाहरण है।

(२) उपकार :

कुछ लोग उपकार भाव से मदद करते हैं कि 'आज मैं इसको दान दूँ या मदद करूँ या पढाऊँ तो यह व्यक्ति मेरे उपकार से दबा हुआ रहेगा। भविष्य में मेरे काम आएगा या मैं इसका उपयोग कर सकूँगा।' ऐसी आशा से किया हुआ दान भी तुच्छ होगा कारण कि सामने वाले के पास से कुछ प्राप्त करने की भावना है, अपेक्षा है। तृष्णा भी लोभ का ही एक रूप है।

(३) प्रायश्चित्त :

अमुक धनवान के बिरुद को धारण करने वाले नहीं करने लायक या उल्टे सीधे करके पैसा अर्जित करते हैं, कुछ अन्याय, अनीति से कमाकर श्रीमंत बने होते हैं, ऐसे लोग अपनी लक्ष्मी का व्यय समाज के कमजोर वर्ग के लिए करते हैं या होस्पिटल, अनाथाश्रम या विधवाश्रम वगैरह में व्यय करते हैं।

ऐसे लोग प्रायश्चित्त के रूप में दान करते हैं कि 'मैंने बहुत पाप किया है उसमें से कुछ इस तरह धुल जाएँगे' ऐसी भावना से करते रहते हैं।

(४) फर्ज़-कर्तव्य :

अमुक लोग कर्तव्य के रूप में अपनी फर्ज़ समझकर दान करते रहते हैं। 'समाज के प्रति भी अपनी कुछ फर्ज़ है। ऐसा समझ करके समाज के कमजोर वर्ग को मदद रूप होते हैं। इसमें दया, उपकार, अहंकार का भाव नहीं होता है किन्तु कर्तव्यपालन समझ करके करते हैं।

गृहस्थ के जो छ नित्यकर्म कहे हैं उसमें से अंतिम कर्म 'दान' है जो गृहस्थ अपना कर्तव्य समझ करके करता रहता है।

(५) स्व-पर उपकार :

स्व यानी अपने पर और पर अर्थात् दूसरे पर-ऐसे दोनों के उपकार के लिए दान करते हैं। स्वउपकार यानी अपना ममत्व उतने अंश में कम हो, संतोष गुण प्रकट हो और परउपकार यानी दूसरे को सहायता मिले, दूसरे भी संतोषपूर्वक

जी सके और आर्त्तध्यान से बच सके। जहाँ जरूरी हो वहाँ देना, जिसको जरूरत हो उसको देना यह पर उपकार हुआ। इसमें कहीं भी दया, उपकार, बदला, ऐसी कोई अपेक्षा नहीं होती है। ऐसे दान का फल अच्छा मिलता है।

(६) ऋणमुक्ति :

यह सबसे ऊँची भावना का और समझपूर्वक का दान है। अनेक जीवों का ऋण यानी कर्ज ले करके यह जीव जगत में आया है। अनादिकाल से असंख्य जीवों का मेरे पर उपकार है। उनका ऋण चुकाने के लिए मैं किसी भी जीव के लिए मददरूप होऊँ तो मेरा इतना कर्ज कम हुआ, मेरा इतना ऋण चुका। कृतज्ञतापूर्वक की ऐसी उच्च भावना से किया हुआ दान अति उत्तम फल देता है।

कृतज्ञता अर्थात् अपने लिए किया हुआ कार्य जानना। कृतज्ञता का स्वीकार यानी किसी ने मेरे पर उपकार किया है, किसी का मेरे पर उपकार है यह जानना और स्वीकार करना। यह अपन जानेंगे, स्वीकार करेंगे तभी अपने दिल में इस ऋण में से मुक्त होने की इच्छा होगी। इस संसार से छूटने के लिए, आत्मा को सभी कर्मों से मुक्ति दिलानी हो तो अपने खाते में जमा उधार खाता (debit/credit) बराबर करना हो और खाता बंध करना हो तो इस जगत का ऋण चुकाना पड़ेगा। समझपूर्वक खुशी से चुका देना पड़ेगा।

कृतज्ञता का स्वीकारपूर्वक, ऋणमुक्ति के भाव से किया हुआ दान परम्पराएँ मोक्ष प्रदान करता है।

जैसे कि 'नमस्कार महामंत्र' में 'नमो' शब्द नमन है, यह क्या बताता है? कृतज्ञता। उनका मेरे पर उपकार है यह दर्शाने के लिए मैं उनको नमन करता हूँ।

'प्रतिक्रमण करते समय प्रत्याख्यान (पच्चक्खाण) करते हैं कि इर्ष्या, निंदा, राग, द्वेष नहीं करेंगे, फिर भी अगर उसकी मात्रा कम नहीं हुई तो प्रतिक्रमण मात्र रोजिंदी क्रिया (Daily routine) ही कहलाएगी, समझ बिना की। इसको सच्चा प्रतिक्रमण नहीं कह सकते।

इसलिए जैसे प्रत्याख्यान बिना का सच्चा प्रतिक्रमण नहीं होता है उसी तरह कृतज्ञता की समझ और स्वीकार बिना सच्चा परोपकार भी नहीं होता।

यह बात काफी गहराई से सोचने जैसी है। दूसरे के उपकार को स्वीकार किये बिना, किया गया परोपकार वह तो अहंकार को पुष्टि करने का, बढ़ाने का साधन है। जब तक कर्ताभाव है वह अहंकार है।

इसलिए आत्महित को ध्यान में रखकर जागृतिपूर्वक ऐसा सोचें कि अभी जो अवसर मिला है, समझ मिली है, सद्गुरु का संयोग हुआ है ऐसा अवसर फिर कब प्राप्त होगा ऐसी समझपूर्वक - 'इन अनंत जीवों का मेरे पर जो जो उपकार हुए हैं इन सबका ऋण चुकाने के लिए मैं इस जन्म का सदुपयोग करूँ' - ऐसा भाव जब आए तब की कृतज्ञता और परोपकार दोनों शब्दों का भावार्थ समझ में आया ऐसा कह सकते हैं।

कृतज्ञता यह पहला गुण है। यह होता है तभी सच्चा परोपकार होता है और इन दोनों को जोड़ने वाली मैत्री भावना है।

“मैत्रीभावानु पवित्र झरणु मुझ हैया मां वह्ना करे,

शुभ थाओ आ सकल विश्वनुं अेवी भावना नित्य रहे।

चार भावनाओं— मैत्री, प्रमोद, करुणा और उपेक्षा (माध्यस्थ) — इसमें पहली मैत्री भावना है। तो यह मैत्री भावना कहाँ से आई ? 'इस जगत के सर्व जीवों मेरे मित्र हैं, सबके साथ मेरी मैत्री है' पर यह बोलने मात्र से मैत्री भावना नहीं आ जाती।

लेकिन जगत के सर्व जीवों के प्रति कृतज्ञता का भाव हो — एकेन्द्रिय से लगाकर पंचेन्द्रिय तक। इतनी समझ मन में होनी चाहिए कि यह जो सब्जी, फल, अनाज जो खाता हूँ उन जीवों का भी मेरे पर उपकार है। यह पानी जो मैं पीता हूँ इसमें जलकाय जीवों का भी मेरे पर उपकार है। यह जो अग्निकाय-तेजस्काय जो मुझे प्रकाश, उष्मा प्रदान करते हैं उन जीवों का भी मेरे पर उपकार है। ये जो वायुकाय जीवों हैं, जो स्वयं नाश हो जाते हैं लेकिन मुझे श्वास लेने में मदद करते हैं, उन जीवों का भी मेरे पर उपकार है।

ऐसी समझ जब पैदा हो, ऐसी भावना जब हृदय में आए तब कृतज्ञता का भाव प्रकट होता है। तब इन असंख्य जीवों के उपकार तले दबे हुए हैं ऐसा महसूस होता है। तब इन सर्व जीवों के प्रति मैत्री भाव होता है। तभी इन सर्व जीवों का ऋण चुकाने का विचार आता है। तभी इन सभी उपकारी जीवों को

सच्चा नमन होता है, तभी सच्चा परोपकार होता है और तभी सच्चा स्वउपकार होता है।

शास्त्रों में कहा है कि हजारों में से एकाद मनुष्य उपकार करनेवाला (परोपकारी) मिलता है — किसी भी अपेक्षा या आकांक्षा के बिना। किन्तु इस उपकार का जाननेवाला (कृतज्ञ) तो लाखों में एकाद मिलता है। दूसरे शब्दों में कहें तो दूसरे पर उपकार करनेवाले जीव तो कम ही होते हैं, लेकिन किये हुए उपकार को जानने वाले जीव तो कम से कम ही होते हैं।

कृतज्ञता अर्थात् अपने पर किये हुए उपकार को जानकरके आभारवश होते हैं वे (gratitude). यह एक बहुत बड़ा गुण है। 'तुमने मेरे पर इतना उपकार किया है, मैं तुम्हारा बहुत आभारी हूँ, आपके उपकार का - ऋण का - बदला मैं नहीं चुका सकता' — इतनी हद तक जो विनम्रता बता सके, इतनी कृतज्ञता से जो रंग जाता है, उसी का संसार में से निस्तार होता है, वे ही संसारसागर को तैर जाते हैं।

संक्षेप में कहें तो 'दूसरे जीवों का मेरे पर अनहद उपकार है, मुझे इस ऋण को चुकाना है, इस जन्म में इतना ज्ञान, इतना बोध, इतनी समझ मिली हैं, ऐसे सद्गुरु, ऐसे संयोग मिले हैं तो जल्दी से जल्दी सभी का ऋण-कर्ज चुका दूँ (By paying off the debt) और संसार से मैं मुक्त हो जाऊँ' — यह जो ऋणमुक्ति की भावना है, इस उच्च भावना से जो कुछ दान दिया जाता है उसका उच्चतम फल मिलता है, उससे परंपराएँ मुक्ति मिलती है।

दान की मान्यता पर मतभेद

दान की मान्यता के सम्बन्ध में जो मतवाद की आग कभी प्रज्वलित हुई थी, उसके तीन विस्फोटक परिणाम सामने आये — (१) दान पुण्य का कारण है। (२) जिस दान में स्वार्थ आदि कारण होता है वह दान पाप का कारण है, और (३) दान धर्म का कारण है। जो लोग दान को शुभ भाव मानते हैं, उनके अनुसार दान से पुण्य होगा और पुण्य से सुख। जो दान को अशुभ भाव मानते हैं, उनके अनुसार दान से पाप होगा, पाप से दुःख। शुभ उपयोग पुण्य का हेतु है, और अशुभ उपयोग पाप का। पुण्य और पाप दोनों आश्रव हैं, संसार के कारण हैं। उनसे कभी धर्म नहीं हो सकता। धर्म है, संवर। धर्म है,

निर्जरा । संवर और निर्जरा - दोनों ही मोक्ष के हेतु हैं, संसार के विपरीत, मोक्ष के कारण हैं । तब, दान से संसार ही मिला, मोक्ष नहीं । दान का फल मोक्ष कैसे हो सकता है ? इस मान्यता के अनुसार दान, दया, व्रत और उपवास आदि पुण्य बन्ध के ही कारण हैं । क्योंकि ये सब शुभ भाव हैं ।

इसके विपरीत एक दूसरी मान्यता भी रही है, जिसके अनुसार दान भी और दया भी - दोनों पाप के कारण हैं । पाप के कारण तभी हो सकते हैं, जबकि दोनों को अशुभ भाव माना जाये । अतः उनका तर्क है कि दया सावद्य होती है । जो सावद्य है, वह अशुभ होगा ही । जो अशुभ है, वह निश्चय ही पाप का कारण है । दान के सम्बन्ध में उनका कथन विभज्यवाद पर आश्रित है । उन लोगों का तर्क है कि दान दो प्रकार का हो सकता है - संयतदान और असंयतदान । साधु को दिया गया दान धर्मदान है । अतएव उसका फल मोक्ष है । क्योंकि साधु को देने से निर्जरा होती है और निर्जरा का फल मोक्ष ही हो सकता है, अन्य कुछ नहीं । परन्तु असंयतदान अधर्मदान है । उसका फल पाप है । पाप कभी शान्ति का कारण नहीं हो सकता । यह पापवाद की मान्यता है ।

पुण्यवाद और पापवाद के अतिरिक्त एक धर्मवाद की मान्यता भी रही है । इसके अनुसार दान भी धर्म है और दया भी धर्म है । दान यदि पाप का कारण होता, तो तीर्थकर दीक्षा से पूर्व वर्षादान क्यों करते ? दान परम्परा की स्थापना न करके निषेध ही करते । ऋषभदेव से लेकर महावीर पर्यन्त सब तीर्थकरों ने दान दिया था । उन लोगों का तर्क यह है कि दान की क्रिया ममता और परिग्रह को कम करती है । ममता और परिग्रह का अभाव ही तो धर्म है । जितना दिया, उतनी ममता कम हुई और जितना दिया, उतना परिग्रह भी कम ही हुआ है । अतः दान से धर्म होता है । ममता और परिग्रह को कम करने से तथा उसका अभाव करने से दान धर्म ही हो सकता है, पाप कभी नहीं । यह धर्मवादी मान्यता है ।

पुण्यवाद, पापवाद और धर्मवाद की गूढ़ ग्रन्थियों को सुलझाने का समय-समय पर प्रयास हुआ है, परन्तु कोई भी मान्यता जब रूढ़ हो जाती है, तब वह मिट नहीं पाती । किसी भी मान्यता को मिटाने का प्रयास भी स्तुत्य नहीं कहा जा सकता । मानव-जाति के विचार के विकास की वह भी एक कड़ी है, उसकी अपनी उपयोगिता है, अपना एक महत्त्व है ।

भारत के वैदिक षड्दर्शनों में एक मीमांसा दर्शन ही पुण्यवादी दर्शन कहा जा सकता है। उसकी मान्यता है कि यज्ञ से पुण्य होता है, पुण्य से स्वर्ग मिलता है, स्वर्ग में सुख है। पुण्य क्षीण होने पर फिर संसार है। मोक्ष की स्थिति में उसे जरा भी रुचि नहीं है। यज्ञ से, तप से, जप से और दान से पुण्य होता है, यह इसी मीमांसा दर्शन की मान्यता रही है। यज्ञ नहीं करोगे, तो पाप होगा और यज्ञ करोगे, तो पुण्य होगा। पाप और पुण्य की मीमांसा करना ही मीमांसा दर्शन का प्रधान ध्येय रहा है। दान पर सबसे अधिक बल भी इसी दर्शन ने दिया है। इस दर्शन की मान्यता के अनुसार ब्राह्मण को दान देने से सबसे बड़ा पुण्य होता है। श्रमण परम्परा के दोनों सम्प्रदाय - जैन और बौद्ध कहते हैं कि ब्राह्मण को दिया गया दान पुण्य का कारण नहीं है। वह पापदान है, वह धर्मदान नहीं हो सकता। मीमांसा दर्शन भी जैन श्रमणों को और बौद्ध भिक्षुओं को दिये गये दान को पाप का कारण मानता है, धर्म का नहीं। इस प्रकार की मान्यताओं ने दान की पवित्रता को नष्ट कर डाला। अपनी मान्यताओं में आबद्ध कर दिया। अपनों को देना धर्म और दूसरों को देना पाप इसी का परिणाम है।

वेद-विरोधी दर्शनों में एक चार्वाक दर्शन ही यह कहता है कि न पुण्य है और न पाप। न दान करने से पुण्य होता है और नहीं करने से न पाप होता है। पाप और पुण्य - यह लुब्धक लोगों की परिकल्पना है, अन्य कुछ नहीं। न पाप है, न पुण्य है, न लोक है और न परलोक है। जो कुछ है, यहीं है, अभी है, आज ही है, कल कुछ भी नहीं। उसकी इस मान्यता के कारण ही चार्वाक दर्शन में दान पर कुछ मीमांसा नहीं हो सकी। दान पर विचार का अवसर ही वहाँ पर उपलब्ध नहीं है। वर्तमान भोग ही वहाँ जीवन है।

वह किस तरह से पर्याप्त गिना जाता है।

जो दान किसी भी प्रकार की अपेक्षा रहित है, मूर्ख को नष्ट करने के लिए है। अहंकार भाव रहित है। पर द्रव्य होने के कारण त्यागने योग्य है। ऐसी दान की भावना परम्परा से मुक्ति के मार्ग का साधन बनती है।

द्रव्य दान गृहस्थ तक सीमित भले ही हो फिर भी वह त्याग भावना का कारण बनता है।

द्वितीय अध्याय

दान का महत्त्व और उद्देश्य

दान का महत्त्व अत्यन्त है। केवल दान की भावना और दान करने से इस संसार सागर को पार कर गये हो ऐसी कई घटनाएँ हैं। ईश्वर तक पहुँचने की प्रत्येक धर्म की परंपरा और पद्धति चाहे भिन्न हो परन्तु प्रत्येक धर्म में दो समानताएँ देखने में आती हैं। एक ईश्वर को याद करने के लिए पूजा स्थल, देहरासर, मन्दिर, मस्जिद, गुरुद्वारा, मठ, चर्च वगैरह। इसी तरह प्रत्येक धर्म की पूजा पद्धति अलग हो सकती है। परन्तु प्रत्येक धर्म ने दान का महत्त्व स्वीकार किया है और दान को महत्त्व प्रदान किया है। दान इस संसार के अंदर धर्ममयी होने के लिए सबसे सरल, श्रेष्ठ और पहला कदम है।

व्यापार के विषय में अनभिज्ञ एक श्रेष्ठीपुत्र; अपने पिता से आग्रह करके पिता की अनुमति लेकर अपने मुनीम के साथ परदेश पहुँचा। पिता ने उसे परदेश भेजा तो था माल खरीद कर शीघ्र ही वापस लौटने के लिए; किन्तु वह बड़े शहरों की चकाचौंध तथा आमोद-प्रमोद के साधनों में इतना मुग्ध हो गया कि उसे पता ही नहीं चला कि किस प्रकार एक के बाद एक दिन बीतते चले गये ? उसे यह भान ही नहीं रहा कि मैं यहाँ किसलिए आया था ? मुझे पिताजी ने किस कार्य के लिए भेजा था ? मुझे क्या करना चाहिए ? कार्यसिद्धि के लिए कहाँ कहाँ जाना चाहिए ?

आखिर एक महिना बीतते ही उसके पिता का तार आया- 'जल्दी लौट आओ।'

सेठ का लड़का बहुत पछताया, पर अब क्या हो सकता था। माल

लिए बिना खाली हाथ अपने पिता के पास वह वापस लौट आया। पिताजी ने उसके चिन्तित चेहरे पर से ही अनुमान लगा लिया कि यह खाली हाथ आया मालुम होता है। उन्हें पता लग गया कि लड़का शहरों की भूलभुलैया में फँस गया है, इस कारण कुछ भी सौदा नहीं खरीद सका और लौट आया।

यह एक रूपक है। इस रूपक का उद्देश्य-लक्ष्य के सम्बन्ध में विचार करना है।

मानव भी एक व्यापारी पुत्र है। संसार की विविध योनियों और गतियों रूपी नगरों और राष्ट्रों में घूम आया है। अब यह मानवरूपी व्यापारी का पुत्र बना है। अभी इसे पता ही नहीं है कि मानवगति में, मनुष्य योनी में वह किसलिए आया है? वह यह भी भूल जाता है संसार नगर में उसे कौन सा माल खरीदना है? उस माल के लिए कहाँ-कहाँ किसके पास जाना है और वापस कब लौटना है? संसार नगर में पहुँचा हुआ मानवपुत्र नगर की सांसारिक चकाचौंध में, इन्द्रियविषयों रूपी माल से सजी हुई दुकानों में, कषायोत्तेजक दर्शनीय स्थलों में, स्वैर विहार में, अधर्म की गलियों में इधर-उधर भटकता रहता है। उसे चलना था मोक्ष ले जानेवाले मार्गों पर; परन्तु चलने लगता है पाप, अधर्म एवं दुष्कृत्य की ओर ले जानेवाली राहों पर; उसे पहुँचना था अपने लक्ष्य-मोक्षनगर को; लेकिन वह संसार नगर की भूलभुलैया में, विषयों की चकाचौंध में और कषायों की धमाचौकड़ी में ही भटक जाता है, उसी में रम जाता है। इसी में उसका आयुष्यरूपी मास पूरा हो जाता है और मृत्यु (यमराज) का बुलावा आ जाता है। परन्तु वह आयुष्य पूर्ण होते समय घबराता है, पश्चात्ताप करता है कि हाय! मैंने संसार नगर में आकर अभीष्ट लक्ष्य-प्राप्ति के लिए जो सत्कार्य करने थे, उन्हें नहीं कर सका और खाली हाथ रह गया।

मानव-जीवन का लक्ष्य :

मनुष्य को अपने जीवन का लक्ष्य, जो सर्वधर्मों एवं सर्वदर्शनों द्वारा मान्य है, जिसे सभी ऋषियों मुनियों, तीर्थकरों और अवतारों ने एक स्वर से स्वीकारा है, उसे इस संसार में आकर भूलना नहीं है। साथ ही, लक्ष्य से भटकानेवाले, लक्ष्य के अनुकूल कार्यों से विमुख करनेवाले कार्यों से हटकर लक्ष्यानुकूल कार्यों में अहर्निश संलग्न रहना चाहिए।

“इस जीवन का लक्ष्य नहीं है, विश्रान्ति भवन में टिके रहना ।
किन्तु पहुँचना उस मंजिल पर, जिसके आगे राह नहीं ।”

मनुष्य जीवन का लक्ष्य क्या है ? और लक्ष्य के अनुकूल प्रमुख कार्य क्या है ? अपना स्वरूप क्या है ? अपना असली स्थान कहाँ है ? इसका जिस मानव-व्यापारी को पता नहीं, वह लक्ष्यविहीन होकर फुटबाल की तरह इधर से उधर चक्कर काटता रहता है ?

आचाराङ्गसूत्र में भगवान महावीर ने कहा है कि बहुत से जीवों को यह पता ही नहीं होता कि मैं पूर्व दिशा से आया हूँ, पश्चिम दिशा से आया हूँ, उत्तर दिशा से आया हूँ या दक्षिण दिशा से आया हूँ ? मुझे कहाँ जाना है ? क्या करना है ? यह वे नहीं जानते ।”

कवि श्रीमद् राजचन्द्रजी के शब्दों में कहे तो —

“हूँ कोण छूँ ? क्यां थी थयो ? शुं स्वरूप छे मारूँ खरूँ ?
कोना सम्बन्धे वलगणा छे ? राखुं के ए परिहरूँ ?
लक्ष्मी अने अधिकार वधतां शुं वधुं ते तो कहो ?
शुं कुटुम्ब के परिवारथी वधवापणुं ए नय ग्रहे
वधवापणुं संसारनुं नर देह ने हारी जवो,
ऐनो विचार नहीं अहो हो, एक पल तमने हवो !”

इन पंक्तियों का भाव स्पष्ट है । अधिकांश मनुष्यों को यह पता भी नहीं है कि वे कौन हैं ? कहाँ से आये हैं ? कहाँ से या किस पुण्यकर्म से वे मनुष्य बने हैं ? उनके मनुष्य जन्म पाने के पीछे क्या रहस्य है ? ज्यादा पूछने पर वे यह कह देते हैं — हम अमुक माता-पिता से पैदा हुए हैं; अमुक खानदान के हैं, अमुक वंश और कुल के हैं अथवा अमुक देश या नगर से आकर यहाँ बसे हैं ! उन्हें यह ज्ञान नहीं होता कि वे मनुष्य गति से, तिर्यचगति से, देवगति से या नरकगति से आये हैं ? कदाचित् वे शास्त्रों से सुनकर या किसी सन्मार्ग दर्शक गुरु के बता देने पर कुछ बातें यथार्थ बता देते हैं, लेकिन उनके दिल-दिमाग में या संस्कारों में असली बात नहीं जम पाती । कई लोगों को अपने स्वरूप का भान नहीं रहता । वे मनुष्य जन्म पाकर भी अपने आत्मगुणों या अहिंसादि गुणों

या स्वभाव के विपरीत हिंसादि दुष्कर्म करते रहते हैं। स्वार्थत्याग के बदले अति-स्वार्थ में फँसे हैं।

यह तो हम प्रारम्भ में स्पष्ट कर आये हैं कि मानव-जीवन का परम लक्ष्य मोक्ष है। मोक्ष का स्वरूप भी लगभग स्पष्ट है कि समस्त विकारों, कर्मों एवं वासनाओं से रहित हो जाना, कर्म और कर्मबंध के कारणों का पूर्ण अभाव हो जाना, सभी सांसारिक झमेलों से दूर हो जाना मोक्ष है।

अब प्रश्न यह है कि उस परम लक्ष्य मोक्ष के प्राप्त करने के उपाय कौन-कौन से हैं? मोक्ष-प्राप्ति के साधन कौन-कौन से हैं?

मानव-जीवन का लक्ष्य मोक्ष-प्राप्ति

मानव जीवन यह एक उत्तम अवस्था है। इसलिए कार्य भी उत्तम होना चाहिए। सर्वोत्तम कर्तव्य मोक्ष-प्राप्ति(मुक्ति) है। इस बात को अल्पाधिक रूप में सभी दर्शनकारों ने स्वीकार किया है।

सविशेष जिनेश्वर भगवतों ने आत्म स्वरूप की प्राप्ति - यह जीवन का लक्ष्य बताया है। सम्पूर्ण रूप से "आत्म स्वरूप की प्राप्ति" इस जीवन में संभव नहीं है। अपेक्षित सामग्री मिलने पर दूसरे जन्म में प्राप्त होगी। लेकिन वर्तमान जीवन का लक्ष्य बिन्दु "आत्म स्वरूप का अनुभव करना" रखना है। दर्शन, पूजन से लगाकर संयम जीवन तक की सभी धर्म प्रवृत्ति का लक्ष्यांक 'आत्मा का अनुभव करना' यह है।

प्रश्न उठता है कि वह लक्ष्य किसलिए रखना चाहिए? क्योंकि जीवन की पाँच मुख्य इच्छाएँ हैं, जो निम्नलिखित हैं -

जीवन की पाँच इच्छाएँ :

(१) जीव की पहली इच्छा जीवित रहने की है - सौ वर्ष की उम्र हो गई हो फिर भी मनुष्य थोड़ा और ज्यादा जीने का प्रयत्न करता है। देवलोक में पल्योपम और सागरोपम के आयुष्य होते हैं, फिर भी मृत्यु अच्छी नहीं लगती। सबसे ज्यादा आयुष्य अनुत्तरविमानवासी देवों का होता है, लेकिन वहाँ भी मृत्यु तो आती ही है। जीव की सबसे प्रबल इच्छा 'जीने' की है, लेकिन वह कभी पूरी नहीं होती है। मृत्यु कभी नहीं आए और शाश्वत जीवन मिले इसके

लिए अपना मूलभूत आत्म स्वरूप प्रगट करना जरूरी है। अपना आत्म स्वरूप प्रगट होने के बाद ही अजरामर शाश्वत जीवन मिलता है और अपनी शाश्वत जीवन की इच्छा पूरी होती है।

(२) जीव की दूसरी इच्छा ज्ञान प्राप्त करने की है — अपन सारे भारत का भ्रमण करके आए हों, छः खण्ड की पृथ्वी की प्रदक्षिणा करके आए हों, फिर भी नया जानने की (ज्ञान प्राप्त करने की) इच्छा पूरी नहीं होती। अखिल ब्रह्माण्ड का चक्कर लगा ले फिर भी ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा पूर्ण नहीं होती। अपने अंदर एक ज्ञान ऐसा बैठा हुआ है कि जिसके द्वारा सर्व जीवों और सर्व पुद्गल के तीनों काल के सब पर्यायों को एक समय में जान सकता है। यह लोकालोक प्रकाश ज्ञान प्रगट हुए बिना जीव की ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा कभी भी पूरी नहीं होती। इसलिए 'ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा' पूर्ण करने के लिए केवलज्ञान प्राप्त करना जरूरी है।

(३) जीव की तीसरी इच्छा सुख प्राप्त करने की है — जीवों को ऐसे सुख की इच्छा है कि मेरे से ज्यादा सुख किसी के पास नहीं होना चाहिए। अपने पास एक क्रोड़ है, किन्तु पास वाला सवा क्रोड़ का मालिक हो तो अपन एक क्रोड़ का सुख नहीं भोग सकते। इसीलिए अपन को ऐसा सुख चाहिए कि जो मिलने के बाद कभी जाए नहीं और जिसमें थोड़ा भी दुःख का मिश्रण न हो। ऐसे सुख प्राप्ति की तीव्र इच्छा जीव को होती है, लेकिन वह कभी पूरी नहीं होती। अनंत अव्याबाध सुख का परम भण्डार आत्मा में पूर्णतया रहा हुआ है। सिद्ध के जीवों को किसी को कम या ज्यादा सुख नहीं होता। सभी का सुख समान होता है। वो प्राप्त होने के बाद कभी भी ज्ञाता नहीं है, उस सुख के बीच में कभी भी दुःख नहीं आता। सिद्ध भगवंतों के जैसा ही अनंत सुख अपनी आत्मा में रहा हुआ है। ऐसा अपना आत्मस्वरूप प्रगट करें तब ही सुख प्राप्त करने की इच्छा परिपूर्ण होती है।

(४) जीव की चौथी इच्छा स्वतंत्र बनने की है — अपन परतंत्रता के चंगुल से छुटने के लिए रात दिन प्रयत्न करते हैं। सभी तरह की बाह्य स्वतंत्रता प्राप्त करने के पश्चात् भी इस शरीर का बंधन इस प्रकार का है कि शरीर के लिए रोटी चाहिए। रोटी के लिए अनाज चाहिए, अनाज के लिए पैसा

चाहिए। गेहूँ पैदा करने वाला चाहिए। रोटी को बनाने वाला चाहिए। इस तरह जब तक शरीर है परतंत्रता रहने वाली है। इसलिए अपना मूल स्वरूप अशरीररूपने को प्रगट करना है।

(५) जीव की अन्तिम इच्छा — सभी मेरे आधीन रहने चाहिए। इस इच्छा की तृप्ति के लिए जगत् में विश्व युद्ध हुए हैं, लेकिन वह कभी पूरी नहीं होती। एक केवलज्ञान की अवस्था ही ऐसी है कि केवलज्ञानी अपने ज्ञान में एक हजार वर्ष के बाद ऐसी घटना होगी, या अमुक जीवात्मा एक हजार वर्ष के बाद यह कार्य करेंगे ऐसा देखा हुआ होता है उसी के अनुसार घटना बनती है। और वह जीवात्मा उसी के अनुसार करती है। इसलिए वास्तव में तो समग्र विश्व को केवलज्ञानियों ने अपने ज्ञान में देखा है उसी के अनुसार संसार चलता है। उनके ज्ञान के आधीन समग्र विश्व है, ऐसा एक नय के दृष्टिकोण से कह सकते हैं। इसलिए अपन केवलज्ञान प्रगट करें तो अपने ज्ञान के आधीन समग्र विश्व चलेगा।

इस तरह अपना मूल रूप जो अनंतज्ञान, अव्याबाध सुख, अनंत आनंद, अनंत शक्तिमय और शाश्वत है, वह प्रगट हो तभी सभी प्रयोजन सिद्ध होता है। इसीलिए आत्मस्वरूप प्रगट करना वही परम ध्येय-लक्ष्य है, या पूर्ण आत्म चैतन्य को प्रगट करना ही जीवन का लक्ष्य है। इसी लक्ष्य को पूर्ण करने का अवसर हमें मानव जीवन में मिलता है।

मोक्ष प्राप्ति में गृहस्थ के चार धर्म :

मानव को अपनी जीवन-यात्रा मोक्षरूपी लक्ष्य की ओर करनी है। मोक्ष तक पहुँचने के भी महापुरुषों ने चार धर्म बताये हैं। आचार्य विनय विजयजी महाराजसा. ने शान्त सुधारस भावना में इन्हीं चार धर्मों का इस प्रकार निरूपण किया है —

“दानं च शीलं च तपश्च भावो,
धर्मश्चतुर्धा जिनबान्धवेन ।
निरूपितो यो जगतां हिताय,
स मानसे मे रमतामजस्रम् ॥”^१

— दान, शील, तप और भाव ये चार मोक्ष के मार्ग हैं, धर्म के अंग हैं, वीतराग परमात्मा ने संसार के प्राणियों के कल्याण के लिए इनका निरूपण किया है। यह चतुर्विध मोक्षापाय मेरे हृदय में सतत रमण करे।

चारों धर्मों में सबसे आसान धर्म - दान :

ये चार मार्ग हैं — मोक्षापाय हैं, जो मानव-यात्री को अपनी मंजिल तक पहुँचा देते हैं। परन्तु यात्री के सामने फिर वही प्रश्न खड़ा होता है कि इन चारों मार्गों में से कौन-सा मार्ग उसके लिए आसान, अल्प-कष्ट-साध्य, सुलभ और आरामदेह होगा।

जैसे एक जिज्ञासु यात्री को महात्मा ने सड़क का मार्ग सबसे आसान, अल्प-कष्ट-साध्य राजमार्ग बता दिया, वैसे ही यहाँ दान-शील, तप और भाव इन चारों मार्गों में आसान और सर्वजन सुलभ मार्ग दान का है। क्योंकि तप प्रत्येक व्यक्ति के लिए आसान नहीं है और लम्बा ब्रह्म तप सबके लिए अनुकूल भी नहीं होता और तप प्रतिदिन सम्भव भी नहीं है। इसलिए तप आबाल-वृद्ध सबके लिए इतना सुलभ नहीं है। और शील भी विषयासक्त मनुष्यों के लिए सुगम नहीं है। जो सामान्य गृहस्थ हैं, उनके लिए शीलपालन दुःशक्य है। फिर प्रत्येक गृहस्थ के लिए प्रतिदिन शीलपालन भी दुष्कर है। त्यागी मुनियों के लिए पूर्णरूपेण शील (ब्रह्मचर्य) का पालन विहित है, नव वाड (गुप्ति) पूर्वक ब्रह्मचर्य का विशुद्ध पालन अत्यन्त दुष्कर है।

जो व्यक्ति आरम्भ-समारम्भ में संलग्न रहते हैं, रात-दिन गृहकार्यों में व्यापार व्यवसाय में या खेती आदि में अथवा कल-कारखाने आदि आजीविका के कार्यों में जुटे रहते हैं, उनके लिए शुद्ध भाव भी सुकर नहीं है। भाव तो हृदय की वस्तु है, जहाँ तक व्यक्ति आरम्भादि में लगा रहता है, उसका दिल-दिमाग भी प्रायः उसी ओर लगा रहता है। प्रतिक्षण या प्रतिदिन भाव का लगातार बना रहना भी दुष्कर है। इसीलिए एक आचार्य ने इस विषय में बताया है —

'न तवो सुदु गिहीणं, विसयासत्ताण होइ न तु सीलं ।

सारंभाण न भावो तो साहीणं सया भावं ॥'^१

गृहस्थों के लिए तप करना सरल नहीं होता, विषयासक्तों के द्वारा

शीलपालन भी नहीं होता और आरम्भयुक्त लोगों के हृदय में शुभ भाव पैदा होना भी कठिन है, क्योंकि भाव सदा मन-मस्तिष्क के स्वाधीन होने पर ही उत्पन्न होता है। व्यापार आदि की चिन्ता में उलझे हुए मन-मस्तिष्क में उत्तम भाव कहीं से उत्पन्न हो सकते हैं ?

इस पर से समझा जा सकता है कि उपर्युक्त चतुर्विध मोक्षमार्ग में से कौन सा मार्ग आसान और सर्वजन सुलभ है ? जब तप, शील और भाव सबके लिए सुगम और सुलभ नहीं हैं, तो फिर दान ही एक ऐसा मार्ग है, जो सुगम भी है, सर्वजन सुलभ भी है। दान एक छोटा-सा बालक भी कर सकता है, एक वृद्ध भी कर सकता है, एक युवक भी कर सकता है, एक महिला भी कर सकती है। भोगी एवं गृहस्थ सभी के लिए दान का मार्ग आसान है, अल्प-श्रम-साध्य है, असम्भव भी नहीं है। दान एक ऐसा राजपथ है जिस पर आसानी से चलता हुआ मनुष्य अपनी मंजिल के निकट पहुँच सकता है। इसलिए दान का मार्ग संसार के सभी मानवों के लिए सुलभ है। दान के लिए तपस्या की तरह कोई कष्ट सहना नहीं पड़ता, न उसके लिए पूर्ण कठोर ब्रह्मचर्य-पालन की ही अनिवार्यता है और न ही प्रतिक्षण उत्तम भावों से ओतप्रोत होने की आवश्यकता है। तप, शील और भाव सबसे प्रतिदिन नहीं हो सकते, तपस्या कोई करेगा, तभी किसी अमुक दिन या अमुक तिथियों को, उसके बाद उसे पारणा करना ही होगा, आजीवन तपस्या नहीं हो सकती; लेकिन दान तो बच्चे, बूढ़े, महिला और युवक सभी के लिए प्रतिदिन सम्भव है इसी प्रकार भावों का सातत्य भी सबके लिए आसान नहीं है, दान का सातत्य फिर भी सम्भव है, कम से कम प्रतिदिन तो दान का क्रम चल ही सकता है।

इसलिए मोक्ष के चार मार्गों में दान सर्वसुलभ, आसान और अल्प-कष्ट-साध्य होने से मानव-यात्री के लिए सर्वश्रेष्ठ राजमार्ग है।

इसलिए उपदेशतरंगिणी में दान को इस भूमण्डल में सर्वश्रेष्ठ बताया है—

‘पृथिव्यां प्रवरं दानम् ।’

धर्म के चार अंगों में दान प्रथम क्यों ?

मोक्ष मार्ग को प्राप्त करने के लिए धर्म ही उत्तम साधन है। क्योंकि धर्म

के द्वारा व्यक्ति अपने संचित कर्मों का क्षय कर सकता है, दानादि गुणों को अपनाकर अपने मन, वचन, काया को पवित्र बना सकता है; दुर्गति में जाने से अपने आपको रोक सकता है। उस शुद्ध धर्म के चार चरण महापुरुषों ने बताए हैं, जिनके आचरण से ही मनुष्य उपर्युक्त स्थिति प्राप्त कर सकता है। आचरण ही मनुष्य के जीवन को उन्नति के पथ पर ले जाता है। धर्म के ये चार चरण दान, शील, तप और भाव, जिनके सहारे से धर्म अभीष्ट लक्ष्य की ओर त्वरित गति कर सकता है।

यद्यपि धर्म के चारों अंग महत्त्वपूर्ण हैं, धर्मरथ को चलाने के लिए इन चारों की समय-समय पर जरूरत पड़ती है। किन्तु दान न हो तो शेष तीनों अंगों से काम नहीं चल सकता। दान के अभाव में शेष तीनों चरणों से नम्रता और उदारता सक्रिय रूप नहीं ले सकती। दान मानव-जीवन में स्वार्थ, लोभ, तृष्णा और लालसा का त्याग कराता है, मानव हृदय को वह करुणा, परोपकार और पर-सुख वृद्धि में सहायता के लिए प्रेरित करता है। जैसे खेती करने से पहले किसान खेत की धरती पर उगे हुए कंटीले झाड़-झंखाड़ों काँटों, कंकड़-पत्थरों, फालतू घास आदि को उखाड़कर उस धरती को साफ, समतल और नरम बना लेता है, तभी उसमें बोये हुए बीज अनाज की सुन्दर फसल दे सकते हैं। वैसे ही मानव की हृदयभूमि पर उगे हुए तृष्णारूपी घास, लालसा, स्वार्थ और अहंतारूपी काँटें, कंटीले झाड़ झंखाड़ों एवं कंकड़-पत्थरों को उखाड़कर उसे नम्र एवं समरस बनाने के लिए दान की प्रक्रिया की जरूरत है, जिससे अन्य शील, तप आदि साधनाएँ भलीभाँति हो सकें। धर्म भावों की फसल तैयार हो सके। निष्कर्ष यह है कि हृदयभूमि को नम्र व समरस बनाकर बोये हुए दानबीज से धर्म की उत्तम फसल तैयार होती है।

इस दृष्टि से देखा जाये तो धर्म के चार अंगों में सबसे महत्त्वपूर्ण और आवश्यक अंग दान है, वही शेष तीनों अंगों में तीव्र गति पैदा कर सकता है।

दान की प्राथमिकता के कारण :

मोक्ष के चार प्रकार बताये गये हैं, जिन्हें हम धर्म के चार अंग कह सकते हैं, उनमें दान को प्राथमिकता दी गई है। प्रश्न यह होता है कि इन चारों में से शील, तप या भाव को पहला स्थान न देकर दान को ही पहला स्थान क्यों

दिया गया है ? इसके पीछे भी कुछ न कुछ रहस्य है, जिसे प्रत्येक मानव को समझना अनिवार्य है ।

दान को प्राथमिकता देने के पीछे रहस्य यह है कि शील, तप या भाव के आचरण का लाभ तो उसके आचरणकर्ता को ही मिलता है, अर्थात् जो व्यक्ति शील का पालन करेगा, उसे ही प्रत्यक्ष लाभ मिलेगा, इसी प्रकार तप और भाव का प्रत्यक्ष फल भी उसके कर्ता को ही मिलेगा, जबकि दान का फल लेने वाले और देने वाले दोनों को प्रत्यक्ष प्राप्त होता है । यद्यपि शील, तप और भाव का फल परोक्ष रूप से कुटुम्ब या समाज को भी मिलता है, किन्तु प्रत्यक्ष फल इन्हें नहीं मिलता । जबकि दान देने से लेनेवाले की क्षुधा शान्त होती है, पिपासा बुझ जाती है, उसकी अन्य आवश्यकताओं या इच्छाओं की पूर्ति होती है, उसके दुःख का निवारण होकर सुख में प्रत्यक्ष वृद्धि होती है और देनेवाले को भी आनन्द, सन्तोष, औदार्य, सम्मान एवं गौरव प्राप्त होता है । यदि दान लेनेवाले को कोई लाभ न होता तो वह उसे लेता ही क्यों ? इसी प्रकार दान देनेवाले को भी प्रत्यक्ष कोई लाभ न होता तो वह भी देता ही क्यों ? दान का लाभ दाता और संगृहीता दोनों को साक्षात् प्राप्त होता है ।

ज्ञानीजनों ने मनुष्य के धर्म रूप कर्तव्य में दान को प्रथम रखा है । निःस्पृह भाव से दिये गये दान से जीव के परिणाम कोमल बनते हैं । दान बिना का मानव दयाहीन हो करके बाद के दूसरे कर्तव्य का पालन नहीं कर सकता ।

वास्तव में दान में धन तो दूर की वस्तु है । उसमें कुछ छेड़ने का है, वह कोई तेरे देह जितना नजदीक भी नहीं है और साथ आनेवाला भी नहीं है । धन की मूर्छा घटाने के लिए दान उत्तम कर्तव्य है । परिग्रह के पाप के मैल को दूर करने के लिए दान तो स्नान है । कभी-कभी दान का प्रत्यक्ष लाभ समाज को या अमुक पीड़ित, शोषित या अभावग्रस्त मानव को मिलता है । इसी कारण दान को धर्म के चार अंगों में या मोक्ष के चतुर्विध मार्ग में सर्व प्रथम स्थान दिया गया है ।

दूसरी बात यह है की शील का पालन या तप का आचरण कभी-कभी प्रत्यक्ष दिखाई नहीं देता, आम जनता सहसा नहीं जान पाती कि अमुक व्यक्तिने तप किया है या अमुक आभ्यन्तर तप करता है तथा अमुक व्यक्ति शील का

पालन करता है या कुशील का सर्वथा त्याग कर दिया है। जबकि दान का आचरण सबको प्रत्यक्ष दिखाई देता है। तप और शील कदाचित् सक्रिय नहीं भी होते, जबकि दान सदा सक्रिय होता है और भाव तो सदा ही परोक्ष, अज्ञात और निष्क्रिय रहता है। भाव का प्रत्यक्ष दर्शन तो सिवाय मनः पर्यायज्ञानी या केवलज्ञानी के और किसी को हो नहीं सकता। इस कारण भी दान को सबसे पहला नम्बर दिया गया है।

तीसरा कारण यह है कि मनुष्य जब से इस दुनियाँ में आँखें खोलता है, तब से आँखें मूँदने तक यानी मनुष्य जीवन प्राप्त होने से मृत्यु-पर्यन्त दान की प्रक्रिया जीवन में चल सकती है, व्यक्ति दान दे सकता है, ले सकता है; जबकि शील, तप, या भाव की प्रक्रिया इतनी लम्बी, दीर्घकाल तक या जन्म से लेकर मृत्यु तक नहीं चलती। शील की प्रक्रिया ज्यादा से ज्यादा चलती है तो समझदारी प्राप्त होने से लेकर देहान्त तक चल सकती है। जबकि दान की प्रक्रिया तो व्यक्ति के मरणोपरान्त भी उसके नाम से पीढ़ी-दर-पीढ़ी तक चलती रहती है। तपश्चर्या की प्रक्रिया भी ज्यादा से ज्यादा समझदारी प्राप्त होने से देहावसान तक चलती है, वह भी प्रतिदिन नहीं चलती और भावों की प्रक्रिया भी बीच-बीच में रोग, चिन्ता या लोभादि अन्य कारण आ पडने पर उसकी धारा टूट भी जाती है। इसलिए दीर्घकाल तक, जिन्दगी भर और कभी-कभी कई पीढ़ियों तक दान की धारा ही अखण्ड रूप से बह सकती है। इस दृष्टि से भी दान को प्राथमिकता दी गई है।

चौथा कारण यह है कि बालकों में या पारिवारिक व सामाजिक जीवन में उदारता, नम्रता, परदुःखकातरता, सेवा, सहानुभूति एवं सहृदयता के संस्कार दान से ही जग सकते हैं, दान के आचरण से ही बालकों में उदारता आदि के सुसंस्कार बद्धमूल हो सकते हैं, परिवार एवं समाज में भी दूर-दूर दानाचरण के पवित्र परमाणु अपना प्रभाव डालते हैं, सारे वायुमण्डल को दान का आचरण स्वच्छ बना देता है, जबकि तप, शील या भाव के संस्कार सहसा नहीं पडते, न ही छोटे बच्चे उन संस्कारों को ग्रहण कर सकते हैं।

पाँचवाँ कारण दान को प्राथमिकता देने का यह है कि दान से समाज को सहयोग मिलता है। समाज पर दुर्भिक्ष, अतिवृष्टि, बाढ़, सूखा, भूकम्प आदि प्राकृतिक प्रकोप आ पडने पर दान से ही उस आपत्ति का निवारण हो सकता है,

वह संकट मिट सकता है। जबकि तप, शील या भाव से समाज को ऐसे प्राकृतिक दुःख निवारण में प्रत्यक्ष में उतना सहयोग, या सहारा नहीं मिलता। समाज के अनाथ, अपाहिज, दीन-दुःखी या अभावग्रस्त व्यक्ति को दान से ही तुरन्त सहारा मिल सकता है, उनका संकट मिटाया जा सकता है।

छद्म कारण दान को प्रथम स्थान मिलने का यह प्रतीत होता है कि समाज में व्याप्त विषमता, अभाव, शोषण या असमानता को मिटाने के लिए दान का होना अनिवार्य है। समाज की मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति करने में उनकी धनराशि व्यय होती रहे, जैसे कि औषधालय, विद्यालय, अनाथालय आदि संस्थाओं को दिया जाता रहे तो समाज में व्याप्त असन्तोष और प्रतिक्रिया दूर हो सकती हैं, समाज में सुव्यवस्था और सुखशान्ति व्याप्त हो सकती है। श्रमण भगवान महावीर ने इसी दृष्टि से गृहस्थ साधकों के लिए अतिथिसंविभागव्रत या यथासंविभागव्रत निश्चित किया है, ताकि गृहस्थ अपनी आय एवं साधनों में से यथोचित संविभाग उत्कृष्ट साधकों, सेवाव्रती संस्थाओं एवं अभावग्रस्त व्यक्तियों के लिए करे। लेकिन भूमिका का सार तो परिणाम पाना है।

गृहस्थ के लिए दान अनिवार्य तथा प्रतिदिन की शुद्धि का कारण होने से उसे महाधर्म भी कहा है। पद्मनन्दिपंचविंशतिका में स्पष्ट कहा गया है —

“नानागृहव्यतिकरार्जित पाप पुञ्जैः,
खञ्जीकृतानि गृहिणो न तथा व्रतानि ।
उच्चैः फलं विदधतीह यथैकदाऽपि,
प्रीत्यातिशुद्ध मनसा कृतपात्रदानम् ॥ २/१३॥”

— लोक में अत्यन्त विशुद्धमनवाले गृहस्थ के द्वारा प्रीतिपूर्वक पात्र के लिए दिया गया दान जैसे उत्पन्न फल को देता है, वैसा फल घर की अनेक झंझटों से उत्पन्न हुए पापसमूहों के द्वारा कुबड़े यानि शक्तिहीन किये हुए गृहस्थ के व्रत नहीं देते।

इस विषय में आचार्यों ने और अधिक स्पष्टीकरण किया है — प्रश्न उठाया गया है कि दानादि ही श्रावकों (गृहस्थों) का परम धर्म कैसे है? इसका

१. कस्मात् स एव परमोधर्म इति चेत् निरन्तरविषयकषायक्ष धीनतया आर्त्तरीद्रध्यानरतानां निश्चयरत्नत्रयलक्षणस्य शुद्धोपयोगपरमधर्मस्यावकाशो नास्तीति ।

— परमात्मप्रकाश, टीका २/१११

उत्तर दिया है — “वह यों है कि ये गृहस्थलोग हमेशा विषय-कषाय के अधीन हैं, इस कारण इनके आर्त्त-रौद्रध्यान उत्पन्न होते रहते हैं। इसलिए निश्चयरत्नत्रय रूप शुद्धोपयोग परम धर्म का तो इनके ठिकाना ही नहीं है, यानी अवकाश ही नहीं है।”

तात्पर्य यह है कि गृहस्थ के द्वारा हुआ आरम्भजनित पापों की शुद्धि के लिए दानधर्म जितना आसान होता है, उतना शील, तप और भाव नहीं। इसलिए दान को गृहस्थ के लिए परम धर्म कहा है और यही कारण उसको प्राथमिकता देने का है।

वैदिक धर्म के व्यवहार पक्ष का प्रतिपादन करनेवाले मनुस्मृति आदि ग्रन्थों में गृहस्थ के लिए प्रतिदिन दान की परम्परा चालू रखने हेतु ‘पंच वैवस्वदेवयज्ञ’ का विधान है। अर्थात् गृहस्थ के द्वारा होनेवाले आरम्भजनित दोषों को कम करने के लिए भोजन तैयार होते ही सर्वप्रथम गाय, कुत्ता, कौआ, अग्नि एवं अतिथि इन पाँचों के लिए ग्रास निकाला जाये। शील, तप या भाव का विधान वहाँ सभी गृहस्थों के लिए नहीं किया गया है। इस दृष्टि से भी दान को प्रथम स्थान दिया गया हो तो कोई आश्चर्य नहीं। इसीलिए परमात्मप्रकाश में स्पष्ट कहा है — गृहस्थों के लिए आहारदान आदि परम धर्म हैं।^१

दान को प्राथमिकता देने का एक कारण यह भी सम्भव है कि जगत् में निःस्पृह, त्यागी, साधु, सन्त या तीर्थंकर आदि ज्ञान दर्शन-चारित्र्य का उपदेश, प्रेरणा या मार्गदर्शन न देते या न दे तो मनुष्य दुर्लभबोधि, बर्बर, नरभक्षी या पिशाचवत् अति स्वार्थी बना रहता, अफ्रीका के नरभक्षी मनुष्यों को मानव (इंसान) बनाने में वहाँ के साधुओं (पादरियों व धर्मगुरुओं)ने बहुत कष्ट-साध्य तप किया है। परन्तु उनमें जो भिक्षाजीवी या गृहस्थों के दान पर आश्रित साधु सन्त हैं, उनको जीवन की आवश्यक वस्तुएँ गृहस्थ लोग दान में देकर पूर्ति करें तभी वे साधु अपने शरीर, मन, बुद्धि आदि को स्वस्थ और सशक्त रखकर संघ (समाज) सेवा का उत्तम महान कार्य कर सकते हैं। इस प्रकार के मुनियों, श्रमणों या साधु-सन्तों को आहारादि दान देकर गृहस्थ को शेष अन्न को प्रसाद के रूप में सेवन करना चाहिए तथा ऐसे सत्पात्र को दान देना श्रावक का मुख्य धर्म

१. गृहस्थानामाहारदानादिकमेव परमो धर्मः । —परमात्मप्रकाश, टीका २/९/९

बताया है। रयणसार में इसी बात का समर्थन स्पष्ट रूप से किया गया है —

“जो मुणिभुक्तसेसं भुंजइ सो भुंजए जिणवद दिट्ठं ।

संसारसारसोक्खं कमसो णिव्वाणवर सोक्खं ॥”^१

“दाणं पूजामुक्खं सावय धम्मे, ण सावया तेण विणा ।”^२

— जो भव्य जीव मुनिवरों को आहार देने के पश्चात् अवशेष, अन्न को प्रसाद समझकर सेवन करता है, वह संसार के सारभूत उत्तम सुखों को पाता है और क्रमशः उत्तम मोक्ष सुख को भी प्राप्त कर लेता है।

सुपात्र को आहारादि चार प्रकार का दान देना श्रावक का मुख्य धर्म है, जो प्रतिदिन इन दोनों को मुख्य कर्तव्य मानकर करता है, वही श्रावक है, धर्मात्मा व सम्यग् दृष्टि है।

दान के बिना श्रावक, श्रावक नहीं रहता इस पर से जाना जा सकता है कि दान जब जीवन में अनिवार्य कर्तव्य है तो उसे प्राथमिकता दिया जाना कथमपि अनुचित नहीं है।

दान को पहला स्थान केवल इस लोक में ही नहीं, देवलोक में भी दिया जाता है। यहाँ से आयुष्य पूर्व करके जो भी व्यक्ति स्वर्ग में पहुँचता है, उसके लिए पहला प्रश्न यह अवश्य पूछा जाता है — “किं वा दच्चा, किं वा भुच्चा, किं वा किच्चा, किं वा समाचरित्ता ?” अर्थात् यह मनुष्यलोक से स्वर्ग में आया हुआ जीव वहाँ क्या दान देकर, क्या उपभोग करके, क्या कार्य करके अथवा क्या आचरण करके आया है ? मतलब यह है कि देवलोक में पहुँचते ही सर्वप्रथम और बातों का स्मरण न करके दान के विषय में ही पूछा जाता है, दान की ही बात सबसे पहले याद की जाती है, अन्य बातें बाद में पूछी जाती हैं।

इससे आप अंदाजा लगा सकते हैं कि महापुरुषों ने दान को धर्म के चार अंगों या मोक्ष के चार मार्गों में पहला स्थान क्यों दिया है ?

‘दानपर्व अक्षयतीज’

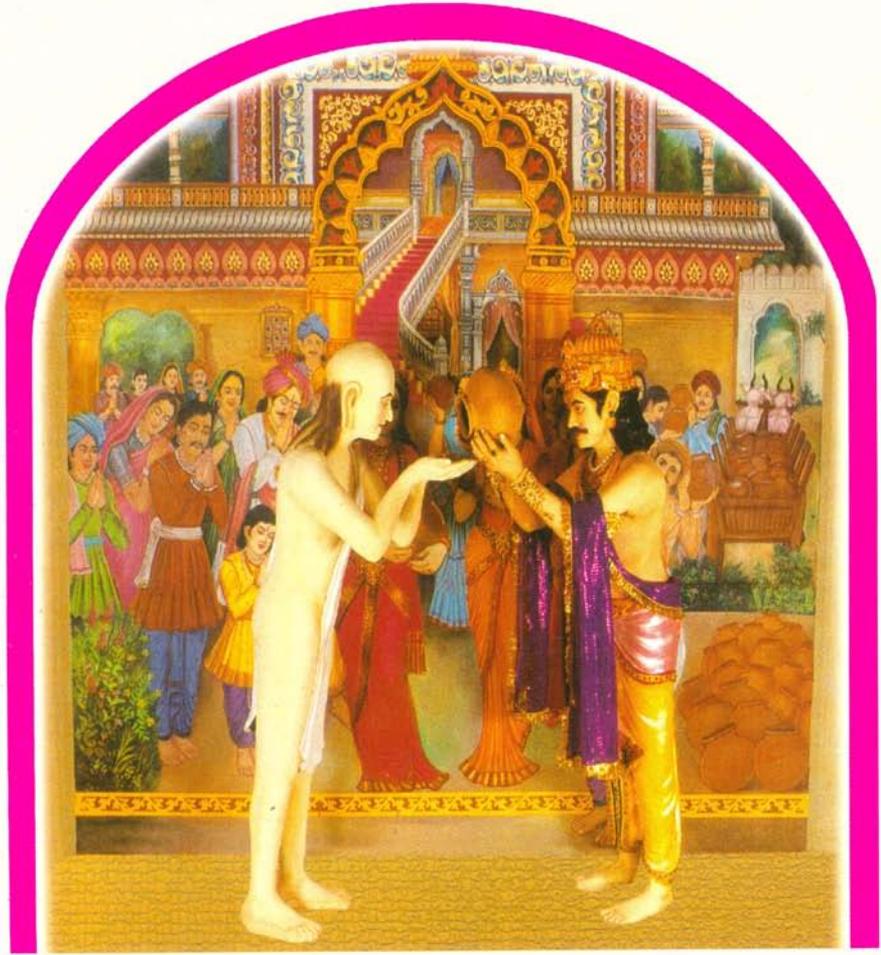
जगत अनादि-अनन्त है,
 ऐसे ही वृष कर्म,
 दाता के संग पात्र है,
 दान नियति का धर्म ।

संसार में जो भी कृत्य होता है आवश्यकता के अनुसार होता है, प्रकृति के अनुरूप होता है तो स्वभाव या धर्म कहलाता है और प्रकृति के प्रतिकूल होता है तो विभाव या अधर्म अर्थात् पाप कहलाता है। दान देना व दान लेना भी एक ऐसा ही उदात्त कृत्य है। बादल जल शोषित करके संग्रह कर लेता है और जब गर्मी से पृथ्वी-वनस्पति, जन-जीवन व्याकुल होने लगता है, वर्षा कर उन्हें सुख शीतलता प्रदान करता है तथा स्वयं भी हल्का हो निर्मल सौम्यता प्राप्त कर लेता है। इसी प्रकार मानव धन का अर्जन और संग्रहण करता है और जब वह जरूरत मन्द को देखता दया और करुणा से भर जाता है। उसकी आवश्यकता की पूर्ति करने को तत्पर हो जाता है। यह एक स्वाभाविक प्रक्रिया है परन्तु जब मानव सुसंस्कृति तथा उदात्त उत्कृष्ट परम्पराओं को आत्मसात करता है तो यह स्वाभाविक प्रकृति भूख पर खाओ, बचे तो खिलाओ पर चलती है। ‘दान देना’ उतना ही उत्कृष्ट कृत्य है जितना सेवा वैयावृत्ति, प्रेम-वात्सल्य, दया-करुणा की प्रवृत्ति। क्योंकि श्रम और धन जब दोनों मिल जाते हैं कर्म में पूर्णता तभी आती है।

कर्मयुग के आरंभ में मानव ने कर्म पुरुषार्थ का मर्म जाना। धर्म, अर्थ, काम पुरुषार्थ के बाद मानव के परम लक्ष्य या परम पुरुषार्थ के रूप में मोक्ष पुरुषार्थ अर्थात् आत्मा को परमात्मा बनाने जन्म-मरण के चक्कर से सदा-सदा के लिए मुक्ति पा लेने का भी लक्ष्य निर्धारित हुआ। इसके जनक या प्रवर्तक थे आदि तीर्थंकर ऋषभदेव। आगमानुसार इस कल्पयुग के प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव ने गृहस्थ जीवन में मानव को धर्मनीति, अर्थनीति, कामनीति के विधि विधान को बताया, उसे जीवन जीने की कला त्रैवर्ग (धर्म, अर्थ, काम)के पुरुषार्थ की रीति नीति बताई तथा जीविकापार्जन हेतु कृषि, मसि, असि, वाणिज्य, शिल्प और विद्या की विवेचना की। त्रैवर्ग-क्षत्रिय, वैश्य, शुद्र निर्धारित किये जो रूप,

बल, बुद्धि में जिस योग्य था, उसे उसी प्रकार के कर्म में दक्ष करने को शिक्षण-प्रशिक्षण दिया गया। लौकिक विधाओं का शिक्षण श्री ऋषभदेव ने स्वयं के एक सौ एक पुत्र दोनों पुत्रियों को दिया, तदुपरान्त उन विद्याविशेषज्ञों ने प्रजा को प्रशिक्षित कर सामाजिक संगठन, शासन-प्रशासन आदि के क्रिया कलापों में व्यवस्था का सूत्रपात किया था। मोक्ष पुरुषार्थ के लिए राजा ऋषभदेव स्वयम्भू दीक्षित हुये। वे केशलुंचन कर निर्ग्रन्थ अवस्था में छह माह के लिए ध्यानस्थ हो गये। और आहारचर्या को उठे तो 'आहारदान' की विधि से अनभिन्न लोग उन्हें आहारदान नहीं कर सके। क्रमशः तेरह माह नौ दिन बाद वैशाख शुक्ला तीज की रांजा श्रेयांस ने पूर्व जन्म आधार पर आहारदान की विधि को जान लिया तथा नवंधा भक्ति के साथ मुनिराज ऋषभनाथ को ईक्षु रस (गन्ने का रस) का आहार कराया। इस चिर प्रतिक्षित महापुण्य कृत्य 'आहारदान' से स्वर्ग के देव भी आल्हाद से भर गये और अनुमोदना करते हुए दिव्य पंचाशचर्य को उद्यत् हो गये। आकाश से रत्नवृष्टि, पुष्पवृष्टि, दुन्दुभीवादन, जयनिनाद एवं सुगन्धित शीतल मन्द फुहारों से वातावरण आनंद से भर गया। इस दान महात्म्य की सूचना तत्कालीन चक्रवर्ती सम्राट भरत को हुई तो उन्होंने स्वयं उस दान तीर्थ हस्तिनापुर में आकर राजा श्रेयांस का सम्मान कर 'दान तीर्थकर' की उपाधि से विभूषित किया। वह काल विशेष 'अक्षय पुण्य दिवस अक्षयतीज' के रूप में सर्वोत्कृष्ट शुभ मुहुर्त माना गया। अतः जैनों में ही नहीं जैनैतरो में इसे अन्य दानों के साथ 'कन्या दान' अर्थात् शुभविवाह का 'अनसूया साया' मान महान दिवस की मान्यता प्राप्त है। यह स्थान विशेष भी 'दान तीर्थ' मंगलतीर्थ के नाम से प्रसिद्ध हुआ। कालान्तर में इसी मंगल क्षेत्र हस्तिनापुर में त्रैपदधारी त्रैतीर्थकरों के चार-चार कल्याणक हुये हैं। तीर्थकर श्री शान्तिनाथ, श्री कुंथुनाथ, श्री अरहनाथ। तीनों ही तीर्थकर अर्थ पुरुषार्थ में श्रेष्ठतम चक्रवर्ती सम्राट, काम पुरुषार्थ में सर्वश्रेष्ठ कामदेव तथा धर्म प्रवर्तक तीर्थकर मोक्ष मार्ग बताने वाले अरिहंत भगवान् हुये।

यह 'अक्षय दान पर्व' सर्व शुद्ध शुभ मुहुर्तों में से एक है। अतः अक्षयदान फल सिद्धत्व प्रदायक है। इस दिन सर्वाधिक महत्त्व आहार दान का है। अतः सत्पात्रं निर्ग्रन्थ गुरुओं को आहार में ईक्षुरस अवश्य दिया जाता है। साथ ही गन्ने के रस की प्याऊ, शर्बत-लस्सी का वितरण परम्परा बन गया है।



पौत्र श्रेयांस के जेमणे पारणुं तमने कराव्युं,
वर्षने अंते पारणुं थातां मातानुं हैयुं हरखायुं.

आहारदान के साथ ही औषधिदान, ज्ञानदान, अभयदान ये चारों प्रकार के दान अक्षय सुख की प्राप्ति कराते हैं। 'दाणं पूया मुखम्' कहकर श्रावक का प्रथम और मुख्य कृत्य 'दान' देना ही है जिसमें श्रम और धन का सर्वोत्कृष्ट उपयोग कहा गया है। वास्तव में समीचीन दान के बिना न तो श्रमण चर्या मुनि धर्म चल सकता है न श्रावक का धर्म-कर्म पुरुषार्थ ही संभव है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष चारों ही पुरुषार्थ दान की आधारशिला पर ही खड़े होते हैं। अर्जन और विसर्जन, दिन और रात की तरह साथ चलते हैं। जन्म और मरण जीवन के दो छोर हैं उसी प्रकार आय-व्यय-धर्म की स्थिति है स्वभाव है आय (अर्जन) न्यायोपार्जन ही श्रेष्ठ है। उसी प्रकार व्यय का भी सदुपयोग हो यही उत्तम है। "अनुग्रहार्थं स्व स्याति सर्गोदानं" 'स्व' और 'पर' दोनों को लाभप्रद हो ऐसा व्यय 'दान के रूप में सम्भव है।'

मानव संसारी प्राणी से ही 'मुक्तजीव' बनता है। अतः उस मुक्त मार्ग का पाथेय दान ही है। आज जैन समाज सर्वाधिक दान देने वालों में गिना जाता है परन्तु उसका यह दान विषमता ही अधिक बढ़ा रहा है। इस अक्षय तृतीया के दान पर्व पर हमें आत्मभावलोकन अवश्य करना चाहिए। यह अक्षय पुण्यपरिधि हमें शाश्वत सुख की अक्षय नीधि देने आता है अतः दान-पुण्य का अमृत बीज वपन कर ही लेना चाहिए।

दान पर्व शुचि काल,
अक्षयतीज महान,
महापुण्य श्रेयस विमल,
दान मोक्ष सोपान।

ज्ञान दान के प्रदाता तीर्थंकर प्रभु और ज्ञान दान के पात्र गणधरादि देव हैं। इसलिये दान को साक्षात् रत्नत्रयरूप मोक्ष मार्ग बतलाया है। इतना ही नहीं कितने ही आचार्यों ने इस दान को आत्मधर्म बतलाया है।

सच तो बात यह है कि जिस प्रकार धर्मतीर्थ संसार समुद्र से अनंत प्राणियों को पार उतारकर निर्वाण-पद को प्राप्त करा देता है, परमात्मपद को प्राप्त करा देता है उसी प्रकार दानतीर्थ भी जीवों को परमात्मपद शीघ्र ही प्राप्त करा देता है। इसीलिये दान का माहात्म्य लोकोत्तर है, अवर्णनीय है और पंचाश्वर्य का

करनेवाला है। जिस दान के प्रभाव से दाता और पात्र दोनों ही समस्त संसार के दुःखों से निवृत्त होकर साक्षात् परमात्मा हो जाते हैं, अजर, अमर और अक्षय अनंतसुख के अधिकारी हो जाते हैं उस दानतीर्थ की महिमा किस प्रकार वर्णन की जा सकती है।

असल में तो दानतीर्थ की महिमा वीतराग प्रभु ने "अहोदानमहोदान" इस प्रकार से साक्षर्यरूप ही वर्णन की है। इन्द्रादिक देवगण भी पंचाक्षर्य कर दानतीर्थ की महिमा को प्रकट करने में असमर्थ हो गये। यह अद्भुत महात्म्य दानतीर्थ का किसको प्यारा नहीं होगा।

धर्म का फल प्रायः परोक्ष है परन्तु दान का फल कीर्ति सुयश और आत्मसुख प्रत्यक्षरूप से प्रकट होता है। दान के प्रदाता और दान के पात्र दोनों को प्रत्यक्ष में लाभ होता है।

वास्तविक विचार किया जाय तो धर्म और दान ये दोनों दो नहीं हैं, एक ही हैं। दान धर्म है और धर्म दान है। इसीलिये दान को उत्तम क्षमादि दश धर्मों में बतलाया है।

"उत्तम त्याग कहो जगसारा, औषधशास्त्र अभय आहारा।

निहचे रागद्वेष निखारे, ज्ञाता दोनों दान संभारे।"

कविवर द्वाचतरायजी ने दशलक्षणी पूजा में चार प्रकार के दान को ही त्याग धर्म बतलाया है।

जैसे वर्षा की बूँद धरती पर जहाँ भी गिरती है वहाँ ही हरियाली, वनस्पति, फल, फूल, वृक्ष आदि अगणित वस्तुएँ पैदा कर देती हैं वैसे ही सद्भावपूर्वक दिये गये दान की बूँद हजारों रूप में नये-नये विचित्र फल पैदा करती हैं।

धरती से अनाज की फसल प्राप्त करने के लिए किसान को सर्वप्रथम धरती को बीजवपन के रूप में, पानी के रूप में, खाद तथा सेवा के रूप में देना पड़ता है, बिना दिये धरती एक दाने से हजार दाने नहीं देती, इसी प्रकार जगत् का यह अचूक नियम है कि यदि प्राप्त करना चाहते हो तो अर्पित करना सीखें। दान ही प्राप्त करने का सर्वोत्तम उपाय है। दान प्रीजर्व (रक्षित करना) नहीं, अपितु ग्रो (संवर्द्धन वृद्धि करना) है।

इसीलिए नेताजी सुभाषचन्द्र बोस ने कहा था —

“यदी तुम प्राप्त करना चाहते हो तो अर्पित (दान) करना सीखो।”

इसलिए जिस व्यक्ति को विश्वास होता है, वह मुक्त मन से दान के बीज बोता है। चाहे वह नकद धन के रूप में मिले या पुण्यवृद्धि के कारण, सुख-साधन प्राप्ति के रूप में मिल जाता है।

ईरान का महादानी राजा साइरस अपने दान के लिए दूर-दूर तक प्रसिद्ध था। वह प्रतिदिन राज भण्डार से बहुत-सा धन दान दे दिया करता था। एक दिन उनके यहाँ दूसरे देश का एक अति धनाढ्य राजा आया। उसने साइरस की यह दान प्रवृत्ति देखी तो उसे बहुत बुरा लगा। उसने कहा — “अगर आप इस तरह अपना धन लुटाते रहे तो एक दिन खजाना खाली हो जायेगा। वक्त जरूरत पर आपको कौन मदद देगा ?”

साइरस बोला — “मुझे पक्का विश्वास है कि मुझे जब और जितने रुपयों की जरूरत होगी, तब उतने ही रुपये प्रजा अवश्य देगी। अगर आपको विश्वास न हो तो मैं कल ही आपको बताऊँ।”

अतिथि राजा बोला — “आप एक लाख खरब रुपये माँगिये।”

राजा ने घोषणा करवाई कि “कल मुझे एक लाख खरब रुपयों की जरूरत है।” बस, घोषणा की देर थी, तुरन्त ही प्रजाजनों ने अपने प्रिय राजा के लिए अपनी थैलियाँ खाली करनी शुरू कर दीं। बहुत-से लोगों ने राजा के लिए हीरे, पन्ने, माणक, मोती और सोने के आभूषण भेंट दिये। कुछ ही दिनों में सबकी जोड़ लगाई गई तो रकम एक लाख खरब रुपये से ऊपर पहुँच चुकी थी। राजा साइरस ने अतिथि राजा से कहा — “देखिये, राजन् ! मेरी प्रजाने मेरी माँग पूरी कर दी है। यह रकम एक लाख खरब रुपयों से काफी अधिक है। अगर मैं प्रतिदिन की लाखों की आमदनी संचित करके रखता तो मुझे उसके संचय, रक्षा व व्यय की कितनी चिन्ता करनी पड़ती। फिर प्रजाजन मुझसे ईर्ष्या करते। इस दान ने तो मुझे निश्चित बना दिया है।” साइरस ने प्रजा के द्वारा दी गई वह सम्पत्ति भी दान कर दी।

यह है निश्चितता और समय पर अर्थ-प्राप्ति के अमोघ उपाय-दान का

माहात्म्य ।

इसीलिए नीतिकार दान को धन की सुरक्षा का सर्वोत्तम उपाय बतलाते हैं—

“उपार्जितानामर्थानां त्याग एव हि रक्षणम् ।

तद्गोदरसंस्थानां परीवाह इवाम्भसाम् ॥” — पंचतन्त्र २/१५५

उपार्जित किये (कमाये) हुए धन का दान करते रहना ही उसकी रक्षा है । जैसे - तालाब के पानी का बहते रहना ही उसे गन्दा न होने देने का कारण है ।

महाकवि नरहरि सम्राट अकबर के दरबार में प्रसिद्ध कवि थे । एक बार उन्होंने दिल्ली से अपने पुत्र हरिनाथ के पास विपुल धनराशि भेजी । हरिनाथ ने वह सारा धन गरीब ब्राह्मणों को दान कर दिया ।

जलाशय में पानी संचित होकर पड़ा रहे तो वह गन्दा हो जाता है, उस पानी को बहते रहना जरूरी है; इसी प्रकार धन का भी बहते रहना अच्छा है, अगर दान का प्रवाह बहता रहता है, तब तो धन अनेक हाथों में जाकर सुरक्षित हो जाता है । दान के साथ ही पुण्यरूपी धन की भी सुरक्षा हो जाती है । दूसरे शब्दों में कहें तो दान पुण्य का रिजर्व बैंक है । इसमें पुण्यरूपी धन सुरक्षित हो जाता है ।

तथागत बुद्ध ने कहा —

“दिन्नं होति सुनीहितं ।”

दिया हुआ दान ही चिरकाल तक निधि रूप में सुरक्षित रहता है । एक विचारक ने भी कहा है —

“प्रदत्तस्य प्रभुक्तस्य दृश्यते महदन्तरम् ।

दत्तं श्रेयांसि संसूते, विष्ठा भवति भक्षितम् ॥”^१

दिये हुए एवं खाये हुए द्रव्य में बड़ा भारी अन्तर है । दिया गया द्रव्य श्रेय अर्जित करता है, पुण्योपार्जन करता है और खाये हुए का मल बनता है ।

जो दूसरों का दिया जाता है, वही वास्तविक धन है, क्योंकि वही

परलोक में साथ आने वाला है और इहलोक में भी पुण्यवृद्धि करके मनुष्य को सुख पहुँचाने वाला है। इसीलिए अत्रिसंहिता में भारतीय ऋषि का अनुभवसिद्ध चिन्तन फूट पड़ा —

“नास्ति दानात्परं मित्रमिहलोके परत्र च ।”

दान के समान इहलोक और परलोक में कोई मित्र नहीं है। दान इस लोक में भी मित्र की तरह पुण्यवृद्धि होने से सुख-सुविधा और सुख-सामग्री प्राप्त करा देता है, सुख पहुँचाता है और परलोक में भी दान मित्रवत् पुण्य उपार्जित कराकर प्राणी को उत्तम सुख व सामग्री जुटा देता है। इसलिए दान मित्र से भी बढ़कर है।

इसी से मिलती-जुलती एक कहावत लोक-व्यवहार में प्रसिद्ध है —

“खा गया, सो खो गया, दे गया, सो ले गया।

जोड़ गया, सिर फोड़ गया, गाड़ गया, झख मार गया।”

इसका तात्पर्य यह है कि इस संसार में व्यक्ति ने जो कुछ भी धनादि साधन जुटाये हैं, उन्हें स्वयं खानेवाला सब कुछ खो देता है, वह सुकृत के सुन्दर अवसर को हाथ से गँवा देता है और जो धन आदि पदार्थ कमा-कमाकर जोड़ता है, न खाता है, न खर्च करता है, न दान देता है, ऐसा व्यक्ति सारे के सारे पदार्थ जोड़-जोड़कर रख जाता है, उसने अपने उपार्जित द्रव्य से कुछ भी सुकृत नहीं कमाया और न ही स्वयं उपभोग किया, उसके पल्ले तो सिर्फ जोड़ने और सहेज कर रखने की माथाकूट ही पड़ी। इतनी सिरफोड़ी करके भी वह कुछ भी लाभ नहीं उठा सका। जो दूसरों की पूँजी को हजम कर जाता है या गाड़ जाता है वह तो व्यर्थ ही झख मारता है। इसलिए मनुष्य का वास्तविक धन तो वही है, जो वह दूसरों को दान दे देता है। उसकी वही पुण्य की पूँजी परलोक में उसके साथ जाने वाली है।

इन्दौर के सेठ हुक्मीचन्दजी से किसी ने पूछा — “आपके पास कुल सम्पत्ति कितनी है? लोगों को आपके धन की थाह ही नहीं मिल रही है। आप लक्ष्मीपुत्र हैं। जनता अनुमान ही अनुमान में गुम है। कोई दस करोड़ रुपये का अनुमान लगाते हैं, कोई बीस करोड़ रुपये का। वास्तविक स्थिति क्या है?”

सेठ मुस्कराते हुए बोले — “मेरी सम्पत्ति बहुत थोड़ी है। आपको

सुनकर आश्चर्य होगा - साढ़े सत्ताईस लाख रुपये ।”

प्रश्नकर्ता ने अविश्वास की मुद्र में कहा - “क्यों फुसलाते हैं, आप ! पचास लाख रुपये का तो केवल शीशमहल ही होगा । इसके सिवाय मिलें वगैरह हैं, सो अलग ।”

सेठ बोले - “आप मेरे कहने का आशय नहीं समझे । अभी तक इन हाथों से सिर्फ साढ़े सत्ताईस लाख ही दिये जा सके हैं । जो इन हाथों से दिये गये हैं और जनता के हित में जिनका उपयोग हुआ है, ये ही केवल मेरे हैं । कितनी थोड़ी-सी पूंजी है मेरी ।” इसलिए हाथ से दिया गया दान ही अपना धन है ।

यही बात नीतिकार भी कहते हैं कि - “किसी विशिष्ट कार्य के लिए जिसे धन तू देगा या जिसका उपभोग प्रतिदिन करेगा, उसे ही मैं तुम्हारा धन मानता हूँ । फिर बाकी का धन किसके लिए रखकर जाते हो ?”

व्यक्ति की वास्तविक पूँजी तो वही है, जो उसके हाथ से दान में दी गई है । जो केवल गाड़कर रखी गई है, वह पूँजी तो यहीं रह जाने वाली है, वह धूल या पत्थर के समान है । इसलिए दान दिया हुआ धन ही परलोक में पुण्य के रूप में साथ जाता है, अन्य धन या साधन तो यहीं पड़ा रह जाता है ।

सिकंदर बादशाह ने मरने तक आधी दुनियाँ की दौलत इकट्ठी कर ली थी और आधी दुनियाँ का राज जीत लिया था । किन्तु जिस समय वह मरने लगा तो अपने दरबारियों को बुलाकर कहा - “मेरे धन का मेरे सामने ढेर लगा दो, जिससे मैं देखकर संतुष्ट हो सकूँ और साथ में ले जा सकूँ ।”

उन्होंने तथा बड़े-बड़े विद्वानों ने कहा - “जहाँपनाह ! इसमें से जमीन या पदार्थ का जरा-सा कण भी, एक तागा भी आपके साथ आनेवाला नहीं है, यह धन और धरती यहीं पड़े रह जायेंगे, किसी के साथ में आते नहीं ।”

कहते हैं - सिकंदर को यह जानकर बहुत ही अफसोस हुआ, वह रोने लगा कि “हाय ! मैंने व्यर्थ ही लोगों को सताकर, उखाड़-पछाड़कर इतनी दौलत इकट्ठी की और इतनी धरती पर कब्जा किया । यह तो यहीं धरी रह

१. यह ददासि विशिष्टेभ्यो यच्चाशनासि दिने-दिने ।

तते वित्तमह मन्ये, शेष कस्यापि रक्षसि ॥”

जायेंगी।” अन्ततः उसे एक विचार सूझा और उसने चोबदारों से कहा — “मेरी अर्था निकाली जायें, उस समय मेरे दोनों हाथ जनाजे (अर्था) से बाहर रखे जायें, ताकि दुनियाँ यह नसीहत ले सके कि इतना धन या जमीन अपने कब्जे में करने पर भी इन्सान मरने के बाद खाली हाथ जाता है। साथ में कुछ नहीं ले जा सकता।” उन्होंने ऐसा ही किया। निष्कर्ष यह है कि जो धन अपने हाथों से दान में दे दिया जाता है, वही सार्थक है, वही अपना है।

“जो लक्ष्मी पानी में उठने वाली तरंगों के समान चंचल है, दो-तीन दिन ठहरने वाली है, उसका सदुपयोग यही है कि दयालु होकर योग्य पात्र को दान दिया जाये। ऐसा न करके जो मनुष्य लक्ष्मी का केवल संचय ही करता रहता है, न उसे जघन्य, मध्यम और उत्तम पात्रों में दान देता है, वह अपनी आत्मवंचना करता है। उसका मनुष्य जन्म पाना वृथा है।”^१

इसीलिए क्रियाकोषकार ने तो बहुत ही कठोर शब्दों में उसे फटकारा है, जो धन का दान न देकर यों ही पड़ा रखता है या गाड़े रखता है —

“जानौ गृद्ध-समान, ताकै सुतदारादिका ।

जो नहीं करे सुदान, ताकै धन आमिष समा ॥”

— जो दान नहीं करता, उसका धन माँस के समान है और उस धन का उपभोग करनेवाले पुत्र-स्त्री आदि गिहों की मण्डली के समान है।

जो मनुष्य-रात-दिन ममत्वपूर्वक उसका संग्रह करता रहता है। समय आने पर उसका दान नहीं करता, उसका जीवन पशु-पक्षियों या कीड़े-मकोड़ों की तरह निष्फल है। इसी सन्दर्भ में कार्तिकेयानुप्रेक्षा में सुन्दर चिन्तन दिया है—

“जो मनुष्य लक्ष्मी का संचय करके पृथ्वी के गहरे तल में उसे गाड़ देता है, वह उस लक्ष्मी को पत्थर के समान कर देता है। जो मनुष्य अपनी बढ़ती हुई लक्ष्मी का निरन्तर धर्मकार्यों में दान कर देता है, उसकी ही लक्ष्मी

१. लच्छी दिज्जउ दाणे दया-पहाणेण ।

जा जलतरंग चवला दो-तिण्णि दिणाइं चिट्ठेईं ॥१२॥

जो पुण लच्छि संचदि णय देदि पत्तेसु ।

सो अप्पाणं वंचदि, मणुयत्तं णिफलं तस्स ॥१३॥ — कार्तिकेयानुप्रेक्षा

सदा सफल है और पण्डितजन भी उसकी प्रशंसा करते हैं। इस प्रकार लक्ष्मी को अनित्य जानकर जो उसे निर्धन धर्मात्मा व्यक्तियों को देता है और बदले में प्रत्युपकार की वांछा नहीं करता उसका जीवन सफल है।”

उपर्युक्त उद्धरणों से यह स्पष्ट हो जाता है, उसी व्यक्ति का धन और जीवन सफल होता है, जिसने धन या साधनों को जोड़-जोड़कर पत्थरों की तरह जमीन में न गाड़कर भूखे-प्यासे अनाथ, अपाहिज दयापात्रों या गरीब धर्मात्मा व्यक्तियों को मुक्तहस्त से दिया है। इसीलिए एक पाश्चात्य विचारक कहता है—

“Life means giving” जीवन का अर्थ है — दान देना। इस सम्बन्ध में एक और उदाहरण याद आ जाता है।

गुजरात में जैसे जगडूशाह हुए हैं, वैसे महाराष्ट्र में शिराल सेठ भी दानवीर हुए हैं। एक बार जब बारह वर्ष का दुष्काल पड़ा तो उन्होंने अपने धन और अन्न के भण्डार खोलकर लाखों अभावग्रस्त लोगों को धन और अन्न मुक्तहस्त से दिया, इससे उन लाखों लोगों को जीवनदान मिला और शिराल सेठ ने अपने धन और जीवन को सफल किया।

जब शिराल सेठ की दानवीरता की बात मुगल बादशाह के कानों में पहुँची, तो उन्होंने दरबार में बुलाकर उनका बहुत सत्कार-सम्मान किया और कहा - “कुछ माँगो।”

शिराल सेठ को अपने दान के बदले में किसी वस्तु के लेने की इच्छा नहीं थी, किन्तु बादशाह के द्वारा बार-बार आग्रह करने पर उन्होंने साढे तीन घड़ी के लिए राज्य माँगा। बादशाह ने उन्हें साढे तीन घड़ी के लिए राज्य दे दिया। उतने ही समय में उन्होंने जगह-जगह सदाव्रत खोले, कोई भी बेकार न रहे, इसका प्रबन्ध कराया। मन्दिर, मस्जिद और धर्मस्थानों के लिए दी हुई

१. जो संचिरुण लच्छि धरणियले संतवेदि अइदूरे।

सो पुरिसो तं लच्छि पाहाण-सामाणियं कुणदि ॥१४॥

जो वडदमाण-लच्छि अणवरयं देदि धम्मकज्जेसु।

सो पंडियेहि थुव्वदि तस्स वि सहला हवे लच्छी ॥१९॥

एवं जो जाणित्ता विहलिय-लोयाण धम्मजुत्ताणं।

निरवेक्खो तं देहि हु तस्स हवे जीविअं सहलं ॥२०॥ — कार्तिकेयानुप्रेक्षा।

जमीन के साथ वर्षाशन कायम कराये। कई पाठशालाएँ खुलवाई।

बादशाह ने उनकी सब बातें मान्य की और उन्होंने बड़ी जागीरी दी। आज भी श्रावणवदी ६ को किसी-किसी गाँव में शिराल सेठ की स्मृति में उत्सव-मेला मनाया जाता है।

देशबन्धु चित्तरंजनदास के जीवन की एक घटना है। रविवार का दिन था। प्रातःकाल के समय अपने विशाल 'सेवासदन पुस्तकालय' में बैठकर कोर्ट के कुछ महत्त्वपूर्ण कागज देख रहे थे। इसी समय चपरासी ने हॉल में प्रविष्ट होकर बाहर मिलने के लिए आये हुए किसी आगन्तुक का विजिटिंग कार्ड उनके हाथ में दिया। उस पर नाम लिखा था — "उपेन्द्रनाथ बन्धुपाध्याय" — सम्पादक 'वसुमति'। नाम पढ़ते ही दास बाबू ने चपरासी से कहा — "कार्ड देने वाले को आने दो।"

चपरासी बाहर गया और उपेन्द्रबाबू को भीतर आने दिया। तुरन्त दासबाबू ने उनसे पूछा — "कहिए, क्या आज्ञा है?"

"आज्ञा तो कुछ नहीं है। प्रत्येक रविवार को प्रातःकाल आप दान देते हैं। अतः मैं दान लेने आया हूँ।" — वसुमति के सम्पादक ने कहा।

"मैं कौन हूँ, जो दान कर सकता हूँ। मुझ में दान देने का सामर्थ्य नहीं है। हम तो वकील हैं, देने का नहीं, लेने का धन्धा करते हैं। लोगों को लड़ाना और पैसे कमाना हमारा धन्धा है।" चित्तरंजन बाबू ने कहा।

उपेन्द्रनाथ — "आपको मेरी बात उपहास के योग्य लगती है। पर सच बात यह है कि मैं आपसे दान लेने को ही आया हूँ। आपको कदाचित् मालूम होगा कि कतिपय उच्च साहित्यकारों की सुन्दर पुस्तकें मूल्य अधिक होने के कारण जनता के हाथों में नहीं पहुँच पातीं। अतः इस स्थिति को दूर करने और आम जनता को उत्तम साहित्य सस्ते दामों में देने के लिए वसुमति कार्यालय ने एक योजना बनाई है और ८०० पृष्ठों की पुस्तक सिर्फ डेढ़ रुपये में देने को हम तैयार हैं। यह पुस्तक देखिये — यों कहकर उपेन्द्रनाथ ने उनके हाथ में पुस्तक थमा दी।"

दासबाबू ने पुस्तक हाथ में ली। उसके पृष्ठों को एक-दो मिनट तक

उलट-पलटकर कहा — “यह तो घाटे का व्यापार है।”

“नहीं, ऐसा नहीं है। अगर इस पुस्तक की एक साथ १० हजार प्रतियाँ छपाई जायें तो घाटा नहीं है। परन्तु १० हजार प्रतियाँ छपवाने के लिए मेरे पास रुपये नहीं हैं। अतः ईश्वरीय प्रेरणा होते ही मैं आपके पास आया हूँ।” उपेन्द्रबाबू ने कहा।

चित्तरंजन बाबू — “लेकिन इसके सम्बन्ध में मेरी ख्याति नहीं है। उसमें मैं यश भी नहीं चाहता। कलकत्ता में लगभग २०० जर्मीदार दानवीर हैं, उन्हें क्यों नहीं पकड़ते ?”

उपेन्द्रबाबू — “उनके हृदय चित्तरंजन बाबू जैसे विशाल और उदार नहीं है। उनके मकानों के जीने चढ़ते-चढ़ते जूतों के तलिये घिस गये हैं।”

दासबाबू — “कलकत्ते के धनवानों के लिए ऐसा मत कहिए।”

यों कहते हुए उन्होंने टेबल की दराज में से चैक बुक निकालकर उसमें कुछ लिखकर एक चैक उपेन्द्र बाबू के हाथ में दे दिया। उपेन्द्रबाबू चैक पढ़ते ही क्षणभर स्तब्ध रह गये। फिर उन्होंने कहा — “यह तो ५० हजार रुपये का चैक है। इतनी बड़ी रकम के लिए धन्यवाद ! परन्तु यह रकम वापस कब देनी होगी ? रकम का ब्याज भी निश्चित हो जाये और दस्तावेज भी लिखा लिया जाय।”

“यह सब खटपट रहने दो। मुझे न रकम वापस चाहिए, न ब्याज और दस्तावेज की जरूरत है।” दासबाबू ने कहा।

उपेन्द्रनाथ सिर्फ ५ मिनट में ५० हजार का चैक दान के रूप में पाकर देखते ही रह गये। इस अर्थराशि से उन्होंने रवीन्द्र ग्रन्थावली, रमेशचन्द्र ग्रन्थावली, योगेन्द्र ग्रन्थावली वगैरह ३६ ग्रन्थावलियाँ प्रकाशित कराकर सस्ते दामों में आम जनता को दीं।

यह है धन के सदुपयोग द्वारा जीवन को सफल बनाने का ज्वलन्त उदाहरण। सचमुच हमारे देश में ऐसे अनेक उदार महानुभाव हुए हैं, जिन्होंने अपना सर्वस्व देकर देश का और अपना गौरव बढ़ाया है।

दान सिर्फ दान नहीं, हृदय में अनेक गुणों का आदान भी है।

विदेशी साहित्यकार विक्टर ह्यूगो ने एक दिन ठीक ही कहा था — “ज्यों ही पर्स रिक्त होता है, मनुष्य का हृदय समृद्ध होता है।”

वास्तव में दान देना केवल देना ही नहीं होता, अपितु देने के साथ-साथ हृदय करुणा, मैत्री, बन्धुता, सेवा, सहानुभूति, परोपकार एवं आत्मीयता के गुणों से परिपूर्ण एवं समृद्ध होता जाता है। अव्यक्त रूप से दानी व्यक्ति में इन भावों के संस्कार सुदृढ़ होते जाते हैं। इसलिए एक अंग्रेज विचारक का यह कथन अनुभव की कसौटी पर सही उतरता है — “The hand that gives, gathers.”

“जो मानव अपने हाथ से दान देता है, वह देता ही नहीं, वरन् अपने हाथ से इकट्ठा (गुण, यश आदि) करता है।”

दान का अवसर पूर्व-जन्म के किसी प्रबल पुण्य से ही मिलता है। बहुत लोगों को तो दान देने की कभी भावना ही नहीं होती। इसलिए दान देने की भावना उठते ही या दान का अवसर आते ही ‘शुभस्य शीघ्रम्’ के अनुसार झटपट दान दे देना चाहिए।

भगवान महावीर का प्रेरणा सूत्र यही सन्देश देता है —

“मा पडिबंधं करेह।”

शुभकार्य में जरा भी ढील न करो। दान जैसे शुभ कार्य में प्रमाद करने पर बाद में उस अवसर के खोने का पश्चात्ताप होगा।

धरानगरी का राजा भोज अपनी साहित्यप्रियता और दानवीरता के लिए प्रसिद्ध था। सरस्वती और लक्ष्मी दोनों का उसमें अद्भूत संगम था। दान देते समय वह आगा-पीछा नहीं सोचता था, न दान देने के बाद पश्चात्ताप या किसी प्रकार का और विचार ही करता था। उसका प्रेरणा सूत्र यही चिन्तन था — “Give without a thought” “दो, पर किसी प्रकार का विचार किये बिना दो।” उसके मंत्री ने सोचा — “राजा अगर इसी तरह दान देता रहेगा तो एक दिन खजाना खाली हो जायेगा। इसलिए उसने कागज पर श्लोक की एक लाइन लिखकर राजा की शय्या के सामने दीवार पर टाँग दी। उस पर लिखा था — “आपदर्शे धनं रक्षेत्।” आपात्काल के लिए धन बचाकर रखना चाहिए। राजा

की दृष्टि श्लोक की इस लाइन पर पड़ी, उसने मन ही मन सोचा मुझे दान से रोकने के लिए शायद यह पंक्ति लिखकर टाँगी गई है। अतः उसने उस पंक्ति के नीचे लिख दिया — “श्रीमतामापदः कुतः।” भाग्यशालियों को आपत्ति कहाँ है ? दूसरे दिन मंत्री अपने लिखित श्लोक की पंक्ति की प्रतिक्रिया जानने की दृष्टि से राजा के पास आया और उसने राजा के द्वारा लिखी हुई उक्त पंक्ति देखी तो सोचा —

“अभी तक राजा के मन पर कोई असर नहीं हुआ है।” अतः उसने राजा की लिखी हुई पंक्ति के नीचे एक पंक्ति फिर लिख दी — “कदाचित् कुपितो देवः।” अगर भाग्य ही कभी कुपित हो गया तो ---- ? राजा ने उसे देखा और मन ही मन मुस्कराकर उसके नीचे यह लाइन लिख दी — “संचितोऽपि विनश्यति।” यानी संचित की हुई सम्पत्ति भी देव के कुपित होने पर नष्ट हो जाती है, इसलिए धन का संचय करके रखने के बजाय दान करते रहना चाहिए।

निष्कर्ष यह है कि धन का संचय करने की अपेक्षा उसका दान करना बेहतर है, क्योंकि दान करने से बाद में पश्चात्ताप करने का अवसर नहीं आयेगा। स्वेच्छ से दिया गया दान मन को सन्तुष्टि और शान्ति प्रदान करता है।

इस सम्बन्ध में चाणक्य नीति^१ का यह श्लोक बहुत ही प्रेरणाप्रद है—

“देयं भो ! ह्यधने धनं सुकृतिभिर्नो संचयस्तस्य वै ।

श्री कृष्णस्य बलेश्च विक्रमपतेरद्याऽपि कीर्ति स्थिता ॥

अस्माकं मधु दान-भोगरहितं नष्टं चिरात्संचितम् ।

निर्वेदादिति नैजपादयुगलं घर्षन्त्यहो ! मक्षिकाः ॥”

मधुमक्खियों का कहना है — “पुण्यात्माओं को धन का केवल संग्रह न करके निर्धनों को दान देते रहना चाहिए। क्योंकि उसी (दान) के कारण कर्ण राजा, बलि राजा और विक्रमादित्य आदि राजाओं का यश आज तक विद्यमान है। आह ! देखो, हमने जो शहद चिरकाल से संचित किया था, उसे न तो किसी को दान दिया और न स्वयं उपयोग किया, इस कारण वह नष्ट हो गया। इसी दुःख से हम मधुमक्खियाँ अपने दोनों पैरों को घिस रही हैं।”

इसी तरह जब दान और भोग से रहित संचित धन नष्ट हो जाता है, तो व्यक्ति मधुमक्खी की तरह सिर धुनकर हाथ मलता हुआ पश्चात्ताप करता है। इसके विपरीत जो उदारचेता होते हैं, वे राजा कर्ण की तरह देने में आनन्द की अनुभूति करते हैं। गुजरात के प्रसिद्ध कवि दलपतराय ने ऐसे लोगों को चेतावनी दी है —

“माखिए मध संचय कीधुं, नवि खाधुं नवि दानज दीधुं ।
लूटन हाराए लूटी लीधुं रे, पामरप्राणी, चेते तो चेताऊँ तने रे ।”

तृतीय अध्याय

दान की परिभाषा और लक्षण

भारत के समस्त धर्मों ने 'दान' को एक महान धर्म माना है। दान की व्याख्या अलग हो सकती है, दान की परिभाषा विभिन्न हो सकती है, परन्तु 'दान एक प्रशस्त धर्म' है। यह सभी स्वीकारते हैं। दान धर्म उतना ही प्राचीन है, जितनी प्राचीन मानव-जाति है। मानव जाति में दान कब से प्रारम्भ हुआ ? इसका उत्तर देना मुश्किल है। परन्तु इस सत्य को सभी स्वीकार करते हैं कि दान का पूर्व रूप सहयोग ही रहा होगा। संकट के अवसर पर मनुष्यों ने एक-दूसरे को पहले सहयोग देना ही सीखा होगा। सह-अस्तित्व के लिए परस्पर सहयोग आवश्यक भी था। क्योंकि समाज में सभी प्रकार के मनुष्य होते थे — श्रीमंत और गरीब, राजा और रंक। श्रीमंत पुरुष ही अपने जीवन को सुचारु रूप से चला सकता था और वह गरीब साथी की मदद भी कर सकता था। यह परस्पर 'सहयोग' समानता के आधार पर किया जाता था और बिना किसी प्रकार की शर्त के किया जाता था। भगवान महावीर ने अपनी भाषा में परस्पर के इस सहयोग को 'संविभाग' कहा था। संविभाग का अर्थ है — सम्यक् रूप से विभाजन करना। जो कुछ तुम्हे उपलब्ध हुआ है, वह सब तुम्हारा अपना ही नहीं है, परन्तु तुम्हारे साथी का तथा तुम्हारे पड़ोसी का भी उसमें सहभाव तथा सहयोग रहा हुआ है। महावीर के इस 'संविभाग' में न अहं का भाव था और न दीनता का भाव। इसमें एक मात्र समत्वभाव ही विद्यमान है। लेनेवाले के मन में भी ग्लानि नहीं है क्योंकि वह अपना ही हक ग्रहण कर रहा है और देने वाला भी यही समझ रहा है कि मैं यह देकर कोई उपकार नहीं कर रहा हूँ। लेनेवाला मेरा अपना ही स्नेही है। यह भाईचारे की भावना रहती है।

बाद में आया 'दान' शब्द। इसमें न सहयोग की सहृदयता है और न

संविभाग की व्यापकता एवं दार्शनिकता ही है। देने वाला दाता देता है अहंकार से भरकर और लेनेवाला ग्रहीता लेता है सिर नीचा करके। देनेवाला अपने को उपकारी मानता है और लेनेवाला अपने को उपकृत। यही कारण है कि 'दान' शब्द से पूर्व कुछ विशेषण जोड़ दिये गये हैं — अनुकंपादान, आहारदान, आदि।

दान शब्द का अर्थ है — देना। क्या देना ? किसको देना ? क्यों देना ? इसका कोई अर्थ-बोध दान शब्द से नहीं निकल पाता। शायद, इन्हीं समस्याओं के समाधान के लिए 'दान' शब्द को युग युगान्तर में परिभाषित करना पड़ा है। परन्तु कोई भी परिभाषा 'दान' शब्द को बाँधने में समर्थ नहीं हो सकी। 'दान' शब्द के सम्बन्ध में भेद-प्रभेद होते ही रहे हैं, मत-मतान्तर चलते ही रहे हैं, वाद-विवाद बढ़ते ही रहे हैं।

तस्यैव सफलं जन्म तस्यैव सफला क्रिया ।

सफलं गृहधान्यादि येन दानं कृतं शुभम् ॥^१

जिसने सुपात्र के लिये दान दिया है उसी का जन्म सफल है उसकी समस्त क्रियाएँ सफल हैं और उसकी गृह धन धान्यादिक विभूति का प्राप्त करना सफल है।

इसी तरह योगबिन्दु में लिखा है —

पात्रे दीनादिवर्गे च, दानं विधिवदिष्यते ।

पोष्यवर्गाविरोधेन, न विरुद्धं स्वतश्च यत् ॥^२

अन्य महर्षि ने भी दान के बारे में इसी प्रकार का लिखा है —

सुपात्र दानात् च भयत् धनाद्यो,

धन प्रभावेन करोति पूण्यम् ।

पूण्य प्रभायात् सुरलोक वासी

पूनर्धनाद्वः पुनरेय (पुण्य) भोगी ॥

सुपात्र को दान देने से मनुष्य धनवान बनता है। वह धनवान व्यक्ति उस दान के प्रभाव से वापस (पुनः) धर्म करता है, पुण्य के प्रभाव से वह पुण्यशाली ऐसे देवलोक में निवास करता है। पुनः वह धनवान के घर जन्म लेता है और फिर से पुण्य भोगता है।

विश्व के सभी धर्मों में दान शब्द मिलता है, इससे सहज ही मन में प्रश्न उठता है कि दान का अर्थ क्या है ?

‘दीयते इति दानम्’। दान का सामान्य अर्थ ‘देना है’ इस प्रकार के दान बिना जगत का एक भी व्यवहार नहीं चलता। सभी जगह पहले दान देना पड़ता है।

‘प्रथम देते हैं तभी बाद में मिलता है’। देने के बाद बदले में लेने की भावना सभी को होती है। इसीलिये देते हैं उससे कुछ ज्यादा ही सभी जगह प्राप्त करते हैं....

‘मनुष्य लेते हैं उससे कुछ कम ही देते हैं,
प्रकृति लेती है उससे ज्यादा वापस देती है।’

उपनिषद् के एक प्रसंग में कहा है — देव, असुर-मनुष्यों ने मिलकर एक बार ब्रह्मा से पूछा — हमें कर्तव्य-ज्ञान दीजिये। हम क्या करें ?

ब्रह्मा ने ‘द’ ‘द’ ‘द’ की ध्वनी की। देवताओं ने इसका आशय समझा — इन्द्रिय ‘दमन’ करो। असुरों ने इसका अर्थ लगाया — जीवों पर ‘दया’ करो। मनुष्यों को बोध प्राप्त हुआ — ‘दान’ करो।

सहज ही प्रश्न उठता है कि वह दान है क्या चीज ! उसका लक्षण क्या है ? उसकी परिभाषा क्या है तथा उसकी व्याख्या और स्वरूप क्या है ?

दान के शाब्दिक अर्थ के अनुसार हम ‘दीयते इति दानम्’ जो दिया जाता है वह दान है, यही अर्थ करेंगे तो बहुत-सी आपत्तियाँ आएंगी। इसलिए इसकी वास्तविक परिभाषा का ज्ञान होना अति आवश्यक है।

जैन दृष्टि से दान शब्द का लक्षण और व्याख्याएँ :

जैन धर्म के मूर्धन्य विद्वान एवं सूत्र शैली में आद्य ग्रन्थ प्रणेता तत्त्वार्थ-

सूत्रकार आचार्य उमास्वाति ने दान शब्द का लक्षण किया है —

“अनुग्रहार्थं स्वस्यातिसर्गो दानम् ।”^१

— अनुग्रह के लिए अपनी वस्तु का त्याग करना दान है ।

इसी तत्त्वार्थ सूत्र को केन्द्र में रखकर तत्त्वार्थ भाष्य, श्लोकवार्तिक, राजवार्तिक, सर्वार्थसिद्धि, आदि में इसी सूत्र की व्याख्या की है, वह क्रमशः नीचे दी जा रही है —

“स्वपरोपकारोऽनुग्रहः, अनुग्रहार्थं स्वस्यातिसर्गो दानं वेदितव्यम् ॥”^२

— अपने और दूसरे का उपकार करना अनुग्रह है । इस प्रकार का अनुग्रह करने के लिए अपनी वस्तु का त्याग करना दान समझना चाहिए ।

“परानुग्रहबुद्ध्या स्वस्यातिसर्जनं दानम् ।”^३

— दूसरे पर अनुग्रह करने की बुद्धि से अपनी वस्तु का अर्पण करना दान है ।

“आत्मपरानुग्रहार्थं स्वस्य द्रव्यजातस्यान्नपानादेः पात्रेऽतिसर्गो दानम् ।”^४

— अपने और दूसरे पर अनुग्रह करने के लिए अपने अन्नपानादि द्रव्य-समूह का पात्र में उत्सर्ग करना, देना दान है ।

“स्वस्थ परानुग्रहाभिप्रायेणाऽतिसर्गो दानम् ॥”^५

— अपनी वस्तु का दूसरे पर अनुग्रह करने की बुद्धि से अर्पण (त्याग) करना दान है ।

“परात्मनोरनुग्राही धर्मवृद्धिकरत्वतः ।

स्वस्योत्सर्जनमिच्छति दानं नामं गृहिव्रतम् ॥”^६

— धर्मबुद्धि करने की दृष्टि से दूसरे और अपने पर अनुग्रह करने वाली अपनी वस्तु का त्याग दान है, जिसे गृहस्थ व्रत रूप में अपनाते हैं ।

१. तत्त्वार्थसूत्र ६/१२

३. सर्वार्थसिद्धि ६/१२

५. तत्त्वार्थ सिद्धिसेनीयावृत्ति ६/१३

२. तत्त्वार्थ राजवार्तिक श्लोकवार्तिक

४. तत्त्वार्थ भाष्य

६. तत्त्वार्थसार ४/८८

“स्वपराऽनुग्रहार्थं दीयते इति दानम् ।”^१

अपने और दूसरे पर अनुग्रह करने के लिए जो दिया जाता है, वह दान है ।

“स्वपरोपकारार्थं वितरणं दानम् ।”^२

स्व और पर के उपकार के लिए वितरण करना दान है ।

“आत्मनः श्रेयसेऽन्येषां रत्नत्रयसमृद्धये ।

स्वपरानुग्रहायेत्यं यत्स्यात् तद्दानमिष्यते ॥”^३

— अपने श्रेय के लिए और दूसरों के सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय की समृद्धि के लिए इस प्रकार स्व-पर अनुग्रह के लिए जो क्रिया होती है, वह दान है ।

इस प्रकार ये सब व्याख्याएँ तत्त्वार्थसूत्रकार के लक्षण को केन्द्र बनाकर उसके ईद-गिर्द घूमनेवाली व्याख्याएँ हैं ।

अब हम क्रमशः इन पर विचार व विश्लेषण करें, जिससे स्पष्ट हो जायगा कि जैन दृष्टि से दान क्या है ?

सर्व प्रथम हम स्व-अनुग्रह के बारे में विचार करते हैं ।

अनुग्रह शब्द में यहाँ दान का उद्देश्य निहित है । किस प्रयोजन से कोई पदार्थ दिया जाय तब दान कहलाता है, यह बात ‘अनुग्रह’ शब्द में समाविष्ट हो जाती है । अनुग्रह का अर्थ उपकार करना होता है । अनुग्रह शब्द में स्व और पर दोनों का अनुग्रह अभिष्ट है । स्व और पर दोनों पर अनुग्रह करने की दृष्टि से अपनी वस्तु का त्याग करना दान बताया है ।

स्व-अनुग्रह का एक अर्थ यह है — अपने में (अपनी आत्मा में) दया, उदारता, सहानुभूति, सेवा, विनय, आत्मीयता, अहिंसा आदि विशिष्ट गुणों के संचय रूप (अथवा उद्भव) उपकार करना स्वानुग्रह है ।

१. सूत्रकृतांग वृत्ति, श्रु. १ अ. ११ तथा उत्तराध्ययनसूत्र एवं कल्पसूत्र वृत्ति ।

२. जैन सिद्धान्त दीपिका ।

३. उपासकाध्ययन ७६६

दूसरा अर्थ है — अपने में धर्मवृद्धि करना स्वानुग्रह है ।

तीसरा अर्थ है — अपने श्रेय-कल्याण के लिए प्रवृत्त होना स्वानुग्रह है ।

चौथा अर्थ है — दान के लिए अवसर प्राप्त होना स्वानुग्रह है ।

दान के साथ जब तक नम्रता नहीं आती, तब तक दान अहंकार या एहसान का कारण बना रहता है । इसलिए दान के साथ उपकृत भाव आना चाहिए कि मुझे अमुक व्यक्ति ने दान लेकर उपकृत किया ।

अनुग्रह दाता की नम्रवृत्ति का सूचक है, वह सोचता है — दान लेने वाले व्यक्ति ने मुझ पर स्नेह, कृपा अथवा वात्सल्य दिखाकर स्वयं मुझको उपकृत किया है, आदाता ने मुझ पर कृपा की है कि मुझे दान का यह पवित्र अवसर प्रदान किया है । इस प्रकार अनुग्रह शब्द के पीछे यही भावना छिपी है ।

दान का वास्तविक फल भी तभी मिल सकता है, जब दानदाता व्यक्ति के दिल में दान के साथ आत्मीयता हो, सहृदयता हो और लेने वाले का उपकार माना जाय कि उसने दान देने का अवसर दिया है या दान लेना स्वीकार किया है ।

वैदिक दृष्टि से कहें तो प्रत्येक मनुष्य को मन में यह विचार दृढ़तापूर्वक जमा लेना चाहिए कि मैं कुछ अन्नादि देता हूँ, वह भगवान का दिया हुआ है । अगर वह अभिमान करता है तो वह परमात्मा की दृष्टि में अपराधी है । यह भी एक प्रकार का स्वानुग्रह है ।

दूसरे प्रकार का स्वानुग्रह है — दान के द्वारा व्यक्ति के जीवन में धर्मवृद्धि का होना । धर्म का मतलब यहाँ किसी क्रियाकाण्ड या रूढ़ि परम्परा से नहीं है, अपितु जीवन में अहिंसा, सत्य, ईमानदारी, ब्रह्मचर्य एवं परिग्रहवृत्ति की मर्यादा समता आदि से है । व्यक्ति के जीवन में दान के साथ धर्म के इन अंगों का प्रादुर्भाव हो अथवा दुर्व्यसनों का त्याग हो, तभी समझा जा सकता है, उसका दान स्वानुग्रह कारक हुआ है । अन्यथा, दान देने से केवल प्रतिष्ठा लूटना, प्रसिद्धि प्राप्त करना, अपितु अपने जीवन में बेईमानी, शोषणवृत्ति, अन्याय, अत्याचार आदि पापकार्यों को न छोड़ना कोरी सौदेबाजी होगी । वह दान देने के

उद्देश्य को पूर्ण करनेवाला नहीं होगा। दान के साथ हृदय न बदलें तो वह दान ही क्या ?

तीसरे प्रकार का स्वानुग्रह है — अपने श्रेय (कल्याण) के लिए प्रवृत्त होना। व्यक्ति में जब सोया हुआ भगवान जाग जाता है तो वह सर्वस्व देकर अपरिग्रही बनकर कल्याणमार्ग में प्रवृत्त हो जाता है।

संत फ्रांसिस एक बहुत बड़े धनाढ्य के पुत्र थे। वे पहले अत्यन्त सुन्दर रेशमी वस्त्र पहना करते थे। एक बार एक भिखारी उनकी दुकान पर आया, वह फटे कपड़े पहने हुए था। उसे देखकर फ्रांसिस को दया आ गई। उन्होंने उसे पहनने के लिए कुछ रेशमी कपड़े देते हुए कहा — “लो भाई! ये अच्छे कपड़े पहन लो।” भिखारी ने उत्तर दिया — “महाशय! क्षमा करें यदि मैं इन रेशमी कपड़ों को पहनने लगूँगा तो फिर मुझे अपने भीतर बैठा हुआ परमात्मा नहीं दीखेगा, क्योंकि मेरी दृष्टि फिर इनकी चमक-दमक में ही उलझ जायेगी। तब इन कपड़ों और शरीर की संभाल में ही मेरी आयु समाप्त हो जायेगी। अपने परमात्मा का दर्शन कभी नहीं हो सकेगा।” यह सुनकर फ्रांसिस ने कहा — “मुझे भी ऐसा ही अनुभव हो रहा है।” यह कहने के साथ ही उन्होंने वे रेशमी कपड़े फाड़ डाले और अपनी दुकान का करोड़ों रुपयों का सब माल गरीबों को दान में देकर स्वयं उस भिक्षुक के साथ हो गये। निस्परिग्रही संत बन गये। ईसाई संतों में सेंट फ्रांसिस बहुत ऊँचे दर्जे के संत हो गये हैं।

चौथे प्रकार का स्वानुग्रह है — दान के माध्यम से अपने में दया, करुणा, उदारता, सेवा, सहानुभूति, समता, आत्मीयता आदि विशिष्ट गुणों का संचय करना। जब मनुष्य दान देता है तो मन में इस प्रकार के उच्च विचार आने चाहिए जो दया आदि सदगुणों के पोषक हों। अगर दान देते समय, देने के बाद या देने से पहले लेनेवाले के प्रति सदविचार नहीं हैं या दया, आत्मीयता या सहानुभूति के विचार नहीं हैं, तो वह नाटकीय दान निकृष्ट हो जायेगा अथवा दान के साथ लेने वाले के प्रति घृणा की भावना है, उसे हीन समझकर या एहसान जताकर अभिमानपूर्वक दिया जाता है तो वह दान के लक्षण में कथित उद्देश्य को पूर्ण नहीं करता। इसलिए एक आचार्य ने स्वानुग्रह का अर्थ किया है कि अपने में पूर्वोक्त विशिष्ट गुणों को संचय करना स्वोपकार है।

जब तक दान के साथ इन चारों में से किसी प्रकार का स्वानुग्रह नहीं होता, तब तक दान सच्चे अर्थ में दान नहीं होता, क्योंकि केवल देना दान नहीं है, उसके पीछे कुछ विचार होते हैं, भावना होती है, उसका उद्देश्य होता है, विचार किये बिना यों ही किसी को रूढ़िवश दे देना सिक्का फेंकना है — दान देना नहीं। अपनी वस्तु का दान देने और किसी के सामने वस्तु को फेंक देने में बहुत अन्तर है। इसलिए दान तभी सच्चे अर्थों में दान है, जब उसमें स्वानुग्रहभाव निहित होगा।

परानुग्रह :

स्वानुग्रह के साथ-साथ कई आचार्यों ने दान की व्याख्या में परानुग्रह शब्द भी जोड़ा है। परानुग्रह का सीधा-सादा मतलब है — अपने से अतिरिक्त दूसरे का उपकार करना।

एक आचार्य परानुग्रह का अर्थ करते हैं — अपने दान से दूसरों के रत्नत्रय की वृद्धि में सहायता करना 'परानुग्रह' है।

एक अर्थ यह है — दान देकर दूसरों के रत्नत्रय की उन्नति करना 'परानुग्रह' है।

दूसरा एक अर्थ यह भी है — दान देकर दूसरों की धर्मवृद्धि में सहायता रूप अनुग्रह करना।

परानुग्रह का यह अर्थ भी होता है — दूसरों पर आई हुई विपत्ति, निर्धनता, अभावग्रस्तता, प्राकृतिक प्रकोप की पीड़ा आदि निवारण करने का अनुग्रह करना।

परानुग्रह के पहले अर्थ के अनुसार किसी रत्नत्रयीधारी मुनि, जो धर्मात्मा हो, धर्मपालन कर रहे हों, सर्वस्व त्यागी हों, भिक्षाजीवी हों, उन्हें अपने रत्नत्रय-सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र के पालन के लिए आहार, वस्त्र, पात्र, औषध, ज्ञानदान आदि से सत्कारित करना, ताकि वे अपने शरीर की रक्षा करके रत्नत्रय में वृद्धि कर सकें, परानुग्रह है।

सुखाविपाकसूत्र में सुबाहुकुमार आदि का वर्णन आता है। सुबाहुकुमार ने ऐसे उत्कृष्ट महाव्रतधारी सुदत्त अनगर को इसी बुद्धि से स्वानुग्रहपूर्वक दान

दिया था। सुबाहुकुमार का यह दान स्वपरानुग्रह बुद्धि से था।

इस प्रकार के और भी अनेक उदाहरण जैनागमों में मिलते हैं, जिन्होंने स्वानुग्रहपूर्वक विविध मुनिराजों को दान देकर उन पर सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की वृद्धि रूप उपकार किया था।

श्रमण भगवान महावीर एक बार कौशाम्बी नगरी में १३ प्रकार की शर्तों का अभिग्रह लेकर विचरण कर रहे थे। वे अपने अभिग्रह (ध्येयानुकूल संकल्प) की पूर्ति के लिए प्रतिदिन नियमित समय पर कौशाम्बी नगरी के उच्च-नीच-मध्यम कुलों में आहार के लिए जाते थे, लेकिन कहीं भी उनका अभिग्रह पूर्ण न हो सका। आखिर वे घूमते-घूमते धनावह सेठ के यहाँ पधार गये। वहाँ राजकुमारी चन्दनबाला को मुण्डित मस्तक, हाथों में हथकड़ियाँ और पैरों में बेड़ियाँ पहनी तथा तीन दिन की उपवासी देखकर भगवान् महावीर ने उसी ओर पदार्पण किया। श्रमण भगवान महावीर को देखकर उसे अपार प्रसन्नता हुई कि मैं धनभाग्य हूँ जो तीर्थंकर जैसे महान् पात्र को दान दे रही हूँ पर उड़द के बाकुले जैसी तुच्छ वस्तु को देखकर उसकी आँखों में आँसू आ गये। वास्तव में तो अपनी दशा और देय-द्रव्य को देखकर ही वह द्रवित हो गई। भगवान महावीर का अभिग्रह पाँच महीने और २५ दिन के बाद उस दिन फलित हो गया। राजकुमारी चन्दनबाला के हाथ से उन्होंने उड़द के बाकुले ग्रहण किये। लेकिन वह दान भगवान के शरीर पोषण तथा उसके फलस्वरूप उनके रत्नत्रय को समृद्ध बनाने के लिए अनुग्रहकारक हुआ और चन्दनबाला के लिए स्वानुग्रहकारक बना।

इसी प्रकार भगवान ऋषभदेव भी एक वर्ष से अभिग्रह धारण किये हुए थे। विनीता (अयोध्या) नगरी के प्रजाजन इस बात को जानते ही न थे कि मुनि को आहार कैसे दिया जाये? फलतः उन्हें एक वर्ष तक निराहार रहना पड़ा। अकस्मात् विचरण करते-करते भगवान ऋषभदेव हस्तिनापुर पधार गये। वहाँ के राजा श्रेयांसकुमार को स्वप्न आया, जिसमें उन्होंने कल्पवृक्ष को अत्यन्त सूखा हुआ देखा, साथ ही अपने हाथ से सींचने पर उसे हरा-भरा देखा। श्री श्रेयांसकुमार ने उस स्वप्न पर बहुत अहापोह (विचार) किया, अतः उन्हें जातिस्मरण ज्ञान हो गया, जिसमें उन्होंने पूर्व-जन्म के पितामह श्री ऋषभदेव को जान लिया। वे ही

शुष्क कल्पवृक्ष के प्रतीक थे — तपस्या से शरीर सूख गया। श्री श्रेयांसकुमार के यहाँ जब दूसरे दिन अनायास ही भगवान ऋषभदेव पहुँच गये तो उन्हें अपने यहाँ आया हुआ इक्षुरस दिया। वह दान महादान था, वही भगवान ऋषभदेव के शरीर पोषण के माध्यम से उनके रत्नत्रय को समृद्ध बनाने का कारण बना इसलिए उस दान को स्व-परानुग्रहकारक कहें तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी। इस प्रकार के जितने भी दान आगमों में वर्णित हैं, वे ही स्व-परानुग्रहकारक होने से दान के उद्देश्य को सार्थक करते हैं, अन्य प्रकार के नहीं।

परानुग्रह का दूसरा अर्थ भी इसी से मिलता-जुलता है — दान द्वारा दूसरों के रत्नत्रय की उन्नति करना। यद्यपि परानुग्रह के साथ स्वानुग्रह तो गर्भित है ही; तथापि परानुग्रह बुद्धि की मुख्यता आचार्य ने दान के साथ अनिवार्य बताई है। इस प्रकार के परानुग्रह में भी त्यागी श्रमण-श्रमणी, मुनि, साध्वी आदि सुपात्र होते हैं। “मेरे दान से इनका ज्ञानादि रत्नत्रय बढ़ेगा, इनके शरीर में सुखसाता रहेगी तो ये धर्मवृद्धि करेंगे, हजारों व्यक्तियों को सन्मार्ग का उपदेश देंगे और पथभ्रष्ट को सुपथ पर लायेंगे।” इस प्रकार की परानुग्रह बुद्धि जब दान के साथ आती है तो वह दान देदीप्यमान हो उठता है। उस दान से दाता और आदाता दोनों की आत्मा में चमक आ जाती है।

इसी प्रकार की कथा गन्धश्रेष्ठी के बारे में भी आती है।

परानुग्रह के तीसरे अर्थ के अनुसार दान के द्वारा दूसरों की धर्मवृद्धि में सहयोग रूप में अनुग्रह करना है। दान देने के पहले या पीछे भी दाता की जहाँ यह भावना रहती है कि इस दान से आदाता के जीवन में धर्मवृद्धि हो, वह धर्म के उत्तम अंगों से विभूषित हो, उसका जीवन धर्म से ओतप्रोत और धर्म में हर समय सुदृढ़ बना रहे। इस प्रकार की भावना से दिया गया दान परानुग्रहकारक होता है।

यह परानुग्रहपूर्वक दान धर्म-प्राप्ति कराने के लिए होता है। विशेषतः उस समय यह विशेष रूप से परानुग्रहकारक होता है, जब व्यक्ति अपनी घृणित एवं हिंसापरक आजीविका एवं पूर्वज परम्परा के कारण पाप में डूबे रहे हों, तब उन्हें धर्म में संलग्न करने के लिए अपने धन, साधन आदि का दान दिया जाये।

उज्जयिनी के सम्राट कुणालपुत्र सम्प्रति राजा पूर्व-जन्म में एक भिक्षुक थे। आचार्य सुहस्तिगिरि से प्रतिबोध पाकर वे जैन मुनि बन गये थे। किन्तु जिस दिन वे मुनि बने थे, उसी दिन रात में भयंकर अतिसार रोग हो गया और उसी रात को उनका शुभ भावनापूर्वक देहान्त हो गया। वे मरकर राजा कुणाल के यहाँ पुत्र रूप में उत्पन्न हुए। यही सम्प्रति उज्जयिनी के सम्राट बने।

एक बार आचार्य सुहस्तिसूरि उज्जैन में पधारे हुए थे। शोभायात्रा नगर के आम रास्तों पर धूमधाम से निकल रही थी। आचार्य श्री सुहस्तिसूरि शोभायात्रा के साथ चल रहे थे। शोभायात्रा जब नगर के मुख्य मार्गों पर से होती हुई राजमहल के निकट पहुँची तो झरोखे में बैठे हुए सम्प्रति राजा टकटकी लगाकर आचार्यश्री की ओर देखने लगे। सम्प्रति राजा का चित्त आचार्यश्री की ओर अधिकाधिक आकर्षित होता गया। इसका कारण जानने के लिए सम्प्रति राजा गहरे मन्थन में पड गये। सोचते-सोचते राजा को जातिस्मरण ज्ञान उत्पन्न हो गया, जिससे उन्हें अपने पूर्व-जन्म की सब बातें याद हो आई कि "मैं एक दिन भिखारी होकर दाने-दाने के लिए घर-घर भटकता था। किन्तु मुझे मनुष्य जन्म का महत्त्व बताकर संसार-विरक्ति का प्रतिबोध इन्हीं आचार्यश्री ने दिया और मैंने इनसे मुनि दीक्षा ग्रहण की, एक ही रात्रि में मेरा कल्याण हो गया। इनके परम अनुग्रह से मैं राजकुल में पैदा होकर आज राज-ऋद्धि का उपभोग कर रहा हूँ। अतः इस अनुग्रहरूपी ऋण का बदला मैं कैसे चुकाऊँ?" यह सोचकर सम्राट सम्प्रति वहाँ से उठकर सीधे नीचे आये और आचार्यश्री के चरणकमल स्पर्श करके सविनय निवेदन करने लगे --

"भगवन् ! मैं आपका शिष्य हूँ।" आचार्यश्री ने कहा - "राजन् ! तुम्हारा कल्याण हो। तुम धर्म कार्य में रत बनो, धर्म से ही सब सम्पत्ति और पदार्थ मिलते हैं।" सम्प्रति राजा 'धर्मलाभ' सुनकर निवेदन करने लगा - "भगवन् ! आप ही के अनुग्रह से मैंने यह राज्य प्राप्त किया है। कृपया, यह राज्य अब आप स्वयं लेकर मुझे कृतार्थ कीजिये।"

आचार्यश्री ने उत्तर दिया - "यह प्रताप मेरा नहीं, धर्म का है। धर्म राजा, रंक सबका समान रूप से उपकार करता है। अतः जिस धर्म के प्रताप से यह सम्पत्ति उपार्जित की है, उसी धर्म की सेवा में यह व्यय करो, दान दो, जनता

को धर्ममार्ग में लगाओ। ऐसा करने से तुम्हारा भविष्य और भी उज्ज्वल होगा। हम तो निःस्पृही अर्किचन जैन श्रमण हैं, हमें इस राज्य-ऋद्धि से क्या सरोकार! अतः यही उचित होगा कि अपनी सम्पत्ति का दान देकर अनेक लोगों को धर्ममार्ग में लगाओ।'

आचार्यश्री के सदुपदेश को मानकर उसी समय राजा ने निर्णय कर लिया कि "मैं इस शोभायात्रा में सम्मिलित होकर राज्य में अहिंसा और व्यसन त्यागरूप धर्म प्रवर्तित करने की घोषणा करूँ।" शोभायात्रा की पूर्णाहुति के बाद उसने उद्घोषणा की — "आज से मेरे राज्य में कोई भी व्यक्ति पशु-पक्षी का शिकार न करे, शराब और माँस का सेवन न करे।" उसी दिन से उसने जैन-धर्मावलम्बी श्रावकों को धर्म में सुदृढ़ रखने हेतु हर तरह से सहायता देने की व्यवस्था की। जगह-जगह दानशालाएँ, धर्मशालाएँ, प्याऊ, कुएँ, तालाब, उद्यान, औषधालय, पथिकाश्रम वगैरह बनवाकर उनके लिए प्रचुर द्रव्य का दान किया। इसके लिए सबसे महान कार्य सम्राट सम्प्रति ने यह किया कि आन्ध्र आदि अनार्य देशों में लोगों को धर्म सम्मुख करने और धर्ममार्ग में लगाने हेतु अपने सुभटों को प्रचारक के रूप में भेजा। कुछ ही अर्से में वे सब प्रान्त साधुओं के विहार योग्य और सुलभ बन गये, तब उन्होंने आचार्यश्री से प्रार्थना की — "भगवन्! उन सुलभ अनार्य क्षेत्रों में जनता को धर्मोपदेश करके धर्म में सुदृढ़ करने हेतु साधुओं को भेजे।" वहाँ साधु पहुँचे और अनेक लोगों को धर्म-प्राप्ति हुई। इस प्रकार सम्प्रति राजा ने धर्म-प्राप्तिरूप परानुग्रह (जिसमें स्वयं धर्म-प्राप्तिरूप अनुग्रह तो था ही) के लिए करोड़ों रुपयों का दान दिया तथा प्रतिमाएँ भराई।

कर्मयोगी द्वारकाधीश श्रीकृष्ण ने भी द्वारकावासी अनेक धर्मप्रेमी भाई-बहनों को दीक्षा लेकर संयम पालन करने के रूप में धर्म-प्राप्ति के लिए दलाती की। उन्होंने तीर्थंकर अरिष्टनेमि प्रभु से जब द्वारकानगरी के भविष्य में विनाश होने की बात सुनी तो उनके दिल में एक विचार तीव्रता से उठा — "मैं द्वारकानगरी में इस बात की घोषणा करवा दूँ कि जो द्वारकावासी भाई-बहन भगवान अरिष्टनेमि के चरणों में दीक्षा लेकर श्रमण धर्म का पालन करना चाहते हों, वे निश्चिन्त होकर दीक्षा ग्रहण करें। उनके पीछे जो भी परिवार रहेगा, उनकी

प्रतिपालना, उनका भरण-पोषण, मैं अपनी धन-सम्पत्ति देकर करूँगा।" बस, इसी उत्कृष्ट विचार के कारण उन्होंने संसार का सर्वोच्च पद-तीर्थकर पद प्राप्त करने का पुण्य बन्ध कर लिया। उन्होंने सारी द्वारकानगरी में पूर्वोक्त प्रकार की घोषणा करवा दी और मुक्तहस्त से दान देकर हजारों धर्मात्मा पुरुषों और महिलाओं को धर्म-प्राप्ति करने में सहयोग दिया।

यह था दान द्वारा धर्म-प्राप्ति करने में सहयोग देकर किया गया परानुग्रह ! अपने दान द्वारा धर्म में स्थिर करना भी परानुग्रह है।

धरानगरी का जिनदास एक दिन बड़ा धनाढ्य, उदार और धर्मात्मा था। परन्तु मनुष्य की परिस्थिति सदा एक-सी नहीं रहती। परिस्थितियों ने पलटा खाया। यहाँ तक कि वह घर का खर्च चलाने में भी मजबूर हो गया। कहीं नौकरी भी नहीं मिली। मन में चिन्ता होने लगी कि अब क्या किया जाये ? आर्तध्यान धर्मध्यान को नष्ट कर डालता है। जिनदास के मन में भी संकल्प-विकल्प उठते थे 'परिस्थिति' ने उसे चोरी करने को मजबूर कर दिया। लेकिन शान्तनु सेठ ने सब कुछ जानते हुए भी उसकी मदद की तथा धर्म से च्युत होते हुए जिनदास को बचा लिया और उसे धर्म में स्थिर किया। यह दान (हार दान) के द्वारा धर्म-प्राप्ति रूप परानुग्रह हुआ।

इस प्रकार कई आचार्यों की प्रेरणा से कई लोगों ने दान (अर्थ-सहयोग रूप) द्वारा धर्मच्युत एवं हिंसा परायण लोगों को धर्म-प्राप्ति एवं धर्मवृद्धि कराई, वह भी सामूहिक परानुग्रह है।

जैसे रत्नप्रभसूरि ने ओसियाँ नगरी में राजा सहित सारी प्रजा को सप्त कुव्यसन छुड़ाकर राजा के योगदान से धर्म-प्राप्ति कराई, इसमें राजा का सहयोग दान भी परानुग्रह हुआ।

अब परानुग्रह के चौथे अर्थ पर भी विचार कर लें। इस अर्थ के अनुसार दान द्वारा दूसरों पर आई हुई विपत्ति, निर्धनता, अभावग्रस्तता, प्राकृतिक प्रकोप से उत्पन्न संकट आदि का निवारण करना अथवा निवारण में सहयोग देना परानुग्रह होता है। यह परानुग्रह तो समस्त धर्मों की आम जनता में प्रसिद्ध है।

कई बार व्यक्ति ऐसे संकट में पड़ जाता है, खासकर निर्धनता के कारण आर्थिक संकटों से घिर जाता है, उस समय उसे किसी न किसी उदार व्यक्ति के द्वारा सहायता की अपेक्षा होती है। यदि उस समय प्रेमभाव और उदारता के साथ सहायता रूप अनुग्रह मिल जाता है तो वह व्यक्ति अपने आपको सँभाल लेता है। अपनी खोई हुई शक्ति को बटोरकर वह पुनः अपने नैतिक कर्तव्य में संलग्न हो जाता है।

कई व्यक्ति स्वयं को कष्ट में डालकर भी दान द्वारा परानुग्रह करते हैं। उनका ऐसा परानुग्रह उच्च कोटि का होता है।

एक बार छत्रपति शिवाजी औरंगजेब के जाल से मुक्त होकर निकल गए। पर रास्ते में बीमार हो गए। उनके साथ में तानाजी व येसाजी थे। स्वस्थ होने में समय लगता देख उन्होंने महाराष्ट्र राज्य की सुरक्षा के लिए दोनों को वापस जाने की आज्ञा दी। येसा जी सावधानीपूर्वक शम्भाजी को लेकर महाराष्ट्र पहुँचे। तानाजी वहीं गुप्त रूप से रहे। मुर्शिदाबाद में बहुत यत्न करने पर शिवाजी को विनायक देव नामक ब्राह्मण ने अपने यहाँ आश्रय देना स्वीकार किया। वह अविवाहित युवक अपनी माँ के साथ रहता था। वह स्वभाव से ही विरक्त था, भिक्षा ही उसकी आजीविका का साधन थी। एक दिन भिक्षा कम मिली। अतः अपनी माँ और शिवाजी को उसने जो कुछ भिक्षा में आया, सब खिला दिया, स्वयं भूखा रहा। अर्किचन् ब्राह्मण की दरिद्रता शिवाजी के लिए असह्य हो रही थी। सोचा— “महाराष्ट्र जाकर धन भेज दूँगा।” पर दक्षिण जाने से पहले यवन बादशाह के हाथों बच पाऊँगा या नहीं? यह सन्देह है। अतः शिवाजी ने ब्राह्मण से कलम-दवात लेकर वहाँ के सूबेदार को लिखा— “शिवाजी इस ब्राह्मण के यहाँ टिक है। इसके साथ आकर पकड़ लें; लेकिन इस सूचना के लिए ब्राह्मण को दो हजार अर्शफियाँ दे दें। ऐसा नहीं करने पर शिवाजी हाथ नहीं आएगा।” सूबेदार जानता था कि शिवाजी बात के धनी हैं। उनकी इच्छा के विरुद्ध उन्हें पकड़ना खेल नहीं है। शिवाजी को दिल्ली दरबार में उपस्थित करने पर बादशाह से एक सूबा तक इनाम मिलने की सम्भावना थी। अतः दो हजार मुहरें लेकर वह उस ब्राह्मण के घर पहुँचा। वह थैली उस ब्राह्मण को सौंपकर शिवाजी को अपने साथ ले गया। ब्राह्मण को कुछ भी पता न था, क्योंकि वह तो शिवाजी को

गोस्वामी समझ रहा था। उनके सेवक तानाजी से उसने पूछा तो उन्होंने सारा गुप्त हाल बता दिया। ब्राह्मण सुनते ही मूर्च्छित हो गया। होश में आने पर रोने लगा— “शिवाजी मेरे अतिथि थे। हाय ! मुझ अभागे की दरिद्रता दूर करने के लिए उन्होंने अपने आपको शत्रु के हाथों में सौंप दिया, एक तरह से मृत्यु के मुख में स्वयं को दे दिया।” ब्राह्मण तानाजी से बार-बार हठ करने लगा कि “वे दो हजार मुहरें ले लें और उनसे किसी तरह शिवाजी को छुड़ा लावें।” ताना जी ने ब्राह्मण को आश्वासन दिया कि “वह बिना ही कुछ दिये, शिवाजी को छुड़ा लाएगा।” जो उत्तम प्रकार का दयालु व्यक्ति होता है, उसी में इस प्रकार का गुण होता है।

दान के अन्य लक्षण: जैन दृष्टि से —

कलिकाल सर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्राचार्यजी ने दान का लक्षण किया है—

“दानं पात्रेषु द्रव्य विश्राणनम्।”^१

इस लक्षण के अनुसार जघन्य, मध्यम, और उत्कृष्ट जो भी दान के सुपात्र एवं पात्र हैं, उन्हें अपनी वस्तु देना दान कहलाता है।

इसी प्रकार का एक लक्षण आचार्य हरिभद्र ने किया है —

“दानं सर्वेष्वेतेषु स्वस्याहारादेरतिसर्जन लक्षणम्।”^२

— सभी प्रकार के इन पात्रों में अपने आहार आदि का त्याग करना - देना, दान है। यह लक्षण भी पूर्वोक्त लक्षण से मिलता-जुलता है।

प्रश्नव्याकरणसूत्र की टीका एवं प्रवचनसारोद्धार में दान का लक्षण इस प्रकार किया है —

“लब्धस्यान्नस्य ग्लानादिभ्यो वितरणे।”

— प्राप्त अन्न को ग्लान, रोगी, वृद्ध, अपाहिज और निर्धनों में वितरण करना दान है।

दान के बारे में पाश्चात्य विद्वानों ने भी अपने मत प्रकट किये। कुछ के उदाहरण हम प्रस्तुत करते हैं —

१. योगशास्त्र स्वोपज्ञ विवरण २-३१

२. तत्त्वार्थसूत्र हारिभद्राया वृत्ति ६/१३

जॉन डी राकफेलर ने कहा है —

‘देना कर्ज नहीं समझों पर अपना अधिकार समझो ।’

“Think of giving not as a duty but as a privilege.”

केलविन कोलीज ने भी दान के बारे में अपने उद्गार निम्न शब्दों में प्रकट किया है कि —

किसी भी इंसान को कुछ पाने के लिए सम्मानित नहीं किया गया है । उसे सम्मान का पुरस्कार मिला है जब उसने दूसरों को दिया है —

“No person was ever honoured for what he received. Honour has been the reward for what he gave.”

इसी तरह कुछ हृदयस्पर्शी विचार विन्सटन चर्चिल भी प्रस्तुत करते हैं—

‘हम अपना गुजारा उससे करते हैं जो हमें मिलता है, पर हम अपनी जिंदगी उससे बनाते हैं जो हम दूसरों को देते हैं’ — उन्हीं के शब्दों में — “We make a living by what we get, but we make a life by what we give.”

एन. आर. नारायणमूर्ति ने भी कहा है कि — ‘पैसे की ताकत उसे देने में है ।’

‘The power of money is to give it away’.

आचार्य हेमचन्द्राचार्यजी के दान के लक्षण के अनुसार जो भी व्यक्ति दान के लिए पात्र है, उसे अपनी वस्तु प्रेमभाव से दे देना दान है । फिर यह नहीं देखना पड़ता कि वह पात्र विद्वान है या अनपढ़, वह साधु है या गृहस्थ, वह कोई भी हो, अगर संकटकाल है, अभाव से पीड़ित है या किसी रोग का शिकार है तो यह दान का पात्र है, बल्कि अनुकंपापूर्वक उसे देना चाहिए ।

एक बार निरालाजी के नाम से १,२०० रुपये पारितोषिक के रूप में रजिस्ट्री से आए । वह पारितोषिक निराला जी की भव्य भावपूर्ण कविताओं का था । महादेवी वर्मा ने वह रजिस्ट्री लेकर अपने पास उनके नाम से वह पैसा जमा करके रखा । कुछ ही दिनों बाद निराला जी को इस बात का पता लगा तो वे महादेवी जी के पास वे रुपये लेने आए । महादेवी जी जानती थी कि उनके हाथ

में रुपये टिकेंगे नहीं। अतः उन्होंने पूछा — “अभी आप इन रुपयों का क्या करेंगे ? मेरे पास रहने दो !”

निराला — “इस समय मुझे इन रुपयों की अत्यन्त आवश्यकता है। मुझे एक व्यक्ति को ये रुपये देने हैं।”

महादेवी — “किसे देने हैं ?”

“मेरे एकमात्र स्नेही मित्र की विधवा पत्नी को।” निराला जी ने सजल नेत्रों से जवाब दिया। “मेरा मित्र मरणासन्न था। उसकी आत्मा इस चिन्ता से पीड़ित थी कि मेरे मरने के बाद मेरे स्त्री-बच्चों का क्या होगा ? उसके हृदय की व्यथा देखकर मैंने उसे आश्वासन दिया — ‘परिवार की चिन्ता मत करो। मैं तुम्हारे बच्चों को पढ़ाऊँगा, उनके भरण-पोषण का प्रबन्ध करूँगा।’ यह सुनते ही उसकी मृत्यु हो गई। अतः यह धन मुझे उस पीड़ित मृत-आत्मा के परिवार को देना है। कुदरत ने मेरे वचन पूर्ण करने के लिए यह धन भेजा है।” महादेवीजी ने वे १,२०० रुपये निराला जी को सौंप दिये। वे रुपये लेकर मानो वह पराई अमानत हो, इस प्रकार ले जाकर तत्क्षण उन्होंने उस मृत मित्र की विधवा पत्नी को दे दिये। वह तो निराला जी की उदारता देखकर हर्ष-विभोर हो गई।

निःसन्देह निराला जी के द्वारा समय-समय पर दिये गए ये दान पात्र को दिये गए दान ही कहे जा सकते हैं।

इसी तरह देशबन्धु चित्तरंजनदास भी इतने उदार थे कि उनके पास जो भी गया, खाली हाथ नहीं लौटा। एक समय की बात है। एक छात्र, जो बहुत ही गरीब था, उनके पास कुछ सहायता माँगने के लिए आया। उनकी आर्थिक हालत उस समय तंग थी। अतः उनके सेक्रेटरी ने उस छात्र को वापस लौटा देना चाहा। संयोगवश देशबन्धुजी वहीं थे। उन्होंने जब सेक्रेटरी की बात सुनी तो वे वहीं से चिल्ला उठे — “छात्र को खाली हाथ लौटाने की अपेक्षा मेरा फर्नीचर नीलाम कर दो। मैं किसी भी दान के अवसर को खाली नहीं जाने दे सकता। यह योग्य पात्र है। इस छात्र ने दान का अवसर देकर मुझ पर उपकार किया है।” सेक्रेटरी ने चुपचाप कुछ रुपये छात्र के हाथों पर रख दिये।

यह है, योग्य पात्र में दान का अवसर न चूकने का मन्त्र !

दान और महादान में फर्क

दान शब्द की जो विभिन्न व्याख्याएँ प्रस्तुत की गई हैं, उनमें सामान्य दान की अपेक्षा विशिष्ट दान की व्याख्या भी है। सामान्य दान में तो प्रत्येक कोटि के पात्र को दान देने का विधान है, जबकि उत्कृष्ट पात्र (मुनिवर) को दिया जाने वाला आहार आदि पदार्थ उत्कृष्ट दान कहलाता है। यद्यपि दान के दोनों लक्षण तत्त्वार्थसूत्रकार के द्वारा प्रतिपादित लक्षण में समाविष्ट हो जाते हैं। उसे एक आचार्य ने महादान की संज्ञा दी है। उन्होंने महादान और दान का अन्तर बताते हुए कहा है —

“न्यायात्तं स्वल्पमपि हि भृत्यानुरोधतो महादानम् ।
दीनतपस्व्यादौ गुर्वनुज्ञया दानमन्यतु ।”^१

— भृत्य आदि के अन्तराय न डालते हुए थोड़ा-सा भी न्यायोपार्जित पदार्थ योग्य पात्र को देना महादान है, इसके अतिरिक्त दीन, तपस्वी, भिखारी आदि को माता-पिता आदि गुरुजनों की आज्ञा से देना दान है।

व्यापक दृष्टिकोण से जो भी योग्य (दान के योग्य) सुपात्र है, उसे देना महादान है, बशर्ते कि देय वस्तु न्यायोपात्त हो, शुद्ध भावनापूर्वक दी जाती हो, चाहे वह थोड़ी-सी ही क्यों न हो, वह महादान है; जबकि अनुकम्पा पात्रों को माता-पिता आदि गुरुजनों की अनुज्ञा से देय वस्तु देना सामान्य दान है।

राजकुमारी चन्दनबाला ने दासी-अवस्था में भगवान महावीर को देय वस्तु बहुत ही अल्प और अल्प मूल्य के उड़द के बाकुले के रूप में दी थी। लेकिन वह न्याय प्राप्त थी, भृत्यादि के अन्तराय डालकर किसी से छीनकर, अपहरण, शोषण, अत्याचार - अन्याय से प्राप्त वस्तु नहीं थी। साथ ही उत्कट भावपूर्वक वस्तु दी गई थी। इसलिए वह दान अल्प और अल्प मूल्य होते हुए भी महादान बना।

गुरुनानक के जीवन का एक सुन्दर प्रसंग है। गुरुनानक के अनेक शिष्यों में से एक शिष्य था — 'लालो' ! वह जाति का बढ़ई था और अपने गाढ़े श्रम से उपार्जित अन्न खाता था। एक बार गुरुनानक अपने इसी शिष्य लालो के गाँव में ठहरे हुए थे; तो मलिक भगो, जो मुगल सम्राट की ओर से उस प्रान्त का

गवर्नर नियुक्त था, गुरुनानक की सेवा में अपनी श्रद्धांजलि अर्पण करना चाहता था। गुरुनानक को अपने दरबार में आने के लिए उसने आमंत्रण दिया। जब गुरुनानक ने उसका आमंत्रण अस्वीकार कर दिया तो मलिक भगो स्वयं मिठाई का थाल लेकर गुरु की सेवा में उपस्थित हुआ। मलिक भगो की भेंट की हुई मिठाई जब गुरुनानक के सम्मुख रखी गई, तभी लालो के यहाँ से बाजरे की सूखी रोटियाँ सेवा में उपस्थित की गई। नानक साहब ने मिठाई खाने से इनकार कर दिया। इससे मलिक भगो बहुत ही उदास होकर गुरु से इन्कार करने का कारण पूछने लगा। गुरुनानक ने मलिक भगो द्वारा भेंट की हुई मिठाई को अपनी मुट्ठी में कसकर दबाया, जिससे उसमें से खून की बूँदें टपकने लगी और जब लालों की भेंट दी हुई सूखी बाजरे की रोटी को दबाया तो उसमें से दूध की धारा बहने लगी। उपस्थित जनसमुदाय के आश्चर्य का ठिकाना न रहा। गुरुनानक ने कहा — “न्यायपूर्वक अपने श्रम से कमाए हुए भोजन में से दूध की धारा बहती है, जबकि अन्याय-अत्याचार द्वारा प्राप्त मिठाई में से गरीबों का खून टपकता है।” इस घटना से मलिक भगो बहुत ही प्रभावित हुआ। उसने रिश्वत, झूठ-फरेब तथा अन्य नीच प्रवृत्तियों द्वारा धन इकट्ठा करने का पूरा वृत्तान्त जनता के सम्मुख कह सुनाया। उसी दिन से मलिक भगो अपने पुराने पेशे को छोड़कर गुरुनानक का परम भक्त हो गया और न्याय-नीतीपूर्वक श्रम करके अपने पसीने की कमाई खाने लगा और फिर गुरुनानक ने उसकी रोटी की भेंट स्वीकार की।

वास्तव में न्यायोपार्जित अन्न का दान ही श्रेष्ठ दान है, जिसके पीछे स्व-परानुग्रह की भावना भी होती है।

इसलिए दान की एक व्याख्या में कहा गया है —

“रत्नत्रयवद्भ्यः स्वक्तिपरित्यागो दानं, रत्नत्रयसाधनं दत्त्वा वा ।”

— “रत्नत्रयधारी साधु-साध्वी अथवा त्यागी पुरुषों को अपनी न्यायोपार्जित सम्पत्ति से प्राप्त आहारादि पदार्थ देना अथवा रत्नत्रय के पालन के लिए धर्मोपकरण देने की अभिलाषा करना।” वास्तव में यह व्याख्या भी उपर्युक्त महादान के लक्षण में ही गर्भित हो जाती है।

इस प्रकार सामान्य दान भी महादान की कोटि में तब पहुँच जाता है, जब वह अपनी न्यायोपार्जित कमाई में से दिया जाता है।

भगवान महावीर के समय में पूनिया नाम का एक उत्कृष्ट श्रावक हो चुका है, भगवान महावीर ने भी एक बार उसकी सामयिक साधना की प्रशंसा की थी। पूनिया सूत की पौनी बनाकर उन्हें बेचता था और उसी से अपना व परिवार का पोषण करता था। उसकी आय बहुत ही सीमित थी, पति-पत्नी दोनों अपनी इसी आय से अपना गुजारा चलाते और मस्त रहते थे। कहते हैं, प्रायः प्रतिदिन की कमाई साढ़े बारह दौकड यानी दो आने होती थी। उसी में से पूनिया की धर्मपत्नी अनाज स्वयं ताजा पीसकर रोटी बनाती थी। दोनों का पेट भरने के लिए इतना पर्याप्त था। मगर जिस दिन कोई अतिथि आ जाता, उस दिन वे उपवास कर लेते थे और अपने हिस्से का भोजन अतिथि को भेंट कर देते थे।

यह था पूनिया श्रावक का न्यायोपार्जित कमाई द्वारा प्राप्त अन्न का दान; इसे सच्चे माने में दान कहा जा सकता है।

इसके अतिरिक्त पूनिया श्रावक में यह विशेषता थी कि वह बिना श्रम से एक भी वस्तु अपने यहाँ रखता नहीं था, अगर कोई रख जाता तो उसका उपयोग अपने परिवार के लिए बिलकुल नहीं करता था।

एक दिन पूनिया के यहाँ एक विद्यासिद्ध अतिथि आए। उस दिन पूनिया के उपवास था। वह पूनिया के सन्तोष, सादगी, सरलता और सत्यता से प्रभावित हुआ। उस दिन पूनिया की पत्नी ने उस अतिथि को भोजन बनाकर स्नेहपूर्वक खिलाया। अतिथि तृप्त हो गया। अतिथि ने सोचा— पूनिया के घर में विशेष सामान तो कुछ नहीं है, बेचारे पति-पत्नी कठिनाई से गुजारा चलाते होंगे। मेरे पास विद्या की सिद्धि है तो क्यों नहीं इसे मदद करता जाऊँ। पूर्णिमा की चाँदनी आकाश में छिटक रही थी, तभी पूनिया को निद्रामग्न देखकर सिद्धपुरुष उठा और खड़े होकर रसोई में पड़ा लोहे का तवा उठाया, फिर उसके साथ पारसमणि का स्पर्श कराया तो तवा सोने का हो गया। सवेरा होते ही सिद्ध पुरुष ने पूनिया से विदा लेकर काशी की ओर प्रस्थान किया। पूनिया ने सुबह रसोईघर में देखा तो तवा नहीं मिला। लोहे के काले तवे के बदले वहाँ सोने का

तवा पड़ा था। पूनिया को इसका रहस्य समझते देर न लगी। उसने निःश्वास भरकर कहा- “अतिथि। तुमने तो जुल्म कर दिया। तुम तो चमत्कार कर गये, पर मैं अब नये तवे के लिए धन कहाँ से लाऊँगा? तुम्हारा यह सोने का तवा मेरे किस काम का? श्रम के बिना प्राप्त धन धूल के समान है, मेरा नियम है— अपने श्रम द्वारा उपार्जित वस्तु का ही मैं दान कर सकता हूँ।”

काफी अरसे के बाद अनेक स्थानों की यात्रा करके वे सिद्धपुरुष राजगृही आए और पूनिया के यहाँ महेमान बने! तब पूनिया ने कण्डों और लकड़ियों के ढेर में रखा हुआ वह सोने का तवा लाकर अतिथि के सामने रखते हुए कहा— “लो यह अपना तवा! मुझे नहीं चाहिए। आपको तो सद्भावना से मुझे मदद करने की सूझी होगी, पर मैं बिना महेनत का सोना लूँगा तो मेरी सोने-सी शुद्ध बुद्धि काली हो जाएगी? फिर तो मुझ में लेने की आदत पड़ जाएगी, अतिथि-सत्कार करने या दान करने की वृत्ति ही नहीं रहेगी। धनकुबेर हो जाने पर भी मुझे देने की नहीं, लेने की बात सूझेगी।”

विद्यासिद्ध व्यक्ति ने पूनिया को नमस्कार करते हुए कहा — “धन्य हो पूनिया! मैंने तो वर्षों में जाकर विद्यासिद्ध की है, परन्तु आपने तो सच्ची विद्या सिद्ध कर ली है।” आपसे मैं संतोष विद्या का लाभ प्राप्त कर सका हूँ, जो तीर्थ स्नान के लाभ से अनेक गुना बढ़कर है। तो, इस प्रकार अपनी न्यायोपार्जित शुद्ध कमाई में से योग्य व्यक्ति को देना महादान है। महादान में मुख्यता अंतःकरण की पवित्र प्रेरणा की है, यदि यह परम्परानुसार बिना किसी विशेष भावना के दिया जाता है तो वह सामान्य दान कहा जाता है।

दान और संविभाग

यथाशक्ति संविभाग ही दान है। आद्य शंकराचार्य ने दान का अर्थ किया है — “दानं संविभागः।” दान का अर्थ है — सम्यक् वितरण - यथार्थ विभाग अथवा संगत विभाग। अपने पास जो कुछ है, उसका यथाशक्ति उचित विभाजन करने के अर्थ में दान शब्द का प्रयोग स्वामित्व, स्वत्व, ममत्व और अहंत्व की वृत्ति को कोई गुँजाइश ही नहीं देता।

इसलिए संविभाग के अर्थ में जो दान है, वह दान का परिष्कृत अर्थ है और इसी अर्थ में दान को जैन धर्म ने स्वीकार किया है। सद्गृहस्थ श्रावक के लिए बारहवाँ यथासंविभागव्रत निश्चित किया है, वहाँ दान शब्द में अहंत्व, हीनत्व-गौरवत्व की भावना आ जाने के अंदेश के कारण दान शब्द का प्रयोग न करके ‘यथासंविभाग’ का प्रयोग किया गया है। बाद में इस व्रत का नाम अतिथि-संविभागव्रत रूढ़ हो गया।

जैन गृहस्थ श्रावक अपने समस्त परिग्रह का परिमाण (मर्यादा) करता है, वह भी मर्यादा से उपरान्त वस्तु या साधनों को अपनी न मानकर समाज की अमानत मानता है और समय-समय पर समाज के विशिष्ट सत्कार्यों में या अमुक्त योग्य पात्रों को देता रहता है। वह दान के योग्य पात्रों में कई बार कई संस्थाओं को भी देता है। उन्हें भी अतिथि समझता है, क्योंकि संस्थाओं के प्रतिनिधियों के आने की भी कोई तिथि नियत नहीं होती। यही कारण है कि ‘यथासंविभाग’ शब्द बाद में घिसता-घिसता ‘अतिथि संविभाग’ के रूप में प्रचलित हो गया।

दान के सभी लक्षणों का इसमें समावेश हो जाता है। क्योंकि स्व-परानुग्रह रूप उद्देश्य तो ‘यथा’ शब्द में गर्भित हो ही जाता है। क्योंकि जब देने वाला दान देते समय पात्र की स्थिति, आवश्यकता एवं उसके योग्य वस्तु का विचार करेगा, तो उसमें परानुग्रह तो आ ही जायेगा, स्वानुग्रह भी, दान देने वाला समाज के ऋण से मुक्त होकर उपकृत होता है अथवा अपनी आत्मा के लिए प्रतिलाभ प्राप्त करता है, इस प्रक्रिया में आ जाता है। स्वत्व अहंत्व-विसर्जन भी इसमें गतार्थ है। इस व्रत में ‘यथा’ शब्द ही एक ऐसा पडा है, जो दान के साथ सब प्रकार का विवेक करने के लिए प्रेरित करता है। ‘यथा’ शब्द के प्रकाश में

दाता यह देखेगा कि इस दान का पात्र कौन है ? उसकी योग्यता स्थिति और आवश्यकता कितनी है और किस वस्तु की है ? इस दान से उसके आलस्य, अन्याय या विलास का पोषण तो नहीं होगा ? इसीलिए श्री शंकराचार्य ने भी आगे चलकर केवल 'संविभागः' के बदले 'दान यथाशक्ति-संविभागः ।' — जैसी जिसकी शक्ति (योग्यता, क्षमता, आवश्यकता, स्थिति आदि) है, उसके लिए तदनुसार यथोचित विभाग करना दान है, कहा । इस अर्थ के अन्तर्गत समाज के इस ऋण को अदा करने की प्रक्रिया भी आ जाती है । व्यक्ति माता, पिता, पड़ोसी, गुरु, मित्र, परिवार, जाति, धर्म, संघ आदि की सेवा के कारण पुष्ट होता है, अतः उनकी सेवा करने तथा समाज के उस ऋण को अदा करने की प्रक्रिया को दान कहा जाता है । इस लक्षण में न तो गरीबों की अप्रतिष्ठा है और न ही धनिकों के अंहत्व का पोषण है । इससे यह भी फलित होता है कि जो अनुचित विभाजन हो गया हो, विषमता आ गई हो, उसे मिटाने के लिए समुचित विभाजन करना दान की प्रक्रिया है, इसी का समावेश 'दानं सम्यग् विभाजनम्' के अन्तर्गत हो जाता है ।

दान का परिष्कृत अर्थ शंकराचार्य के अनुसार पूर्वोक्त सभी उद्देश्यों एवं स्वत्व-विसर्जन की प्रक्रिया को चरितार्थ करता है ।

संविभाग के अनुसार एक घटना इस प्रकार है ।

महाराष्ट्र के संत एकनाथ के जीवन का एक प्रसंग है । एक बार उनके यहाँ श्राद्ध था । भोजन तैयार हो गया । वे घर के द्वार पर खड़े होकर निमन्त्रित ब्राह्मणों की प्रतीक्षा कर रहे थे । इतने में उस ओर से ४-५ चमार जाति के लोग निकले । एकनाथ के घर में बने मिष्ठान तथा सुस्वादु भोजन की महक से उनका मन ललचाया । वे आपस में बातें करने लगे । उनकी बातें एकनाथ के कानों में पड़ी । उनका दयाद्र हृदय पसीज गया । मन में विचार आया कि इस भोजन के सच्चे अधिकारी तो ये हैं । गीता में कहा है — "दरिद्रान् भर कौन्तेय । मा प्रयच्छेश्वरे धनम् ।" — दरिद्रों का भरण-पोषण करना चाहिए । उन्होंने अपनी पत्नी गिरिजाबाई को बुलाकर कहा — "इन बेचारों ने कभी उत्तम भोजन का स्वाद नहीं लिया । मैं चाहता हूँ कि श्राद्ध के लिए बना हुआ भोजन इनको दे दिया जाये । ये लोग भोजन करके तृप्त होंगे । इनकी आत्मा को सुख मिलेगा ।"

एकनाथ की पत्नी ने उत्साहपूर्वक ब्राह्मणों के लिए बनाया हुआ भोजन चमार लोगों को दे दिया । गिरिजाबाई ने ब्राह्मणों के लिए फिर से रसोई बना ली । परन्तु सारे नगर में यह बात फैल गई कि एकनाथ ने ब्राह्मणों के लिए बनाया हुआ भोजन चमारों को दे दिया । सभी ब्राह्मणों ने मिलकर निश्चय किया कि एकनाथ के घर कोई भोजन के लिए न जाये । एकनाथ ने नम्रतापूर्वक बहुत समझाया, पर ब्राह्मणों ने इन्कार कर दिया । श्रद्धालु एकनाथ को ब्राह्मणों के इन्कार से बड़ी चिन्ता हुई । सोचन लगे- “पितर तृप्त न हुए तो क्या होगा ?” परन्तु उनके श्रीखण्ड नामक नौकर ने कहा — “आप निश्चिन्त रहिए, इस प्रकार दिये हुए श्राद्ध भोजन से पितर अवश्य तृप्त होंगे ।” कहते हैं, पितरों ने स्वयं आकर थाली में परोसा हुआ अन्न ग्रहण किया । इससे एकनाथ को बहुत ही प्रसन्नता हुई । ब्राह्मणों को इस घटना से बहुत लज्जित होना पड़ा ।

वास्तव में श्राद्ध में निमित्त बने हुए भोजन का दान-सम्यक् विभाग के रूप में चमार लोगों को देकर एकनाथजी ने अपना दान और श्राद्ध दोनों सार्थक किये ।

दान का संविभाग अर्थ तभी सार्थक होता है, जब दाता की वैसी भावना बनें और वह स्वेच्छा से दान के लिए प्रेरित हो । दान में तो ऐश्वर्य और स्वैच्छिक अहोभाव की भूमिका पाई जाती है कि मेरे पास जो कुछ है, उसे मैं सबको कैसे बाँटूँ ?

इस प्रकार संविभाग रूप दान में दान की सभी व्याख्याएँ आ जाती हैं ।

यथा संविभाग का प्राचीन आचार्यों ने जो अर्थ किया है, वह इस प्रकार है —

“यथासिद्धस्य स्वार्थे निर्वर्तितस्येत्यर्थः अशनादेः

समितिसंगतत्वेन पश्चात्कर्मादिदोष परिहारेण विभजनं

साधवे दानद्वारेण विभागकरणं यथासंविभागः ।” १

— जिस प्रकार अपने (गृहस्थ के) घर में आहारादि अपने लिए बना हुआ है, उसका एषणा समिति से संगत पश्चात्कर्म आदि आहार दोषों को दालकर साधु-साध्वी को दान के द्वारा विभाग करना यथासंविभाग है ।

प्राचीन आचार्यों ने यथासंविभाग का पूर्वोक्त अर्थ करके श्रावक के बारहवें व्रत को केवल साधु-साध्वियों को दान देने में ही सीमित कर दिया है। संविभाग का यह प्राचीन अर्थ आत्म-शुद्धि की दृष्टि से तो परिपूर्ण है, किन्तु जहाँ सामाजिकता का या मानवता का प्रश्न आता है वहाँ इस पर कुछ व्यापक चिन्तन करना आवश्यक है। यह ठीक है कि सद्गृहस्थ अपने शुद्ध निर्दोष आहार आदि में से संयति श्रमण आदि को प्रतिलाभित कर आत्म-कल्याण के पथ पर आगे बढ़े, किन्तु गृहस्थ को सदा सर्वत्र संयति अणुगारों का योग मिलता कहाँ है। मुनिजनों का विहार क्षेत्र बहुत सीमित है, बहुत कम अवसर ही जीवन में ऐसे मिलते हैं जब उनको शुद्ध एषणीय आहार आदि देकर धर्मलाभ लिया जाय, ऐसी स्थिति में तो दान धर्म का क्षेत्र बहुत ही सीमित हो जायेगा, जबकि यह तो प्रतिदिन प्रत्येक स्थान पर किया जाना चाहिए। इसलिए अतिथिसंविभाग को व्यापक अर्थ में लेवें तो यह स्पष्ट होगा कि उसका मूल उद्देश्य तो गृहस्थ को उदार और लोभ एवं आसक्ति से रहित बनाना था, ताकि वह प्रतिदिन इस व्रत के माध्यम से उदारता का अभ्यास कर सके।

दान के जितने भी लक्षण, परिभाषाएँ और व्याख्याएँ हैं, वे सब एक-दूसरे के साथ परस्पर संलग्न हैं। इसीलिए कई आचार्यों ने बाद में दान का परिष्कृत अर्थ भी दे दिया है।

इससे यह भी स्पष्ट हो गया कि दान मानव-जीवन का अनिवार्य धर्म है, इसे छोड़कर जीवन की कोई भी साधना सफल एवं परिपूर्ण नहीं हो सकती, दान के बिना मानव-जीवन नीरस, मनहूस और स्वार्थी है, जबकि दान से मानव-जीवन में सरसता, सजीवता और नन्दनवन की सुषमा आ जाती है।

दान के लक्षण

अहंत्व, स्वत्व और स्वामित्व के विसर्जन की भावना ही दान की सफलता है ।

जो वस्तु दी जाय, उस पर से स्वामित्व, ममत्व या स्वत्व (अपनापन) हटा लेना, उसका त्याग कर देना, 'इदं न मम' — यह मेरा नहीं है, इस संकल्प के साथ दूसरे को अपनी मानी हुई वस्तु सौंप देना, अर्थात् वस्तु पर अपना स्वामित्व छोड़कर दूसरे का स्वामित्व स्थापित कर देना है ।

पाश्चात्य विद्वान् जे. आर. मिलर ने अपने भावोद्गार निम्न शब्दों में प्रस्तुत किये हैं ।

It is not having that makes men great. A man may have the largest abundance of God's gifts- of money, of mental acquirements, of power, of heartpossessions and qualities — yet if he only holds and hoards what he has for himself, he is not great.

Men are great only in the measure in which they use what they have to bless others. We are God's stewards, and the gifts that come to us are his, not ours, and are to be used for him as he would use them.'

जो अपने पास है उससे इंसान महान् नहीं बनता । इंसान के पास भगवान के दिये हुए उपहार हो — धन-संपत्ति, बुद्धि, शक्ति, दिल की मिलिक्यत और गुण — पर वह उसे अपने लिए पकड़कर व संग्रह कर रखता है, तो वह महान नहीं है ।

इंसान उसी प्रमाण में महान है जब वह अपने पास जो है उसे दूसरे के लिए उपयोग करे । हम भगवान के प्रबन्धक हैं और जो उपहार हमें मिलते हैं वह उसके हैं, हमारे नहीं, और उसे ऐसे इस्तेमाल करना है जैसे वो उसे इस्तेमाल करेगा ।

इसीलिए दान का मुख्य अंग स्वत्व और स्वामित्व का विसर्जन है । दान का कार्य किसी वस्तु को एक हाथ से दूसरे हाथ में सौंपे बिना हो नहीं सकता, परन्तु जब तक उस छोड़ने के साथ ममत्व या स्वामित्व के त्याग के

भावों का तार न तोड़ा जाय, तब तक वह दान नहीं कहलाता । इसी कारण प्राचीनकाल में राजा या किसी धनिक को जब दान देना होता तो प्रायः ऋषि-मुनियों की साक्षी से वह राजा या धनिक संकल्प लेता था । वह संकल्प-ममत्व त्याग का होता था, वही दान का प्राण होता था । संकल्प इसलिए किया जाता था कि कदाचित् मन पुनः लोभवश या स्वार्थवश फिस्सल न जाय ।

राजा हरिश्चन्द्र ने जब विश्वामित्रजी को दान देने का विचार किया तो विश्वामित्रजी ने अपने सामने उनसे संकल्प कराया । संकल्प कराने के बाद उस दान को पक्का घोषित करने के लिए उन्होंने ऊपर से दक्षिणा देने की बात रखी; जिसे चुकाने के लिए दानी राजा हरिश्चन्द्र और महारानी तारामती को अपना राजपाट, राजसी वस्त्र, वैभव आदि सर्वस्व छोड़कर काशी जाना पड़ा था और स्वयं उपार्जित धन से अपना गुजारा चलाकर दक्षिणा देने की अवधि निकट आने के कारण पहले तारामती ने अपने आपको बेचकर आधी स्वर्ण-मुद्राएँ दक्षिणा के रूप में विश्वामित्र को चुका दी । शेष आधी स्वर्ण-मुद्राओं को राजा हरिश्चन्द्र ने स्वयं एक भंगी के यहाँ बिककर उसके श्मशान में पहरेदारी का कठोर कर्तव्य अदा करके चुकाई । इसीलिए राजा हरिश्चन्द्र का दान इस आदर्श एवं न्यायोपार्जित धन से युक्त दक्षिणा के कारण महादान के रूप में प्रसिद्ध हो गया । इस प्रकार से संकल्पबद्ध हो जाने के बाद वह दान आम आदमियों में प्रकट हो जाता था, सार्वजनिक रूप से घोषित कर दिया जाता था ।

इसीलिए दान के लक्षण में दान के साथ यह शर्त रखी गई है कि — स्वत्व का विसर्जन करना-अपने ममत्व, अहंत्व, स्वामित्व और स्वत्व का सर्वथा उस देय वस्तु पर से त्याग कर देना, छोड़ देना ।

विश्वचितक लेखक एवं साहित्यकार बर्नार्ड शा को १९२५ ई. में जब साहित्य के लिए नोबल पुरस्कार मिलने की घोषणा हुई, तब उन्होंने पुरस्कारदाता का सम्मान रखने के लिए उस नोबल पुरस्कार को स्वीकार तो किया, परन्तु उस पारितोषिक की मिलने वाली विशाल रकम को अस्वीकार करते हुए उन्होंने पारितोषिक वितरण व्यवस्थापकों से कहा — “अब मेरे पास अपना गुजारा चलाने लायक धन है, इसलिए मेरी इच्छा है कि पारितोषिक की इस रकम को स्वीडन के गरीब लेखकों में बाँट दिया जाय ।”

ऐसे स्वत्व-विसर्जन से दान भी, दाता भी और आदाता भी धन्य हो उठते हैं ।

ममत्व, स्वामित्व और स्वत्व का दान करते-करते जब अहंत्व का दान हो जाता है, तभी दान की सर्वोच्च भूमिका आती है ।

जगद्गुरु के दान के पीछे यही मनोवृत्ति थी । वह देते थे मुक्त-हस्त से, परन्तु साथ ही उसमें दान के साथ निरभिमानता, नम्रता, अर्पण की भावना थी । वह स्वत्व, ममत्व और स्वामित्व के साथ अहंत्व का विसर्जन दान करते समय किया करते थे ।

समर्थ स्वामी रामदास के शिष्य छत्रपति शिवाजी अपने गुरु की मस्ती और आनन्द को देखकर सोचने लगे - इन राज्य, शासन, देशभक्ति और अन्य परेशान करने वाले दायित्वों से छुटकारा पा लिया जाए तो अच्छा ।

अतः एक दिन जब समर्थ गुरु रामदास का आगमन हुआ तो शिवाजी ने कहा - "गुरुदेव ! मैं राज्य के इन झंझटों से उकता गया हूँ । एक समस्या का समाधान करता हूँ तो दूसरी आ खड़ी होती है । नित नई उलझनें आती हैं । अतः सोच रहा हूँ, मैं भी अब सन्यास ग्रहण कर लूँ ।" गुरुदेव ने सहज भाव से कहा - "सन्यास ! ले लो, इससे अच्छी और क्या बात हो सकती है ।" शिवाजी पुलकित हो उठे । वे तो सोच रहे थे कि गुरुदेव इसके लिए अनुमति नहीं देंगे, बहुत मक्काना पड़ेगा इन्हें । मगर बात आसानी से बन गई । अतः शिवाजी ने कहा - "तो फिर अपनी दृष्टि का ऐसा कोई योग्य व्यक्ति बताइए, गुरुदेव ! जिसे मैं राजकाज सौंपकर आत्म-कल्याण की साधना करूँ और आपके सानिध्य में रह सकूँ ।" गुरुदेव बोले - "मुझे राज्य दे दे और चला जा निश्चिन्त होकर वन में । मैं चलाऊँगा राज्य का कामकाज ।" तुरन्त ही शिवाजी ने हाथ में जल लेकर राज्यदान का संकल्प कर लिया । राज्य का दानपत्र भी लिखकर उन्हें दे दिया और वे उसी वेश में जाने को उद्यत हुए । वहाँ से निकलने और भविष्य के प्रबन्ध के लिए उन्होंने कुछ मुद्राएँ साथ में लेनी चाहीं । पर स्वामीजी ने यह कहकर मुद्राएँ ले जाने से इनकार कर दिया कि "अब तो तुम राज्य का दान कर चुके हो । राजकोष पर तुम्हारा कोई अधिकार नहीं है ।" "हाँ, गुरुदेव ! यह ठीक है ।" कहकर शिवाजी रुक गए । फिर वे महल में जाने के

लिए तैयार हुए तो गुरुजीने फिर रोका — “सुनो ! महल में भी तुम नहीं जा सकते । अब जैसे हो, उसी स्थिति में तुम्हें यहाँ से चले जाना चाहिए ।” शिवाजी उसी स्थिति में बाहर चल दिए । स्वामीजी ने जाते-जाते कहा — “देखो, इस राज्य की सीमा में भी मत रुकना । स्मरण रहे, तुम राज्य को दान कर चुके हो ।” “जो आज्ञा गुरुदेव !” — शिवाजी ने कहा । जब शिवाजी चलने लगे तो स्वामीजी ने रोककर पुनः पूछा — “सुनो ! तुम जा तो रहे हो, परन्तु भविष्य में निर्वाह की क्या व्यवस्था करोगे ?” “जो भी हो जाए” — शिवाजी ने कहा । “फिर भी कुछ तो सोचा होगा ।” “सोचा क्या है, कहीं मेहनत-मजदूरी तो मिलेगी । किसी की नौकरी करके ही अपना गुजारा चला लूँगा ।” — विदा होते हुए शिवाजी बोले । “अच्छ तो नौकरी ही करनी है तो मैं तुम्हारे लिए एक बढ़िया नौकरी की व्यवस्था कर सकता हूँ ।”

“बड़ी कृपा होगी ।” — शिवाजी का उत्तर था । “तुम यह राज्य तो मुझे दे ही चुके हो । अब मैं जिसे चाहूँ उसे इसकी देखरेख और व्यवस्था के लिए नियुक्त कर सकता हूँ । अब मुझे किसी योग्य व्यक्ति की इसके लिए तलाश करनी पड़ेगी, सो सोचता हूँ, तुम ही इसके लिए सबसे ज्यादा योग्य हो सकते हो । इस भाव से राज्य संचालन का दायित्व सँभालना कि तुम केवल सेवकमात्र हो । राज्य मेरी अमानत है । वस्तुतः तुम इसके स्वामी नहीं हो ।” और इसके बाद शिवाजी को कभी कोई झंझट नहीं हुई । स्वामीभाव से नहीं, पर सेवकभाव से राज्य के खर्च का उपयोग करते रहकर वे जीवन भर सहजता से इस दायित्व को निभाते रहे ।

स्व-परानुग्रह के साथ स्वत्व, स्वामित्व, अहंत्व और ममत्व का विसर्जन दान है । वास्तव में दान होता भी तभी है, जब व्यक्ति अपने स्वत्व को नष्ट कर देता है । इसीलिए स्मृतिकारों ने दान शब्द का लक्षण किया है —

“स्व-स्वत्वध्वंसपूर्वक-परस्वत्वोपपत्यनुकूलत्यागः दानम् ।”

— दान वह है, जिसमें अपने स्वत्व (स्वामित्व, अहंत्व, ममत्व) को नष्ट करके दूसरे के स्वत्व (स्वामित्व) की उपपत्ति के अनुकूल त्याग किया जाय ।

चतुर्थ अध्याय

दान से लाभ

एक उक्ति के अनुसार — “प्रयोजनमनुद्दिश्यमन्दोऽपि न प्रवर्तते ।” अर्थात् किसी भी काम में मूर्ख या मन्द बुद्धि भी तब तक प्रवृत्त नहीं होता, जब तक वह उस कार्य का प्रयोजन न जान ले अथवा उस कार्य का महत्त्व न समझ ले । मतलब यह है कि समझदार मनुष्य किसी उद्देश्य को सामने रखकर ही कार्य करता है ।

दान के सम्बन्ध में भी यह बात तर्कशील व्यक्ति प्रस्तुत करते हैं कि दान हम क्यों दें ? एक तो हम अपनी चीज से वंचित हो और फिर उसके देने से कोई प्रयोजन भी सिद्ध न होता हो, क्योंकि दान में तो अपने स्वामित्व की कुछ-न-कुछ चीज निकाली या छोड़ी ही जाती है, अगर दान के रूप में किसी वस्तु को छोड़ने से कोई लाभ भी न हो, तब दान देने से क्या फायदा ।

दिया हुआ कुछ भी निष्फल नहीं जाता

इस महत्त्वपूर्ण प्रश्न के उत्तर में नीतिकार कहते हैं —

“पात्रे धर्मनिबन्धनं तदितरे श्रेष्ठं दद्याच्छापकम्,
मित्रे प्रीतिविवर्धनं तदितरे वैरापहारक्षमम्,
भृत्ये भक्तिभरावहं नरपतौ सम्मानसम्पादकम्,
भद्रादौ सुयशस्करं वितरणं न क्वाऽप्यहो निष्फलम् ॥”

सिन्दूर प्रकरण ८१

दान कहीं भी निष्फल नहीं जाता । देखो, सुपात्र का दान देने से वह धर्म का कारण बनता है । दीन-दुःखी या अनुकंपा योग्य पात्रों को देने से वह

दाता की दया की प्रशंसा करता है। मित्र को देने से परस्पर प्रेम बढ़ाता है और शत्रु को दान देने से वह वैरभाव नष्ट कर देने में समर्थ है। भृत्य (सेवक) को दान देने से उसके दिल में भक्ति का प्रवाह पैदा करता है। राजा को देने से सम्मान दिलाता है। चारण को भाट आदि को देने से वह कीर्ति फैलाता है।

पाश्चात्य विद्वान् एसोप का भी यही मत है कि — 'No act of kindness, no matter how small, is ever wasted.' कोई भी भलाई का कार्य, चाहे कितना ही छोटा हो, व्यर्थ नहीं जाता। सचमुच, दान कभी निष्फल नहीं जाता।

सुपात्रदान से धर्म प्राप्ति :

वास्तव में दान कभी व्यर्थ नहीं जाता। दान से एकान्त धर्म-प्राप्ति होती है। एक सुपात्र महामुनि श्रमण या त्यागी साधु को दान देने से वह धर्म का कारण बनता है। बशर्ते कि उस दान के पीछे कोई नामना, कामना, लोभ या स्वार्थ की भावना न हो। विधिपूर्वक दिया हुआ दान संवर और निर्जरा का कारण बनता है।

उस दान में वस्तु महत्त्वपूर्ण नहीं होती, भाव ही महत्त्वपूर्ण होता है, भावों से ही कर्मों का क्षय होता है और भावों से ही आते हुए कर्मों का निरोध होता है। आचारांगसूत्र में इस विषय को अधिक स्पष्ट रूप से बताया गया है कि "केवलज्ञानी" (मतिमान) वर्द्धमान स्वामी ने बताया है कि समनोज व्यक्ति, समनोज (सुविहित) साधु को अशन, पान, खादिम या स्वादिम आहार-वस्त्र-पात्र या शय्या प्रदान करे, उसे निमन्त्रित करे, परम आदरपूर्वक उसकी वैयावृत्य (सेवा) करे तो वह धर्म का आदान (ग्रहण) करता है।"

सुबाहुकुमार ने सुदत्त अनगर को भक्ति बहुमानपूर्वक प्रासुक एषणीय आहार दिया था, जिसके फलस्वरूप उसे अपार ऐश्वर्य तथा अन्त में मोक्ष प्राप्त होगा। यह है सुपात्रदान का महाफल, जिसका महत्त्व जैन, वैदिक, बौद्ध आदि

१. धम्ममायाणह, पवेदियं वद्धमाणेण मइमया, समणुण्णे समणुणस्स असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा वत्थ वा पायं वा सेज्जं वा पाएज्जा-णिमंतेज्जा कुज्जावेयावडियं परं आदायमाणे ।

सभी धर्मग्रन्थों ने एक स्वर से स्वीकार किया है ।

जैनागम भगवतीसूत्र में तथारूप श्रमण या माहण को दिये गये दान को एकान्त निर्जरा-धर्म का कारण स्पष्ट रूप से बताया गया है ।^१

“भगवान् ! श्रमणोपासक (सदगृहस्थ) आदि तथारूप श्रमण या माहण को प्रासुक एषणीय आहार देता है तो उसे क्या लाभ होता है ?”

“गौतम ! वह एकान्त कर्म निर्जरा (धर्म-प्राप्ति) करता है, किन्तु किञ्चित् भी पापकर्म नहीं करता ।”

यह है दान से धर्म-प्राप्ति रूप फल का ज्वलन्त प्रमाण ! इसीलिए चाणक्य ने कौटिल्य अर्थशास्त्र में दान को धर्म (दान धर्मः) स्पष्ट रूप से कहा है ।

इससे आगे बढ़कर दान का फल समाधि-प्राप्ति बताया है ।

जिस समाधि (मानसिक शान्ति, परम आनन्द) के लिए लोग जंगलों की खाक छानते हैं, पहाड़ों में घूमते हैं, यौगिक क्रियाएँ करते हैं, दीर्घ तप और त्याग करते हैं, फिर भी उन्हें वास्तविक समाधि प्राप्त नहीं होती । लेकिन भगवतीसूत्र में स्पष्ट कहा है कि त्यागी श्रमण माहनों को जो श्रमणोपासक (सदगृहस्थ) उनके योग्य कल्प्य वस्तुओं का दान देकर उनको समाधि (सुख-शान्ति) पहुँचाता है, उस समाधिकर्ता को समाधि प्राप्त कराने के कारण समाधि प्राप्त होती है ।^२

शालिभद्र ने पूर्व-जन्म में ग्वाले के पुत्र के रूप में एक मासिक उपवास के तपस्वी मुनि को उत्कट भावों से दान देकर सुखसाता पहुँचाई थी । उसका फल उसे भी सुख-शान्ति, समृद्धि और आत्मिक शान्ति के रूप में मिला ।

१. समणोवासगस्सणं भंते ! तहारूवं समणं वा, माहणं वा फ़सुएसणिज्जेणं असण-पाण-खाइम-साइमेणं पडिलाभेमाणस्स किं कज्जइ ? गोयमा । एगंतसो निज्जरा कज्जइ, नत्थि य से पावे कम्मे कज्जइ ।

— भगवती ८/६

२. समणोवासएणं तहारूवं समणं वा जाव पडिलाभेमाणे तहारूवस्स समणस्स वा माहणस्स वा समाहि उप्पाएति । समाहिकारएणं तमेव समाहि पडिलब्भई ।

— भगवतीसूत्र, श. ७, उ. १

इटली की एक ऐतिहासिक घटना है। सर्दियों के दिन थे। लोग गर्म कपड़े पहने हुए बाजारों में घूम रहे थे। तभी एक बालक अपनी माँ के साथ बाजार आया। बालक की आयु ७ वर्ष से अधिक न थी। सड़क पर एक बूढ़ा भिखारी बैठा था। वह भीख माँग रहा था। बूढ़ा सर्दी से ठिठुर रहा था। बेचारे के शरीर पर फटे-पुराने चिथड़े थे। बालक की नजर भिखारी पर पड़ी। अपनी माँ की उँगली छोड़कर वह बूढ़े को एकटक देखने लगा और अपनी माँ से कहा — “माँ! इसे जरूर कुछ दो। बेचारा भूखा होगा। देखो न, बेचारा ठण्ड से काँप रहा है।”

बूढ़े भिखारी की आँखों से खुशी के आँसू टपकने लगे। वह बोला — “यह बालक एक दिन बड़ा आदमी बनेगा। दुःखियों के लिए इसके दिल में बड़ा दर्द है।” फिर बूढ़े ने उसके सिर पर हाथ फेरते हुए उसे आशीर्वाद दिया।

यही बालक बड़ा होने पर इटली का नेता ‘मेजिनी’ बना।

अतः दुःखियों और पीड़ितों को दान देकर उनके दुःख मिटाने से उनके हृदय से भी आशीर्वाद के फूल बरस पड़ते हैं। इसीलिए तत्त्वार्थसूत्र में आचार्य उमास्वाति ने स्पष्ट कहा है — “दान से सातावेदनीय (शारीरिक, मानसिक सुख-शान्ति और समाधि) की प्राप्ति होती है। अर्थात् प्राणी मात्र के प्रति अनुकम्पा करना, वृत्ति (आजीविका) देना यथोचित रूप से दान देना — सराग संयम आदि का योग, क्षमा और शौच ये सातावेदनीय के बन्ध के कारण हैं।”^१

इससे यह स्पष्ट फलित होता है कि दान मानव-जीवन में समाधि प्राप्त करने का उत्कृष्ट कारण है।

संसार में शान्ति और सुव्यवस्था, रखने के लिए सद्भावना पैदा करने के लिए दान ही ऐसा अमोघ परम मंत्र है। हरिभद्रसूरि ने अष्टक में इसी रहस्य का उद्घाटन किया है^२—

— दान देने वाले और लेने वाले दोनों में शुभ आशय को पैदा करता

१. भूतवृत्त्यनुकम्पादानं सरागसंयमादियोगः क्षान्तिः शौचमेती सद्देहस्य ।

२. दानं शुभाशयकरं ह्येतदाग्रहच्छेदकारि च ।

सद्भ्युदयसारांगमनुकम्पाप्रसूति च ॥ —हरिभद्रसूरि अष्टक

है, धन-सम्पन्न की धन के प्रति जो ममता और अहंता का अभिनवेश (आग्रह) है, उसे वह तोड़ देता है, दान अभ्युदय की परम्परा को बढ़ाता है, धर्म का सारभूत (श्रेष्ठ) अंग है और हृदय में अनुकम्पा को जन्म देने वाला है ।

पोचमपल्ली (हैदराबाद) में जब एक रात में साम्यवादियों की राय से कई जमींदारों का सफाया कर दिया गया, तो उस नृशंस हत्याकाण्ड को देखकर चारों और त्राहि-त्राहि मच गई तो राष्ट्रसन्त विनोबा जी पैदल यात्रा करके वहाँ पहुँचे । सारी स्थिति का अध्ययन किया तो पता लगा कि जमींदारों ने गरीबों के पास रोटी का कोई साधन (जमीन) नहीं दिया है, बार-बार चेतावनी देने के बावजूद भी ये जमींदार नहीं समझे, न उन्होंने अपनी जमीन में से गरीबों को रोटी का साधन दिया और न ही उन्हें कहीं रोजगार धन्धा दिया, फलतः साम्यवादियों से मिलकर उन्होंने एक ही रात में बहुत-से जमींदारों का कत्ल कर दिया । विनोबा जी ने इसका अहिंसक हल खोज निकाला- 'भूदान' । उन्होंने बताया कि दान ही वह संजीवनी औषध है, जो जमींदारों और गरीबों (भूमिहीनों) को जिला सकती है । उन्होंने अपनी सभा में उपस्थित लोगों के सामने 'भूमिदान' की माँग की - "है कोई इन भूमिहीन गरीबों को भूमि देकर विषमता को मिटाने के लिए तैयार ?"

सभा में से रामचन्द्रन् रेड्डी नामक एक जमींदार खड़ा हुआ और उसने अपनी जमीन में से १०० एकड़ जमीन भूमिहीनों में बाँट देने की घोषणा की । बस, वहीं से भूदान की गंगा बह चली और सारे हिन्दुस्तान में फैल गई । स्वेच्छा से दिये गये भूदान के प्रभाव से जमींदारी अत्याचार बन्द हो गए' भूमिहीन लोग शान्त हो गये । भूमिधरों के हृदय में भी करुणा और सहानुभूति प्रगट हुई । कई जगह तो भूमिहीनों ने भूदाताओं को अन्तर से दुआ दी ।

गुजरात में जब भयंकर दुष्काल पड़ा था । जनता दाने-दाने को तरस रही थी तभी गुजरात के खेमाशाह देदराणी जैसे कई शाहों ने मिलकर उस भयंकर दुष्काल-निवारण का जी-तोड़ पर्यन्त किया ।

इसी प्रकार जगदूशाह ने वि.सं. १३१२ के बाद ३ साल तक गुजरात में पड़े हुए भयंकर दुष्काल के निवारण के लिए मुकहस्त से अन्नादि देकर उस

प्रदेश की सुख-शान्ति और सुव्यवस्था कायम रखी। जगदूशाह की दानवीरता की प्रशंसा सुनकर अणहिलवाडे के राजा वीसलदेव ने अपने मंत्री को भेजकर जगदूशाह को बुलाया। राजदरबार में जगदूशाह का बहुमान करने के बाद राजा ने उनसे पूछा — “सुना है तुम्हारे पास ७०० गोदाम अन्न के हैं। अतः दुष्काल पीड़ितों की भूख की पीड़ा मिटाने के लिए तुमसे अन्न लेने के विचार से मैंने तुम्हें कष्ट दिया है।”

जगदूशाह ने राजा की बात सुनकर अत्यन्त विनयपूर्वक कहा — “महाराज ! वह अन्न प्रजा का ही है। यदि मेरे कथन पर विश्वास न हो तो गोदामों में लगे ताम्रपत्र देख लीजिये।” फौरन ताम्रपत्र मँगवाया गया। जिस पर लिखा था — “जगदूः कल्पयामास रंकार्थं हि कणानमून्।” और ८ हजार मूड़े यानी ३२ हजार मन अन्न जगदूशाह महाराज वीसलदेव को यह क्रहकर सौंप दिया — “अगर किसी का भी प्राण दुर्भिक्ष से गया तो मुझे भयंकर पाप लगेगा।” उस समय दुष्काल का प्रभाव लगभग सारे देश में था। इसलिए जगदूशाह ने सिन्धु देश के राजा हमीर को १२ हजार मूड़े, मोइज्जुदीन को २१ हजार मूड़े, काशी के राजा प्रतापसिंह को ३२ हजार मूड़े और स्कंधित के राजा को १२ हजार मूड़े अन्न दुष्काल निवारण के लिए दिया। ११२ दानशालाएँ खुलवाई तथा कुलीन तथा माँगने में शर्माने वाले व्यक्तियों के लिए करोड़ों सोने की दीवारें मोदक में गुप्त रूप से रखकर भिजवाई।

पंचाशक-विवरण में कहा है —

“दानात्कीर्तिः सुधा शुभ्रा दानात्सौभाग्यमुत्तमम् ।

दानात्कामार्थमोक्षाः स्युर्दानधर्मो वरस्ततः ॥”

— दान से अमृत के समान उज्ज्वल कीर्ति फैलती है, दान से मनुष्य को उत्तम सदभाग्य (पुण्य) प्राप्त होता है। दान से काम, अर्थ और मोक्ष का लाभ होता है। इसलिए दान धर्म श्रेष्ठ है।

इसी प्रकार अहमदाबाद में घोर विपत्ति के समय नगरसेठ खुशालचन्द्र ने पीढ़ियों से उपार्जित और संचित धन को विदेशी के द्वार पर उडेल दिया। उन्होंने ४ बैलों के सुन्दर रथ में रुपयों की थैलिया भरकर हमीद खाँ के सामने ढेर लगा दी। और किसी तरह शहर को विनाश-लीला से बचा लिया। नगर में

चारों ओर बात फैल गई कि सेठ ने अपना सर्वस्व धन देकर शहर को बचा लिया। शहर के प्रमुख व्यापारी इकट्ठे हुए, उन्होंने सर्वानुमति से यह निर्णय किया कि नगरसेठ के समक्ष हम सब बड़े व्यापारी यह प्रतिज्ञा-पत्र लिखकर दें कि अहमदाबाद के बाजार में जितना माल काँटे पर तुलेगा, उस पर चार आने प्रतिशत नगरसेठ को दिया जायेगा।" तुरन्त प्रतिज्ञापत्र लिखा गया। उस पर हिजरी संवत् ११३७, १० माह शाबान तारीख डाली गई। उस पर राजमुद्रा भी लगाई गई। किशोरदास, रणछेड़दास आदि प्रसिद्ध व्यापारियों के हस्ताक्षर थे। तब से नगरसेठ को यह रकम बराबर मिलती गई।

यह है दान के द्वारा नगर की सुरक्षा और विरोधी को अपना बनाने की कला। जब मेवाड़भूमि यवनों द्वारा पददलित होने से बचाई न जा सकी। हल्दी घाटी के युद्ध-त्याग के बाद महाराणा प्रताप मेवाड़ के पुनरुद्धार की इच्छा से वीरान जंगलों में भटक रहे थे। वे पेचीदा उलझन में थे। महाराणा प्रताप निराश और असहाय होकर मेवाड़-भूमि को अन्तिम नमस्कार करके जाने वाले थे, उनके मंत्री भामाशाह को यह पता लगा। उनकी आँखों में आँसू छलक आये। उन्होंने सोचा — "धन तो मुझे फिर मिल सकता है, लेकिन खोई हुई मेवाड़-भूमि की स्वतन्त्रता फिर मिलनी कठिन है।" अतः भामाशाह २५ लाख रुपये तथा २० हजार अर्शफियाँ लेकर राणा प्रताप के पास पहुँचे। उनसे भामाशाह ने कहा — "ओ अन्नदाता! आप ही मेवाड़-भूमि को अनाथ छोड़कर चले जायेंगे तो उसका क्या हाल होगा?"

"भामा! क्या करूँ! लड़ाई लड़ने के लिए मेरे पास सेना नहीं है, न सेना के लिए रसद है और न ही उन्हें वेतन देने के लिए रुपये हैं। मैं स्वयं थककर निराश हो गया।" राणा ने कहा।

भामाशाह — "अन्नदाता! इसकी चिन्ता न करें। ये लीजिए २५ लाख रुपये की थैलियाँ और २० हजार सोने की मुहरें। इनसे २५ हजार सैनिकों का १२ वर्ष तक निर्वाह हो सकेगा। आप मेवाड़-भूमि की स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए मेरी यह तुच्छ भेंट (दान) स्वीकार करें।"

महाराणा प्रताप भामाशाह द्वारा दिये गये इस दान स्वरूप धन को देखकर खुश हो गए। उनकी आँखों में चमक आ गई। उन्होंने भामाशाह को

विश्वास दिलाया कि अब मैं पूरे जी-जान से मेवाड़ की स्वतन्त्रता के लिए लड़ूँगा।

यह था दानवीर भामाशाह के दान का अद्भुत प्रभाव !

दान से शत्रु भी मित्र बन जाता है। महापुरुषों द्वारा यह अनुभवसिद्ध बात है कि जब भी कोई व्यक्ति उदार बन जाता है, अपने शत्रु को शत्रु नहीं मानता, घर आने पर उसका दान-सम्मान से स्वागत करता है, उसके साथ मैत्री भाव या बन्धुभाव रखता है तो वह दान-चाहे थोड़ी ही मात्रा में हो, शत्रु का हृदय बदल देता है, उसका शत्रुभाव मित्रभाव में परिणत हो जाता है। पद्मपुराण इस तथ्य का साक्षी है। वहाँ स्पष्ट बताया गया है —

“शत्रावपि गृहाऽऽयाते नास्त्यदेयं तु किञ्चन ।”

— अगर शत्रु भी घर पर आ जाये तो उसे भी कुछ न कुछ दो, अर्पण करो, दान-सम्मान से उसका स्वागत करो। किसी भी वस्तु के लिए उसे इन्कार मत करो, क्योंकि शत्रु के लिए भी कोई वस्तु अदेय नहीं है। देने से मधुरता बढ़ती है।

इस्लाम धर्म के संस्थापक हजरत मुहम्मद पैगम्बर जिन दिनों मक्का में इस्लाम धर्म का प्रचार कर रहे थे। उन दिनों धर्म और रूढ़ियों के नाम पर एक मनुष्य दूसरे मनुष्य को जिन्दा जला देता था। अरबस्तान में ऐसे व्यक्ति के लिए जिन्दा रहना बहुत बड़ी समस्या थी, फिर धर्म का प्रचार करना तो और भी दुष्कर कार्य था। परन्तु हजरत मुहम्मद बड़े कष्टसहिष्णु और उदार थे। उन्हें लोगों को खुदा का पैगाम सुनाना था। इसलिए वे सभी विपत्तियों का धैर्य से सामना करने के लिए तैयार रहते थे। चाहे वे सहनशील थे, किसी व्यक्ति को पीड़ा नहीं पहुँचाते थे, फिर भी पुरानी परम्परा के बहुत-से लोग उनका विरोध करते थे।

एक बार विरोधी ने प्रण किया कि “मैं जब तक मुहम्मद का सिर नहीं काट लूँगा, तब तक खाना नहीं खाऊँगा और इस तलवार को भी तब तक म्यान में नहीं डालूँगा।” वह व्यक्ति दोपहर में ही रेगिस्तान पार करता हुआ मक्का आ धमका। उसने एक मकान के पास किसी को बैठा देखकर पूछा — “क्यों भाई !

मुहम्मद यहाँ कहाँ रहता है ?”

उस व्यक्ति ने कहा - “भाई ! तुम बहुत ही घबराये हुए हो, अतः पहले सुस्ता लो, फिर मुहम्मद की तलाश करना ।”

आगन्तुक - “मैं जब तक मुहम्मद का सिर नहीं काट लूँगा, तब तक और कुछ नहीं करूँगा ।”

“तुम इतनी तेज धूप में आये हो, पहले जरा ठण्डे हो लो, फिर मुहम्मद को बतला देंगे और तब तुम उसका सिर काट लेना । मालूम होता है तुम बहुत ही भूखे प्यासे हो ।” उस व्यक्ति ने पुनः सहानुभूति बतलाई ।

विरोधी ने कहा - “चाहे मुझे कितनी ही भूख-प्यास हो, मगर पहले अपनी प्रतिज्ञा पूरी करनी है ।” आगन्तुक को समझा-बुझाकर ठहराया और वह अपने घर में गये । अपनी पत्नी से बची हुई रोटी ली और बकरी के दूध में चूरकर तथा पानी का गिलास लेकर बाहर आये । समझाने पर आगन्तुक ने पानी पीकर खाना शुरु किया ।

आगन्तुक इस प्रकार के दान-सम्मान से बहुत प्रभावित होकर आभार स्वरूप कहने लगा - “भाई ! तुम कितने भले हो ! उस मुहम्मद के गाँव में तुम कैसे रहते होंगे ?” जब उसने खा-पी लिया तब पूछा - “हाँ, अब ले चलो, मुझे मुहम्मद के पास ।”

उस आदमी ने मुस्कराकर कहा - “मुहम्मद सामने ही हाजिर है, सिर उतार लो ।” “अरे ! यह क्या ? मुहम्मद और इतना उदार व दयालु । तो क्या यह भोजन और ठण्डा जल मुहम्मद ने ही दिया है ? क्या मैं अभी मुहम्मद से ही बातें कर रहा था ?” आगन्तुक ने पूछा । मुहम्मद ने कहा - “हाँ, भाई ! मुहम्मद यही है । यही आपकी खिदमत में हाजिर था ।”

यह सुनते ही विरोधी पानी-पानी हो गया । उसके हाथ में से तलवार छूट गई । उसने नतमस्तक होकर हजरत मुहम्मद से क्षमा माँगी और कहा - “आज से मुझे अपना मित्र और सेवक समझें ।” मुहम्मद साहब ने उसे गले लगाया और उसे अपना पट्ट शिष्य बनाया ।

वास्तव में मुहम्मद साहब के उदारतापूर्वक दान, सम्मान का ही यह प्रभाव था कि शत्रु भी मित्र बन गया ।

कई बार शासक अपनी प्रजा को किसी संकट से पीड़ित देखकर दयार्द्र होकर अपनी सम्पत्ति का सहायता के रूप में या अन्न के रूप में दान देता था। भागवत पुराण में राजा रतिदेव की कथा आती है कि उन्होंने यह प्रण कर लिया था कि जब तक एक भी व्यक्ति मेरे राज्य में भूख से पीड़ित होगा, तब तक मैं स्वयं आहार नहीं लूँगा। कहते हैं ४९ दिन तक वे निराहार रहे। अपने अन्न के भण्डार भूखी जनता के लिए उन्होंने खुलवा दिये जिससे शीघ्र ही दुष्काल मिट गया। महाराजा रतिदेव का दान एक महान् चमत्कार बन गया।

हिरात का शेख अब्दुला अन्सार अपने शिष्यों से कहा करता था —
 “शिष्यों ! आकाश में उड़ना कोई चमत्कार नहीं है, क्योंकि गंदी से गंदी मक्खियाँ भी आकाश में उड़ सकती हैं। पुल या नौका के बिना नदियों को पार कर लेना भी कोई चमत्कार नहीं क्योंकि एक साधारण कुत्ता भी ऐसा कर सकता है, किन्तु दुःखी हृदयों को दान देकर सहायता करना एक ऐसा चमत्कार है, जिसे पवित्रात्मा ही कर सकते हैं।”

दान प्रीतिवर्धक है, यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है। वास्तव में शास्त्र की यह उक्ति अक्षरशः सत्य है —

“अहवा वि समासेण साधूण पीतिकारओ पुरिसो ।
 इह य परत्थाय पावति, पीदीओ पीवतरओ ।”^१

सारी बात का निचोड़ यह है कि दान से मनुष्य साधुओं का भी प्रीतिपात्र बन जाता है। जिसके फलस्वरूप वह दानी व्यक्ति इस लोक में भी जनता का प्रेम सम्पादन कर लेता है और परलोक में भी अतिशय प्रीतिभाजन बनता है।

साथ ही दान से सर्वत्र मित्र बन जाते हैं, यहाँ तक कि विरोधी शत्रु भी मित्र बन जाता है, दान के प्रभाव से वह मैत्री परलोक में भी जाती है, वहाँ भी सभी उसके मित्र, सुहृदय और अनुकूल बन जाते हैं। इसलिए तथागत बुद्ध ने कहा है —

“दत्तं मित्तानि गंथति ।”^१

— दान से मित्र गाढ़े बन जाते हैं ।

अत्रिसंहिता में भी इसी बात का समर्थन किया गया है —

“नास्ति दानात् परं मित्रमिह लोके परत्र च ।”

— दान के समान इस लोक और परलोक में कोई मित्र नहीं है ।

इससे भी आगे बढ़कर कहें तो दान एक वशीकरण मंत्र है, जो सभी प्राणियों को मोह लेता है, पराया (शत्रु) भी दान के कारण बन्धु बन जाता है, इसलिए सतत दान देना चाहिए ।^२ दान की देवता, मनुष्य और ब्राह्मण सभी प्रशंसा करते हैं । दान से मनुष्य उन समस्त मनोवांछित वस्तुओं को प्राप्त कर लेता है, जिनकी वह कामना करता है ।^३

महाराष्ट्र में महिला जागरण के अग्रदूत महर्षि कर्वे को पत्रकार परिषद में प्रश्न पूछा गया कि “आपकी शतायु का रहस्य क्या है ? लोक अनुमान ही अनुमान में गुम हैं कि आप नियमित व्यायाम करते होंगे या दूध और फल पर रहते होंगे, इस कारण आपकी आयु सौ साल की होगी ।”

उत्तर में कर्वे ने कहा — “मेरे यहाँ कई दशकों पहले एक नौकरानी रहती थी । वह एक दिन अपने पति के आपरेशन के लिए एक हजार रुपये माँगने आई । पति के स्वस्थ हो जाने पर रुपये वापस लौटाने की बात थी । परन्तु दुर्भाग्य से आपरेशन काल में उसके पति का देहान्त हो गया ।”

वह नौकरानी रोती हुई मेरे पास आई और आँसू बहाते हुए बोली — “मुझे सबसे अधिक वेदना तो इस बात की हो रही है कि मैं अब आपके रुपये कैसे चुका सकूँगी । अब तो मेरे वेतन में से आप प्रति मास काटते रहना ।”

मैंने (कर्वे ने) गद्गद होकर कहा — “बहन, तेरे इतने महान दुःख के

१. सुत्तनिपात १/१०/१७

२. दानेन सत्त्वानि वशीभवन्ति, दानेन वैरुण्यपि यान्ति नाशम् ।

परोऽपि बन्धुत्वमुपैति दानात्, तस्माद्धि दानं सततं प्रदेयम् ॥ — धर्मरत्न ।

३. दानं देवाः प्रशंसन्ति मनुष्याश्च तथा द्विजाः ।

दानेन कामनाप्नोति यान्काश्चिन्मनसेच्छति ॥

सामने इन मुट्टीभर (१०००) रूपयों का क्या मूल्य है ? मुझे वे रुपये तुमसे बिलकुल नहीं लेने हैं। वे रुपये मैंने तुम्हें अपनी बहन मानकर दे दिये, समझ लो।”

आभारवश हर्षाश्रुओं से पूर्ण आँखे ऊँची करते हुए वह विधवा नौकरानी, जिसकी आँते ठण्डी हो गइ थी; बोली ! “भाई ! तू सौ वर्ष का हो।”

कर्वे आगे कहने लगे- “चिकित्सा विज्ञान भले ही मेरे शतायु होने का कारण दूध-फल खाना और नियमित घूमना बताये, परन्तु मैं सौ वर्ष जीया हूँ, उसका कारण मुझे तो निःसहाय नौकरानी जैसी कई बहनों व दीन-दुःखी भाइयों के अन्तर से मिला हुआ आशीर्वाद ही मालूम होता है और जिसे भी मैंने इस प्रकार से दान के रूप में सहायता दी, वह मेरे वश हो गया, मेरा अपना बनकर जिन्दगी भर तक रहा।”

उपर्युक्त दृष्टान्त से यह भी फलित होता है कि दान करने से मनुष्य दीर्घायु होता है।

भारतवर्ष में ऐसी कई कौमें हैं, जिनमें दरिद्रता नाम की कोई चीज नहीं मिलती। मुसलमानों में बोहरा कौम ऐसी है, जिसमें अगर किसी व्यक्ति की स्थिति बिगड़ने लगती है अथवा कोई आकस्मिक संकट, बेरोजगारी या बेकारी आ जाती है तो जाति के सभी व्यक्ति मिलकर उसे चन्दा करके सहायता पहुँचा देते हैं और अपने बराबर का व्यापारी बना देते हैं या अन्य किसी उपयुक्त व्यवसाय में लगान देते हैं। उसे दान देकर भी यह महसूस नहीं होने देते कि मैं दीन-हीन हूँ या निर्धन हूँ।

इसी प्रकार की परिपाटी पारसी कौम में है। पारसी लोग अपनी बिरादरी में किसी व्यक्ति को निर्धन या साधनहीन नहीं रहने देते। उनमें यह विशेषता है कि वे जब भी किसी भाई को संकटग्रस्त देखते हैं तो उसे कोई न कोई रोजगार धन्धा दे या दिलाकर उसकी दरिद्रता को मिटा देते हैं।

इसीलिए दान के लिए चाणक्य नीति में स्पष्ट कहा गया -

“दारिद्र्यनाशनं दानम्।”

दान वास्तव में दरिद्रता को नष्ट करता है।

विषमता मिटाने का इससे भी बढ़कर सामूहिक दान का ज्वलन्त उदाहरण है — माण्डवगढ़ का। वर्षों पहले की बात है। माण्डवगढ़ के जैन बन्धुओं ने यह निश्चय किया कि हम जैसे धर्म से समान हैं, वैसे ही अर्थ से भी सबको समान रखेंगे। हमारे नगर में बसने वाला कोई धनवान भी नहीं कहलायेगा और न कोई निर्धन कहलायेगा। जो भी जैनबन्धु यहाँ बसने के लिए आता, उसका आतिथ्य प्रत्येक घर से एक-एक रुपया और एक-एक इंट देकर किया जाता। यानी इस प्रकार के सामूहिक दान से प्रत्येक आगन्तुक को वहाँ बसे हुए एक लाख घरों से एक लाख रुपये व्यापार के लिए और एक लाख इंटें घर बनाने के लिए दी जाती। माण्डवगढ़ के जैनों के इस दान के नियम ने उन्हें और नगर को अमर बना दिया। आज भी नालछाप से लेकर माण्डवगढ़ तक की ६ मील लम्बी खण्डहर के रूप में एक सरीखे मकानों की पंक्ति इस सामूहिक दान की कहानी कह रही है।

इसीलिए अनेक प्रमाणों और अनुभवों के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि दान ही वह वज्र है, जो अमीरी और गरीबी की विषमता और विभेद की दीवारें तोड़ सकता है। दान की अमोघ वृष्टि ही, मानव जाति में प्रेम, मैत्री, सद्भाव और सफलता की शीतल धारा प्रवाहित कर सकती है।

२. दान : जीवन का अ-मृत तत्त्व (जीवन्त तत्त्व) :

दान को मानव जीवन के लिए अमृत कहा है। अमृत में जितने गुण होते हैं, उतने ही नहीं बल्कि उससे भी बढ़कर गुण दान में हैं।

भारतीय संस्कृति के एक विचारक ने कहा है -

“दानामृतं यस्य करारविन्दे, वाचामृतं यस्य मुखारविन्दे।

दयाऽमृतं यस्य मनोऽरविन्दे, त्रिलोकवन्द्योहि नरो वरोऽसौ ॥”

— जिसके करकमलों में दानरूपी अमृत है, जिसके मुखारविन्द में वाणी की सरस सुधा है, जिसके हृदयकमल में दया का पीयूष निर्झर बह रहा है, वह श्रेष्ठ मनुष्य तीन लोक का वन्दनीय-पूजनीय है।

कहने का आशय यह है कि दान तभी अमृत बनता है जब हाथ के साथ वाणी और हृदय एकजुट होकर दान दें। कर तभी कमल बनता है जब उसमें

दान की मनमोहक महक उठती है ।

एक जगह बहुत-से विद्वान इकट्ठे हो रहे थे । वहाँ एक चर्चा छिड़ गई कि “सच्चा अमृत कहाँ है ?” एक विद्वान बोला — “समुद्र में । समुद्र मन्थन करके देवों ने अमृत निकाला था ।” दूसरा बोला — “अजी ! समुद्र तो खारा है, उसमें अमृत नहीं हो सकता । अमृत तो चन्द्रमा में है । जिस अमृत से सभी औषधियाँ पोषित होती हैं” तीसरा कहने लगा — “चन्द्रमा तो घटता-बढ़ता है । इसलिए वह तो क्षय रोग वाला है । उसमें अमृत नहीं हो सकता ।” चौथा बोला — “अमृत तो नारी के मुख में है ।” पाँचवाँ कहने लगा — “यह असंभव है, नारी का मुँह तो गंदा है । अमृत तो नागलोक में है । क्योंकि अर्जुन को जीवित करने के लिए नागलोक से अमृत लाया गया था ।” छठ्ठा बोला — “सर्पों के मुँह में अमृत होता होगा, भला ! वहाँ तो विष है । अमृत तो स्वर्ग में है । क्योंकि अमृत पीकर ही देव अमर कहलाते हैं ।” सातवाँ बोला, जो धार्मिक था — “भाई ! अमृत तो भावनापूर्वक दान देने में है । क्योंकि भावपूर्वक दिया गया दान मानव को जिला देता है, रोते हुए को हँसा देता है, रोगी को स्वस्थ बना देता है । इससे सहज ही समझा जा सकता है कि विद्वानों की सभा ने काफी चर्चा के बाद दान को ही सर्वसम्पत्ति से अमृत घोषित किया ।”

सच्चा अमरत्व तो सृष्टि के पीड़ित मानवों के कल्याणार्थ अपने आपको समर्पित कर देने, अपना सर्वस्व दीन-दुखियों, अभावग्रस्तों को दान कर देने और अपनी प्रिय वस्तु परहितार्थ अर्पण कर देने वाले को मिलता है । इस दानरूपी अमृत से ही सच्चा अमरत्व प्राप्त कर सकते हैं ।

ऋग्वेद में ऋषियों ने एक स्वर से इसी बात का समर्थन किया है —

“दक्षिणावन्तोऽमृतं भजन्ते ।”

— दान देने वाले और दान लेने वाले दोनों अमृत को प्राप्त करते हैं ।

दान वास्तव में मानव-जीवन के लिए अमृत है । जब मनुष्य भूख से पीड़ित हो, प्यास से छटपटा रहा हो, बाढ़ या भूकम्प आदि प्राकृतिक प्रकोपों से व्यथित हो, उस समय उसे मिला हुआ दान क्या अमृत से कम है ? वह दान मानव को अमृत की तरह संजीवित कर देता है ।

जर्मनी में एक अत्यन्त दयालु राजा हो चुका है — सम्राट जोसेफ। वह भी अपनी दानप्रियता के कारण काफ़ी प्रसिद्ध था।

बंगला में एक कहावत प्रसिद्ध है —

“अभावे स्वभाव।”

— अभाव से आदमी का स्वभाव बदल जाता है।

अभाव के समय अपने स्वभाव में स्थिर रखने वाला दान ही है। कई दफ़ा बाहर से अभाव न होने पर भी मानसिक अभाव मनुष्य के मन में पैदा हो जाता है, वह दूसरों की बढ़ती देखकर मन में अभाव या हीनता को महसूस करता है, अगर उस समय उसकी विकृत वृत्ति को कोई बदल सकता है तो दान ही।

संत एकनाथ ने भी अपनी सम्पत्ति को ले जाने देकर चोरों का हृदय बदल दिया। इसी तरह कविवर पं. बनारसीदासजी ने भी घर पर चोरी करने आये हुए चोरों की वृत्ति बदल दी इसी दानवृत्ति के कारण।

इसी प्रकार श्रावक जिनदास के विषय में भी कहानी प्रसिद्ध है कि वह जब रात्रि में सामायिक करने बैठा हुआ था तब कुछ चोरों ने मौका देखकर उसके घर में चोरी की। पर श्रावक अपने आत्म-चिन्तन में लीन रहा और चोरी के कारण - गरीबी, संग्रहखोरी पर ही विचार करता रहा। प्रातः जब उसे मालूम हुआ कि चोर रंगे हाथों पकड़े गये हैं, वे जेल में बंद हैं तो राजा से प्रार्थना कर चोरों को छुड़वाया और चुराया हुआ सब धन उन्हें सौंपकर कहा — “तुम गरीबी के कारण चोर बने हो, इसलिए यह धन लो और आज से चोरी छोड़ दो। चोर की माँ तो गरीबी है, वही मनुष्य को चोर, डाकू के रूप में जन्म देती है। दान की शक्ति उसी चोर की माँ — गरीबी, संग्रहखोरी को समाप्त करती है।”

निःसन्देह, दान हृदयपरिवर्तन में चमत्कारी ढंग से सहयोगी होता है। इसलिए बौद्ध धर्म ग्रन्थ विसुद्धिमग्गो (९/३९) में स्पष्ट कहा है —

“अदन्तदमनं दानं, दानं सव्वत्थसाधकं।”

— दान अदान्त (दमन न किये हुए व्यक्ति) का दमन करने वाला तथा सर्वार्थसाधक है। दान से केवल चोरों का ही नहीं, लुटेरों, बदमाशों, वेश्याओं का

भी जीवन बदला है ।

यह दान का ही अद्भुत प्रभाव था कि राजसी-ठाटबाट से रहने वाले राजा हरिश्चन्द्र को ऋषि विश्वामित्र को राज्य दान देने के बाद अपने जीवन को अत्यन्त श्रमनिष्ठ, सादगी और संयम से ओतप्रोत बनाना पडा ।

अमेरीका के धनकुबेर डेल कार्नेगी ने जब दान प्रवृत्ति शुरू की तो स्वयं तमाम मादक द्रव्यों का परित्याग कर दिया । उन्होंने स्वयं एक बार कहा था — “मेरा मादकनिषेध भाषण तब प्रभावशाली एवं सर्वोत्तम हुआ, जबकि मैंने स्वयं मद्यत्याग करके अपनी जागिर की आय में से सभी मादक द्रव्यों का सर्वथा परित्याग करनेवाले सभी श्रमिकों को १० प्रतिशत पुरस्कारवृत्ति देने की घोषणा की थी ।” इसलिए दान जीवन-परिवर्तन का अचूक उपाय है ।

दान से जीवन-शुद्धि भी होती है और संतोष भी मिलता है । घटना कुछ इस प्रकार है — एक वेश्या थी । उसके पास सौन्दर्य था । जवानी थी और वैभव का भी कोई पार न था । किन्तु उसके दिल में अशान्ति थी । उसने तथागत बुद्ध के चरणों में पहुँचकर शान्ति और सन्तोष का मार्ग पूछा तो उन्होंने कहा — “शान्ति और सन्तोष का मार्ग तुम्हें तभी प्राप्त हो सकता है, जब तुम अपने तन, मन, धन को इस वेश्यावृत्ति से मुक्त कर दो, जब तक तुम अपने तन, मन और धन को इसी प्रकार के कसब कमाने और अपने शरीर को बेचने में लगाये रखोगी, तब तक तुम्हें शान्ति का वह सात्त्विक मार्ग प्राप्त नहीं हो सकता ।” बुद्ध के उपदेश से उसने अपनी वेश्यावृत्ति छोड़ दी और सादगी से जीवन बिताने लगी । एक दिन वह पुनः तथागत बुद्ध के चरणों में पहुँची और उनसे निवेदन किया — “भगवन् ! अब मैं अपना शरीर बेचने का धंधा छोड़ चुकी हूँ । सात्त्विक जीवन बिताती हूँ । मुझे ऐसा मार्ग बताइए, जिससे शान्ति मिले ।” बुद्ध ने उसे बताया कि निःस्वार्थभाव से दान का मार्ग ही ऐसा उत्तम है, जिसे अपनाने पर तुम्हारे तन-मन को शान्ति मिलेगी, तुम्हारा धन शुभ कार्यों में लगेगा । जिससे तुम्हें सन्तोष प्राप्त होगा ।”

बस, उसी दिन से उस भूतपूर्व वेश्या ने दानशालाएँ खुलवा दीं, रास्ते पर कई जगह यात्रियों के ठहरने के लिए धर्मशालाएँ आदि बनवा दीं, गरीब, विधवा एवं अनाथ स्त्रियों के खानपान का प्रबन्ध कर दिया । गरीबों को वस्त्र,

अनाज या अन्य आवश्यक वस्तुएँ देती रहती। मध्यमवर्गीय कुलीन लोग, जो किसी के आगे हाथ नहीं पसार सकते थे, उन्हें वह चुपचाप मदद करती थी। इस प्रकार दान का मार्ग ग्रहण करने से पहले उसका जीवन शुद्ध बन गया और दान के बाद भी उसका धर्माचरण में जीवन रंग गया। इस दान प्रवृत्ति से उसे बहुत ही सन्तोष, एवं आत्म-शान्ति मिलने लगी। दानप्रवृत्ति के कारण घर-घर में उसका नाम फैल गया। इतिहास में वह आप्रपाली वेश्या के नाम से प्रसिद्ध हुई। बाद में उसने तथागत बुद्ध के चरणों में अपनी सारी सम्पत्ति अर्पित कर दी और भिक्षुणी बनकर अपने जीवन की पूर्णतया शुद्धि कर ली।

इस प्रकार दान से व्यक्ति को जीवन शुद्धि और आत्म-शान्ति प्राप्त होती है। व्यक्ति अपने तन, मन, धन को दानप्रवृत्ति में लगाकर परम सन्तोष का अनुभव करता है।

रूस के 'पीटर दि ग्रेट' ने अनुभव की आँच में तपी हुई बात कही है—

“दान असंख्य पापों का छेदन करने वाला है।”

इस तथ्य को प्रमाणित करने के लिए रॉकफेलर का जीवन प्रसंग प्रस्तुत किया जाता है —

'जॉन डी रॉकफेलर' अमेरिका का एक धनाढ्य व्यक्ति था। उसने अनैतिकता से व्यापार में बहुत ही धन कमाया था। वह अपने नौकरों को बहुत सताता और उनसे कसकर काम लेता था। वह इतना हृदयहीन था कि कभी किसी दुःखी, भूखे या अभावग्रस्त को देखकर उसके हृदय में करुणा, दया या सहानुभूति नहीं पैदा होती थी, न वह किसी को दान देता था।

एक बार रॉकफेलर बीमार पड़ा। कोई भी डाक्टर उसे स्वस्थ न कर सका। ज्यों-ज्यों इलाज करते गए, मर्ज बढ़ता ही गया। रॉकफेलर पीड़ा के मारे बैचेन रहता, मगर परिवार, समाज या डाक्टर कोई भी उसे शान्ति न दे सका। उसके माता-पिता ने यह घोषणा कर दी कि “जो कोई इस बीमारी को मिटा देगा, उसे मैं अपनी सारी सम्पत्ति का मालिक बना दूँगा।

‘रॉकफेलर ने भी कहा — “चाहे जितना धन ले लो, मेरा रोग मिटा दो।” एक दिन रॉकफेलर के मन में अपने प्रति ग्लानि, आत्म-निन्दा और

पश्चात्ताप की भावना पैदा हुई। उसने सोचा - “मैंने अपने जीवन में कितने पाप कर्म कमाए; मैंने कैसे को जीवन का सर्वस्व समझा। एक रात भर में मैंने लाखों रुपये कमाए, पर किसी को एक पाई कभी दान नहीं दिया, आज तक मैंने धन इकट्ठा ही इकट्ठा किया। जिस धन के पीछे मुझे गर्व था कि मैं इससे दुनियाँ के सभी कार्य कर सकता हूँ, वह आज मिथ्या साबित हो चुका है, वह धन मुझे अपने रोग से मुक्ति नहीं दिला सका।”

उसने मन ही मन संकल्प किया - “यदि मैं इस रोग से मुक्त हो जाऊँ या चक जाऊँ तो अपनी सारी सम्पत्ति दान में दे दूँगा। बस, यह मेरा दृढ़ निश्चय है।”

रॉकफेलर ने उस सूची के अनुसार सभी संस्थाओं को चैक लिखकर भिजवा दिये। फिर रॉकफेलर ने अपने मैनेजर से कहा - “मैंने अपनी जिंदगी में जो आनन्द अभी तक प्राप्त नहीं किया था, वह आज इस दान के कारण मुझे प्राप्त हुआ है। मुझे इतनी आनन्द की अनुभूति होती है कि मैं रात-दिन दान देता ही रहूँ। एक मिनट भी दान के बिना खाली न रहूँ।”

परन्तु अफसोस! रॉकफेलर के चैक जिन-जिन संस्थाओं के पास गए उन सब संस्थाओं ने उन्हें वापस कर दिया। कोई भी संस्था रॉकफेलर का पैसा लेने को तैयार न हुई। चैक वापस करने के साथ उन्होंने पत्र में लिखा कि “यह अन्याय अनीति से कमाया हुआ पैसा हम अपने पास नहीं रख सकते। इससे हमारी बुद्धि भ्रष्ट हो जायेगी।”

आखिरकार रॉकफेलर ने अपने एक मित्र को बुलाया, जिसका जीवन प्रामाणिक और न्यायनीतिपूर्ण था। रॉकफेलर ने उस मित्र से कहा - “मुझे इतने रुपये दान में देने हैं, अपने पापों के प्रायश्चित्त के रूप में। मुझे नाम नहीं चाहिए। अतः तुम ये रुपये ले जाओ और अपने नाम से अमुक-अमुक संस्थाओं को दे दो और मुझे अपने पाप के बोझ से हलका करो।” उसके मित्र ने वह सारा धन उन संस्थाओं को दे दिया। अब संस्थाओं ने उस धन को स्वीकार कर लिया। रॉकफेलर को इस दान से बहुत आनन्द आया।

इस प्रकार दान प्रायश्चित्त के रूप में पापों के विच्छेद (नाश), आत्म-शान्ति और आनन्द का कारण बना।

सच में दान का अमृत जीवन में किस प्रकार से सुख, शांति, समता और आनन्द का स्रोत बहाता है, समाज में व्याप्त विषमता, दरिद्रता, दैन्य और दुःखों के जहर को नष्ट करता है और मानव को सचमुच में अमर जीवन प्रदान करने में समर्थ होता है।

३. दान : कल्याण की नींव :

परम्परा से मूर्छ का त्याग होने के कारण दान से सम्यक्त्व, जो मोक्ष प्राप्ति का मूल मन्त्र-बीज मंत्र है, उसकी प्राप्ति होती है, लौकिक और परलौकिक अगणित सुख-वैभव का खजाना खोलने के लिए दान ही वह दिव्य चाबी है। धर्मरूप महल का शिलान्यास दान से ही होता है।

दान के दिव्य प्रभाव से ही प्रायः महापुरुषों को सम्यक्त्व की उपलब्धि हुई है। सम्यक्त्व का सम्बन्ध आत्मा के शुद्ध परिणामों से है, लेकिन वे परिणाम भी किसी न किसी निमित्त को लेकर ही होते हैं, कई जीवों के परिणाम ऐसे भी होते हैं, जिनमें कोई बाह्य निमित्त नहीं होता। इसीलिए तत्त्वार्थसूत्र में सम्यग्दर्शन दो प्रकार का बताया है —

“तन्निर्गर्गाधिगमाद् वा।”

वह सम्यग्दर्शन निर्गर्ग (स्वभाव) से तथा अधिगम (गुरु का उपदेश, शास्त्र या अन्य किसी वस्तु के निमित्त) से होता है। जहाँ सम्यग्दर्शन पूर्व जन्म के संस्कारवश स्वाभाविक रूप से होता है, वहाँ तो कोई बात ही नहीं, पर जहाँ किसी न किसी महापुरुष के उपदेश आदि निमित्त को लेकर सम्यग्दर्शन होता है वहाँ दान सम्यग्दर्शन का मुख्य बहिरंग कारण बनता है। दान के निमित्त से किसी न किसी महापुरुष से उपदेश, प्रेरणा या बोध प्राप्त होता है। जिससे बोधि बीज (सम्यक्त्व बीज) की प्राप्ति होते देर नहीं लगती।

भगवान महावीर को सर्वप्रथम 'नयसार' के भव में सम्यक्त्व की उपलब्धि हुई थी। एक बार नयसार जंगल में लकड़ियाँ इकट्ठी कर रहा था। तभी एक उत्तम साधु आते हुए दिखाई दिए। ये मार्ग भूल गये थे और इधर-उधर भटकते हुए अनायास ही वहाँ आ पहुँचे थे। नयसार ने जब उन्हें दूर ही से देखा, उसके सरल और स्वच्छ हृदय में महामुनि के प्रति सद्भावना जगी, वह सामने गया और उन्हें वन्दन-नमन करके कहा—

“पधारो मुनिराज ! हमारे डेरे पर ।”

मुनिवर बोले — “भाई ! मुझे अमुक नगर में जाना था, परन्तु मैं रास्ता भूल गया हूँ। रास्ता ढूँढते-ढूँढते समय भी काफी हो चुका है, मगर अभी तक उसका पता नहीं लगा है।”

“पर गुरुदेव । भिक्षा लिये बिना आपको कैसे जाने दूँ । आप थके हुए भी हैं, भूखे भी हैं, इसलिए आप हमारे डेरे पर पधारें । आपके योग्य सात्त्विक आहार-पानी तैयार है । आप उसे स्वीकारें और सेवन करें ।” नयसार की हार्दिक भक्ति और धर्म स्नेहपूर्वक आग्रह देखकर मुनिवर उसके डेरे पर पधारे । नयसार ने मुनिवर को पवित्र एवं उत्कट भावों से आहार-पानी दिया । मुनिराज ने आहार किया, कुछ देर विश्राम किया और पुनः विहार करने को तैयार हुए । नयसार उन्हें दूर-दूर तक रास्ता बताने को साथ में गया । मुनिराज ने भी एक वृक्ष के नीचे कुछ देर विश्राम लेकर नयसार को श्रेयमार्ग का संक्षिप्त उपदेश दिया । तृषित चातक की तरह उसने उपदेशामृत का पान किया । इस उपदेश से वस्तुतत्त्व का बोध हो गया और भावी जीवन सुन्दर और उन्नत बनाने के लिए सम्यक्त्व का बीजारोपण हो गया ।

इस प्रकार दान के प्रबल निमित्त से भगवान महावीर को नयसार के जन्म में सर्वप्रथम सम्यक्त्व की उपलब्धि हुई ।

भगवान ऋषभदेव को भी धन्ना श्रेष्ठी के भव में दान से सम्यक्त्व की उपलब्धि हुई ।^१

इसी प्रकार कलिकालसर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्राचार्य और भी अधिक स्पष्ट रूप से कहते हैं —

“उस समय धन्ना सार्थवाह (ऋषभदेव के पूर्व-भव के जीव) ने साधु-सन्तों को दान देने के प्रभाव से मोक्षतरु के बीजरूप सुदुर्लभ बोधि बीज (सम्यक्त्व) प्राप्त किया था ।”^२

१. धन सत्त्ववाह पोसण, जड़गमण, अडविवास ठाणं च । बहु बोलोणेवासे, चिन्ता धयदाणमासि तथा । आवश्यकनियुक्ति (गा. १६८)

२. तदानी सार्थवाहेन दानस्यास्य प्रभावतः ।

लेभे मोक्षतरोबीजं बोधिबीजं सुदुर्लभम् ॥ — त्रिशष्टि. १/१/१४३

आवश्यक भाष्य भी इसी बात को स्पष्ट करता है —

“दाणऽन्नपंथनयणं, अणुकंप गुरुण कहण सम्मत्तं ।”

— धन्ना सार्थवाह ने मुनिवर को दान दिया, उन्हें सही मार्ग पर ले गया। गुरुदेव ने अनुकम्पा लाकर उन्हें उपदेश दिया, जिससे सम्यक्त्व की प्राप्ति हुई।

दान मोक्ष का द्वारपाल है। मोक्ष का प्रथम द्वार सम्यक्त्व है और सम्यक्त्व को प्राप्त कराना दानरूपी द्वारपाल के हाथ में है। मनुष्य अगर महापुरुष बनना चाहता है तो किसी महापुरुष साधुसन्त को दान देना अत्यन्त आवश्यक है। शास्त्र में बताया है —

“मुनिवरों के दर्शनमात्र से दिन में किया हुआ पाप नष्ट होता है, तो फिर जो उन्हें दान देता है, उससे जगत् में कौन-सी ऐसी वस्तु है, जो प्राप्त न हो, यहाँ तक कि सम्यक्त्व की उपलब्धि भी दान के निमित्त से प्राप्त होती है।^१

पद्मनन्दिपंचविंशति में इस सम्बन्ध में स्पष्ट संकेत किया है —

— “जगत् में जिस आत्मस्वरूप के ज्ञान से शुद्ध आत्मा के पुरुषार्थ की सिद्धि होती है, वह आत्मा (परमात्मा) का बोध (ज्ञान) गृह में स्थित मनुष्यों को अक्सर कहाँ प्राप्त हो सकता है ? अर्थात् नहीं हो सकता। किन्तु चार प्रकार के दान से तथा पात्र के आनुषंगिक फल रूप वह आत्म-बोध (सम्यक्त्व) सहज रूप से ही प्राप्त हो जाता है।”^२

दान ही एक ऐसा चमत्कारिक गुण है, जिसके प्रभाव से आकृष्ट होकर सभी सौख्यसामग्री मनुष्य के पास आ जाती है। रथणसार नामक ग्रन्थ में पात्रदान का फल बताते हुए कहा है —

१. दंसणमित्तेण वि मुणिवरणं नासेइ दिणकयं पावं ।

जो देई ताण दाणं तेण जए किं न सुविदत्त ॥ — अभिधान राजेन्द्रकोष, गा. १०३

२. प्रायः कृतो गृहगते परमात्म-बोधः,

शुद्धात्मनो भुवि यतः पुरुषार्थसिद्धिः ।

दानात्सुर्नननु चतुर्विधतः करस्था,

सा लीलयैव कृतपात्रजनानुषंगात् ॥ — प.पं. २/१५

“माता, पिता, मित्र, पत्नी आदि कुटुम्ब परिवार का सुख तथा धन, धान्य, वस्त्र-अलंकार, हाथी, रथ, मकान आदि से सम्बन्धित संसार का श्रेष्ठ सुख सुपात्र दान का फल है।”

पद्मनन्दिपंचविंशतिका में इसी बात का स्पष्टतः समर्थन किया गया है —

“सौभाग्य, शूरवीरता, सुख, रूप, विवेक, बुद्धि आदि तथा विद्या, शरीर, धन, गृह, सुकुल में जन्म होना, यह सब निश्चय से पात्र दान के द्वारा ही प्राप्त होता है। फिर हे भव्यजनो ! इस पात्रदान के विषय में प्रयत्न क्यों नहीं करते ?”

दान के दिव्य प्रभाव से ही शालिभद्र ने दिव्य ऋद्धि एवं विपुल सम्पत्ति प्राप्त की। शालिभद्र का पूर्व-जन्म का जीवन अत्यन्त दरिद्रता में बीता। बचपन में ही पिता चल बसे। जो कुछ जमीन या अन्य साधन था, सब बाढ़ आदि के प्रकोप में समाप्त हो गया। माता धन्ना ग्वालिन बालक संगम को लेकर राजगृह चली आई। संगम का पालन-पोषण राजगृह में होने लगा। धन्ना आसपास में धनिकों के घर के काम, सफाई, चौका-बर्तन, आटा पीसना आदि कार्य करके अपना और बेटे का निर्वाह कर लेती थी।

उस समय मजदूरी अधिक नहीं मिलती थी। मजदूरी बहुत ही कम थी। इसलिए मुश्किल से माँ-बेटे का गुजारा चल पाता था।

एक दिन कोई त्यौहार था। आसपास के धनिकों के हमजोती लड़कों के साथ संगम प्रतिदिन की तरह खेलने गया। धनिकपुत्रों ने संगम से कहा— “आज तो हमारे यहाँ खीर बनेगी। बहुत स्वादिष्ट लगेगी।

१. मादु-पिदु-मितं कलत्त-धण-धण्ण-क्त्थु-वाहण-विसयं ।
संसारसारसोक्खं जाणउ सुपत्तदाणफलं ॥२०॥
सुकुल-सुरूव-सुलक्खण-सुमइ-सुसिक्खा-सुसील-सुगुणचारितं ।
सुहलेसं सुहणामं सुहसादं सुक्कदाणफलं ॥२१॥ — रयणसार
२. सौभाग्य-शौर्य-सुख-रूप-विवेकिताद्या,
विद्या-वपुर्धनगृहाणि कुले च जन्म ।
सम्पद्यतेऽखिलमिदं किल पात्रदानात्,
तस्मात् किमत्र सततं क्रियते न यत्नः ॥४४॥ प.पं.

संगम के मन में खीर खाने की प्रबल इच्छा जाग्रत हो गई। उसे क्या पता था कि खीर के लिए पैसों का प्रबन्ध कैसे होगा? घर में माँ के आते ही संगम ने कहा — माँ! आज तो हम खीर खाएँगे। खीर बना दे। सबके घरों में आज खीर बनेगी। हमारे यहाँ भी आज खीर ही बननी चाहिए।”

धन्ना एकदम सन्नाटे में आ गई। सोचने लगी — “मेरी कमाई तो इतनी है नहीं, बेटा खीर माँगता है। बेचारे ने कभी खीर खाई नहीं और आज ही पहली बार माँगी है। पर कहाँ से ला दूँ। मजदूरी तो बहुत ही कम मिलती है, इतने में तो हम दोनों का गुजारा भी मुश्किल से होता है। हाय! वे दिन कैसे अच्छे थे। इसके पिता के रहते हम गाँव में रहते थे, वहाँ दूध-घी की कोई कमी नहीं थी घर में। पर अब तो वे अच्छे दिन पलट गए। क्या करूँ, कहाँ खीर बना दूँ?” यों सोचकर धन्ना रोने लगी। संगम अपनी माँ को रोते देख उदास हो गया। पूछने लगा — “माँ! तू रोती क्यों है?” धन्ना ने संगम को संक्षेप में अपनी परिस्थिति समझाई और कहा कि “फिर कभी खीर बनाएँगे, आज जाने दे।” पर संगम खीर के लिए मचल उठा। वह किसी भी तरह नहीं माना तो धन्ना यह कहकर चल दी कि “अच्छा, मैं जाती हूँ, कहीं, से मजदूरी करके खीर का सामान लाऊँगी।”

धन्ना कि आँखों से आज सावन-भादों बरस रहा था। वह धनिकों के यहाँ सबकी परिचित थी। सेठानियाँ उसकी आँखों में आँसू देखकर पूछने लगीं— “धन्ना! आज तुम्हारी आँखों में आँसू क्यों? तुम्हें किस बात की चिन्ता है?” धन्ना ने आँसू पोंछते हुए कहा— “नहीं ऐसी कोई खास बात नहीं है। लेकिन आज संगम खीर खाने के लिए मचल उठा है। कहने लगा— “खीर ही खाऊँगा, आज तो।”

धन्ना ने सेठानियों के घर काम करके खीर बनाने का सामान लेकर घर पहुँची। घर पर संगम ने देखा कि माँ खीर का सामान लेकर आई है तो वह बहुत प्रसन्न हुआ। धन्ना ने हँडिया में दूध गर्म करने को रखा और उसमें चावल और शक्कर डालकर जेने लगी। जाते-जाते वह संगम से कह गई — “मैं घरों में काम करके लगभग एक घण्टे में आ जाऊँगी। जब खीर पक जाय तो हँडिया नीचे उतार लेना और थाली में टंडी करके खा लेना। अच्छा, कर लेगा न?”

संगम ने स्वीकृतिसूचक सिर हिला दिया और माँ के चले जाने के बाद खीर की हंडिया के पास बैठ गया। खीर जब पक गई तो हंडिया नीचे उतार थाली में खीर परोस ली।

संगम अब खीर ठंडी होने की प्रतीक्षा में था, इतने में ही मासिक उपवासी एक मुनि भिक्षा के लिए जा रहे थे। संगम ने मुनि को देखा तो उसके मन में विचार आया कि ऐसे मुनियों को मैं सेठों के यहाँ अक्सर देखा करता हूँ, ये भिक्षा पर ही गुजारा करते हैं। आज तो मेरे यहाँ खीर बनी है, इनके पात्र में पड़ेगी तो अच्छा है। वह उठकर अपनी कोठरी से बाहर निकला और मुनिवर को वन्दन-नमस्कार करके प्रार्थना की - "मुनिवर ! पधारो, मेरा घर पावन करो। मैं आपको भिक्षा दूँगा।" मुनि ने संगम की भावना देखकर घर में प्रवेश किया और आहार के लिए पात्र रखा। संगम ने बहुत ही उत्कट भाव से मुनिराज के रोकते-रोकते सारी की सारी खीर उनके पात्र में उँडेल दी। आज संगम को मुनिराज को देने का बड़ा हर्ष था। बाद में थाली में जो खीर लगी बची थी, उसे वह चाटने लगा। उसको एक तरह से मानसिक तृप्ति थी। इतने में माँ आई, बेटे को थाली चाटते देखकर वह समझी, बहुत भूख लगी होगी, इसलिए सारी खीर खा गया होगा। परन्तु संयोगवश उसी रात को संगम के उदर में अतिशय पीड़ा हुई और उसी में ही उसका शरीर छूट गया। अन्तिम समय में संगम की भावना बहुत अच्छी थी। इसलिए मरकर वह राजगृह नगर के अत्यन्त धनिक सेठ गोभद्र के यहाँ जन्मा। शालिभद्र नाम रखा गया। बहुत ही सुन्दर ढंग से उसका लालन-पालन हुआ। युवावस्था आते ही ३२ रूपवती कुलीन घर की कन्याओं के साथ उसका पाणिग्रहण हुआ।

शालिभद्र के जो ऋद्धि, समृद्धि तथा सुख-सामग्री मिली वह सुपात्रदान का ही प्रभाव था।

किन्तु सुख-सामग्री मिलने के साथ यदि धर्म-बुद्धि न मिले तो वह जीव उस पौद्गलिक सुख में फँस जाता है। शालिभद्र को सुख-सामग्री के साथ तथा स्वर्गीय सम्पत्ति के साथ-साथ एक दिन धर्म-बुद्धि पैदा हुई और तभी शालिभद्र ने चढ़ती जवानी में सारी सुख-सामग्री एवं पत्तियों को छोड़कर मुनि दीक्षा अंगीकार कर ली।

यह था दान का चमत्कार जिसने संगम को दरिद्रावस्था में से उठाकर शालिभद्र के रूप में विपुल ऋद्धि एवं सुख-सामग्री से सम्पन्न बना दिया।

जैन स्थापत्य कला को उच्च शिखर पर पहुँचाने वाले प्रसिद्ध जैन श्रावक वस्तुपाल-तेजपाल गुजरात के राजा के महामंत्री थे। दोनों भाई बड़े दानवीर, संघसेवक एवं दुःखियों के हृदय थे। इनके विषय में कहा जाता है कि उन्हें दान के प्रभाव से ऐसा वरदान प्राप्त था कि जहाँ कहीं ठोकर मारते, वहाँ खजाना निकल आता।

इसी प्रकार मुर्शिदाबाद के जगत् सेठ भी बड़े दानपरायण थे। वास्तव में दिया हुआ दान कभी व्यर्थ नहीं जाता। कई दफ्न तो दान का चमत्कार यहीं का यहीं प्रत्यक्ष नजर आ जाता है, कई दफ्न परलोक में प्राप्त होता है।

अहमदाबाद के धर्मवीर सेठ हठीभाई के बारे में भी कहा जाता था कि वे पारसमणि थे। वे लोहे को स्पर्श करते तो उसका सोना बन जाता था। इनके एक बार के दान में बन्दे का बेड़ा पार हो जाता। कलियुग के ये ऐसे दाता थे।

इनके समय की एक घटना है सतारा नाम की गरीब बुढ़िया ने जब इनके बारे में सुना तो वह अपने इकलौते लडके को जो रुग्ण शय्या पर इलाज के अभाव में तड़फ रहा था। पर सेठ की दानवीरता के बारे में सुनकर उसके दिल में आशा का संचार हुआ। वह अपनी सारी शक्ति बटोरकर हाथ में लठिया ली और दूसरे हाथ में लोहे का टुकड़ा लेकर हाँफती, श्वास लेती धीरे-धीरे हठीभाई सेठ की हवेली पर पहुँची। विचारमग्न सेठ के दाहिने पैर से ज्यों ही वह लोहे का टुकड़ा छुआने गई, त्यों ही सेठ एक दम चौंक उठे। बुढ़िया की यह विचित्र चेष्टा देखकर सेठ ने जरा गर्म होकर पूछा - “बुढ़िया माँ जी ! यह क्या कर रही हो ?”

बुढ़िया बोली- “मैंने सुना है कि आप पारसमणि हैं। आपके स्पर्श से लोहा भी सोना बन जाता है। माफ करना, खुदा के वास्ते, मैं गरीब अभागिनी हूँ। जरूरतमंद हूँ। मुझ में अकल नहीं है। इसी से आपके दरवाजे पर आई हूँ लोहे का सोना बनाने के लिए। मेरा गुनाह माफ करना।”

सेठ ने बुढ़िया पर एक शान्त दृष्टि डाली-निखालिस चेहरा, पीड़ा से

भरी आँखें, मुख पर से झरता वात्सल्य ! यह सब देखते ही सेठ का हृदय करुणार्द्र हो गया । सेठ ने बुढ़िया से वह लोहे का टुकड़ा ले लिया और कहा- “माँजी ! जाओ, उस पट्टे पर बैठ जाओ ।” किन्तु बुढ़िया का साहस न हुआ वह शान्त खड़ी-खड़ी तमाशा देखती रही । मन में अन्तर्द्वन्द्व चलने लगा । सेठ ने मुनीम को बुलाकर, वह लोहे का टुकड़ा तुलवाया तो पूरे २५ तोले का निकला । सेठ विचार में पडा- ‘मेघ आकाश में न हों तो वर्षा नहीं होती, पर नदी के सूख जाने पर भी तृषातुर को वहाँ गड्ढा खोदने पर थोड़ा-सा पानी मिल ही जाता है । चाहे मेरी स्थिति आज तंग है, फिर भी मुझे इसे अल्प में से अल्प देना ही चाहिए !’ कहा भी है -

“चीड़ी चोंच भर ले गई, नदी न घटियो नीर ।”

यह बेचारी तृषातुर है । यद्यपि मेरी स्थिति आज तंग है, तथापि यह बुढ़िया मेरे यहाँ से खाली हाथ लौटे, यह मेरे लिए शोभास्पद नहीं है । इससे तो धर्मी और धर्म दोनों बदनाम होंगे । अतः सेठ ने मुनीम से कहा- “इस लोहे के बदले उस बुढ़िया को २५ तोला सोना तोल दो ।”

सोने का टुकड़ा लेकर घर की ओर जाती हुई सतारा बुढ़िया की आँखों में हर्षाश्रु बह रहे थे । वह बुढ़िया मन ही मन आशीर्वाद दे रही थी - “अल्लाह इन्हें बरकत दे ! लोग कहते हैं, उसमें जरा भी अतिशयोक्ति नहीं है । सचमुच सेठ पारसमणि हैं ।”

कहते हैं, इस घटना के बाद कुछ ही महीनों में सेठ की सम्पत्ति का सूरज फिर से लाख-लाख किरणों से जगमगा उठा ।

कभी-कभी दान का प्रत्यक्ष चमत्कार भी देखने को मिल जाता है -

सायला (सौराष्ट्र) में एक लाला भक्त बहुत प्रसिद्ध हो चुका है । वि.सं. १८५६ में लाला भक्त का जन्म सींधाबंदर में हुआ । जब लाला भक्त ७ साल का बालक था तभी एक दिन उसके पिताजी उसे दुकान पर बिठाकर कहीं बाहर चले गए । इसी दौरान १५ संन्यासियों को ठंड से काँपते हुए लाला भक्त ने देखा । लाला संस्कारी जीव था । उसे संन्यासियों को सर्दी से ठितुरते देखकर दया आई, तुरन्त उसने १५ गर्म कंबल दुकान से निकालकर प्रत्येक साधु को

एक-एक कंबल दे दिया। साधु वे कंबल लेकर चल दिये। लाला ने सोचा— “पिताजी आएँगे, वे कंबलें न देखकर क्या कहेंगे? ज्यादा से ज्यादा वे मुझे पीटेंगे। भले ही पीट लें। मैं मार सहन कर लूँगा।” यो सोचकर लाला भक्त बाहर चला गया। पीछे से पिताजी दुकान पर आए। पड़ौसी दुकानदारों ने लाला के पिताजी से कहा — “आज तो आपके लाला ने खूब व्यापार किया है; जरा कंबल निकाल कर गिनो तो सही।” यह सुनकर उन्होंने कंबले गिनीं तो पूरी थी, एक भी कम न थी। प्रत्यक्षदर्शी पड़ौसियों को इस पर बड़ा आश्चर्य हुआ। उन्होंने कहा — “हम आपसे झूठी बात नहीं कहते। हमने लाला को १५ कंबलें साधुओं को देते देखा है। हमारे साथ चलो, हम तुम्हें प्रत्यक्ष बता देंगे।” यह कहकर एक पड़ौसी दुकानदार लाला के पिता को उसी मार्ग से ले गया, जिधर वे साधु-सन्ध्यासी गये थे। वहाँ जाकर देखा तो उन साधुओं के पास वे कंबले थी। इससे पिता को लाला की संस्कारिता और प्रभु-भक्ति पर विश्वास हो गया। लाला भक्त अपने पिताजी से कोई बात गुप्त नहीं रखते थे। सत्यवादी और परम भक्त लाला के दान के और भी चमत्कार लोगों ने देखे।

दान दिया हुआ खाली नहीं जाता और प्रायः दान देने से द्रव्य घटता भी नहीं है।

एक बार सिंह सेनापति ने तथागत बुद्ध से प्रश्न किया — “भंते! दान से प्राणी को क्या लाभ होता है? इस पर तथागत बुद्ध ने कहा — “आयुष्मान्। दान से ४ लौकिक लाभ है।”

(१) दाता लोकप्रिय होता है; (२) सत्पुरुषों का संसर्ग प्राप्त होता है; (३) कल्याणकारी कीर्ति प्राप्त होती है; और (४) किसी भी सभा में वह विज्ञ की तरह जा सकता है और पारलौकिक लाभ यह है कि परलोक में वह स्वर्ग में जाता है। वहाँ भी दान के प्रभाव से ऋद्धि और वैभव पाता है। यह अदृष्ट लाभ है।”

संक्षेप में दान कामधेनु है और अमृतफल है, जो भी व्यक्ति दान का सक्रिय आचरण, आसेवन और साक्षात्कार करता है उसे अपने जीवन में किसी

प्रकार की कमी नहीं रहती, दान से सब प्रकार की पूर्ति हो जाती है ।

४. दान : धर्म का प्रवेशद्वार :

दान धर्म का प्रवेश द्वार है । कोई व्यक्ति किसी भवन में द्वार से ही प्रवेश करता है, इसी प्रकार धर्मरूपी भव्य भवन का प्रवेश द्वार दान है । क्योंकि जब तक हृदय शुद्ध नहीं हो पाता, जब तक उसमें धर्म ठहर नहीं सकता ।^१ और हृदय शुद्धि उसी की होती है, जिसमें सरलता हो, नम्रता हो, मृदुता हो । ये तीन गुण हृदय शुद्धि के लिए सर्वप्रथम आवश्यक हैं । परन्तु इन तीनों गुणों का उद्गम दान से ही होता है ।

किसान बीज बोने से पहले खेत को रेशम की तरह मुलायम करता है, उसके पश्चात् उसमें बीज बोता है । हृदयरूपी खेत को भी दान से मुलायम किया जाता है । दान जीवन की एक अद्भुत कला है, जिसे सक्रिय करने से पहले दीन-दुःखियों, गरीबों, अपाहिजों, असहायों या पीड़ितों के प्रति अनुकम्पा दया और करुणा के कारण हृदय नम्र बन जाता है, दानपात्रों के प्रति सहानुभूति और आत्मीयता के कारण हृदय मृदु और सरल बन जाता है । दान देने वाले में जब अहंकार नहीं रहता, एहसान करने की बुद्धि नहीं रहती, तभी दान सच्चा दान होता है । इसलिए दान से हृदयरूपी खेत को मुलायम बनाकर ही व्रत या धर्मरूपी बीज बोया जा सकता है ।

इस्लाम धर्म के प्रवर्तक हजरत मुहम्मद साहब ने कहा था — “प्रार्थना साधक को ईश्वर के मार्ग पर आधी दूर तक पहुँचाएगी, उपवास महल के द्वार तक पहुँचाएगा और दान महल में प्रवेश कराएगा ।”

इसलिए दान धर्मरूपी भव्य भवन में प्रवेश करने के लिए प्रथम द्वार है क्योंकि दान से हृदय कोमल होकर जीवन शुद्धि होती है और शुद्ध जीवन में ही धर्म टिक सकता है । शुद्ध जीवन का प्रारम्भ दान से ही होता है, इसलिए दान को धर्म का प्रवेशद्वार कहने में कोई अत्युक्ति नहीं ।

“केकय देश की श्वेताम्बिका नगरी का राजा प्रदेशी अत्यन्त क्रूर और

१. सोही उज्जयभूयस्स धम्मो सुद्धस्स चिद्धई । — उत्तराध्ययन

नास्तिक बना हुआ था। वह स्वर्ग-नरक, आत्मा-परमात्मा और धर्म-कर्म को बिलकुल नहीं मानता था। इन सबको वह धर्म का ढकोसला समझता था। उसके हाथ सदा खून से रंगे रहते थे। धर्म क्या है? यह कभी जानने का उसने प्रयत्न ही नहीं किया। वह इतना कठोर और निर्दय था कि प्रजा उससे सदा भयभीत रहती थी। दूसरों को दुःख देना उसके लिए मनोविनोद था। शरीर से अतिरिक्त कोई आत्मा नहीं है, यह उसका दृष्टिकोण था। अभी तक कोई समर्थ पुरुष उसे नहीं मिला था, जो उसके दृष्टिकोण को बदल सके। प्रजाजन प्रदेशी राजा को साक्षात् यमराज समझते थे।

श्रावस्ती नृप जितशत्रु प्रदेशी नृप का अभिन्न मित्र था। एक बार प्रदेशी ने अपने अभिन्न मित्र श्रावस्ती नृप को एक सुन्दर उपहार देने के लिए अपने विश्वस्त एवं बुद्धिमान मंत्री चित्तसारथी को भेजा, साथ ही वहाँ की राजनैतिक गतिविधि का अध्ययन करने भी। उस समय श्रावस्ती में भगवान पार्श्वनाथ की शिष्य-परम्परा के समर्थ आचार्य केशी श्रमण पधारें हुए थे। चित्त ने उनकी कल्याणमयी वाणी का लाभ उठाया। चित्त को केशीश्रमण मुनि का प्रवचन सुनकर बहुत आनन्द आया, मानो उसको खोया हुआ धन मिल गया। उसने केशीश्रमण से श्रावक के बारह व्रत अंगीकार किये।

लौटते समय चित्त ने केशीश्रमण से श्वेताम्बिका पधारने की प्रार्थना की। किन्तु केशीश्रमण प्रदेशी नृप की क्रूरता तथा अधर्मशीलता से भली भाँति परिचित थे। उन्हें अपना भय न था, किन्तु धर्म और संघ की अवज्ञा न हो, इसकी उन्हें गहरी चिन्ता थी इसलिये वे मौन रहे। चित्त ने दुबारा प्रार्थना की, फिर भी मौन रहे। तीसरी बार भी जब वे प्रार्थना के उत्तर में मौन रहे तो चित्तसारथी विनम्र एवं सतेज स्वर में बोला - “भंते! आप किसी प्रकार का विचार न करें, श्वेताम्बिका अवश्य ही पधारें। आपके वहाँ पधारने से राजा, प्रजा तथा सभीको बहुत बड़ा लाभ होगा। धर्म की महती सेवा होगी।” केशीश्रमण विहार करते-करते श्वेताम्बिका पधार गये। और नगरी के उत्तर-पूर्व कोण में जो सुरभित्त व सुरम्य उपवन - मृगवन था, उसी में वे विराजमान हुए। प्रजाजन उनकी अमृतवाणी का लाभ उठाने लगे। उनकी प्रवचन शैली बहुत ही आकर्षक थी।

एक दिन चित्तसारथी अवसर देखकर प्रदेशीनृप को अश्व परीक्षा के बहाने मृगवन की ओर ले आया। शान्त होकर चित्त और प्रदेशी नृप मृगवन में चले गये। वहाँ केशीश्रमण जनता को धर्मोपदेश दे रहे थे। राजा ने घृणादृष्टि से एकबार केशीश्रमण की ओर देखा। परन्तु केशीश्रमण सामान्य सन्त नहीं थे। वे चार ज्ञान के धनी और देशकाल के ज्ञाता थे। केशीश्रमण के संयम और तेप के अद्भुत तेज व प्रभाव से तथा चित्त की प्रेरणा से वह केशीश्रमण के चरणों में पहुँच गया। उनकी धर्मदेशना सुनकर राजा प्रभावित हुआ। उसने केशीश्रमण से ६ प्रश्न किये, जिनका तर्कपूर्ण और युक्तिसंगत समाधान पाकर वह प्रसन्न हो गया। उसके जीवन में आज यह चमत्कार था। उसकी चिरसंचित शंकाओं का आज मौलिक समाधान हो चुका। जीवन की दिशा बदल गई। उसने श्रावकधर्म अंगीकार किया और केशीश्रमण को नमस्कार करके प्रस्थान करते समय उसने उनके समक्ष अपनी राज्यश्री के चार विभाग करने का संकल्प किया, उन चार विभागों में से एक विभाग से^१ विराट दानशाला खोली, जहाँ पर जो भी श्रमण, माहण, भिक्षु, पथिक आदि आते, उन्हें वह सहर्ष दान करने लगा।

इससे यह प्रतिफलित होता है कि प्रदेशी राजा अमंगल से मंगल, क्रूरता से कोमलता और अधर्म से धर्म की ओर मुड़ा, इसमें उसकी दानशील वृत्ति भी परम कारण बनी। प्रदेशी की दानशाला से कई लोग लाभ उठाते थे, अब उसे लोग श्रद्धा की दृष्टि से देखने लगे थे।

इस प्रकार प्रदेशीराजा के लिए दान धर्म का प्रवेश द्वार बन गया।

एक और दृष्टि से देखें तो भी दान धर्म का प्रवेश द्वार बनता है। धर्म आत्मशुद्धि का साधन है। बुरी वृत्तियों, दुर्व्यसनों या बुराइयों को छोड़े बिना आत्मशुद्धि नहीं हो सकती, इसलिए बुरी वृत्तियों या बुराइयों का दान कर देना, उनके त्याग का संकल्प कर देना भी धर्मरूपी प्रासाद में प्रवेश करने का द्वार बन जाता है। जिस आत्मा की शुद्धि होती है, वही धर्ममार्ग पर चल सकती है। इसलिए धर्ममार्ग पर चलने के लिए बुराइयों या दुर्व्यसनों का दान (त्याग) कर

१. "..... एगेणं भागेणं महई महालयं कूडागार सालं करिस्सामि, तत्थणं बहूहि पुरिसेहिं दिन्नभईभत्त वेयणेहिं विउलं असणं ४ उवक्खडावेत्ता बहूणं समण-माहण-भिकखूयाणं पथिम-पहियाणं पडिलाभेमाणे..... ।" — रायप्पसेणिय सुत्तं

देना भी धर्म में प्रवेश करने का कारण है ।

दान को धर्म का शिलान्यास कह सकते हैं । इस शिलान्यास पर ही धर्म का सुहावना प्रासाद निर्मित हो सकता है । जो व्यक्ति जीवन में धर्म की आराधना-साधना करना चाहते हैं, उन्हें सर्वप्रथम दान को अपनाना आवश्यक होता है । दान धर्म की नींव रखता है । धर्म की बुनियाद पर जो प्रवृत्ति होती है, वह पापकर्म का बन्ध करनेवाली नहीं होती, धर्म की आधारशिला दान के द्वारा ही रखी जा सकती है । जब जीवन में दान की भावना आती है तो वह करुणा, दया, सेवा, सहानुभूति, आत्मीयता आदि के रूप में अहिंसा की भावना को लेकर आती है, दान करते समय अपनी वस्तु का त्याग करके अपने आप पर संयम करना पड़ता है और कई बार दानी को अपनी इच्छाओं का निरोध, अपनी सुख-सुविधाओं का त्याग एवं कष्ट सहन करना पड़ता है । इस प्रकार अहिंसा, संयम और तपरूप धर्म का शिलान्यास दान के द्वारा अनायास ही हो जाता है ।

पुरुषार्थसिद्धयुपाय में दान को द्रव्य और भाव से स्पष्ट रूप से अहिंसा माना गया है —

“अतिधिसंविभागन्नत (दान) मे परजीवों का दुःख, पीड़ा, चिन्ता आदि दूर करने के कारण द्रव्य-अहिंसा तो प्रत्यक्ष है ही, रही भाव-अहिंसा, वह भी लोभ-कषाय के त्याग की अपेक्षा से समझनी चाहिए ।”

५. दान : गृहस्थ-जीवन का सबसे प्रधान गुण

दान श्रावक के जीवन का प्रधान गुण है । कई धर्मग्रन्थों में इस तथ्य को स्वीकार किया गया है । श्रावक का जीवन केवल तात्त्विक (विचार) दृष्टि से ही उदार न हो, अपितु सक्रिय आचरण की दृष्टि से भी विराट् हो, वह अपने सम्बन्धियों को ही नहीं, जितने भी दीन-दुःखी, अतिथि मिले, सबके लिए उसके घर का द्वार खुला रहे ।^१ शास्त्र में तुंगिया नगरी के श्रावकों के घर का द्वार

१. कृतमात्मार्थं मुनये ददाति भक्तिमिति भावितस्त्यागः ।

अरतिविषादविमुक्तः शिथिलितलोभो भवत्यहिंसैव ॥१७४॥

२. योगशास्त्र, श्राद्धगुणविवरण, धर्मबिन्दु एवं धर्मरत्न में इस बात को स्वीकार किया गया है ।

सबके लिए सदा खुला बताया गया है —

“उसिह फलिहे, अवंगुअदुवारै ।”^१

— जो भी अतिथि, अभ्यागत उनके द्वार पर आता, उसका वे हृदय से स्वागत करते थे और आवश्यक वस्तु प्रसन्नता से दे देते थे। देना ही उनके जीवन का प्रधान लक्ष्य होता था।

श्रावक के तीन मनोरथों में प्रथम मनोरथ यह है कि “वह दिन मेरे लिए कल्याणकारी व धन्य होगा, जिस दिन मैं अपने परिग्रह को सुपात्र की सेवा में त्याग (दे) कर प्रसन्नता अनुभव करूँगा, ममता के भार से मुक्त बनूँगा।

प्रत्येक गृहस्थ के लिए सभी धर्मशास्त्र एक स्वर से दान का विधान करते हैं।

रथणसार ग्रन्थ में स्पष्ट रूप से कहा गया है —

“दाणं पूजा मुखं सावयधम्मे य सावयातेण विणा ।”

— सुपात्र में चार प्रकार का दान और देव-गुरु शास्त्र की पूजा करना गृहस्थ श्रावक का मुख्य धर्म है। दान के बिना गृहस्थ श्रावक की शोभा नहीं है। जो इन दोनों को अपना मुख्य धर्म-कर्तव्य मानकर पालन करता है, वही श्रावक है, वही धर्मात्मा है, वही सम्यग्दृष्टि है।

गृहस्थ श्रावक के लिए बारहवाँ व्रत इसी उद्देश्य को लेकर नियत किया गया है कि वह भोजन करने से पहले कुछ समय तक किसी सुपात्र, अतिथि, महात्मा या अनुकम्पापात्र व्यक्ति को उसमें से देने की भावना करे। अतिथि (उपर्युक्त) की प्रतीक्षा करे।

भगवान महावीर के आनन्द, कामदेव, चुलिनीपिता आदि दस प्रमुख गृहस्थ श्रावकों का जीवन उपासक दशांगसूत्र में पढ़ने से यह स्पष्ट फलित हो जाता है कि उनके जीवन में प्रतिदिन दान देने की कितनी उत्कट भावना थी।

भगवान महावीर ने गृहस्थ श्रावक को संसार के दुःखितों, पीड़ितों, भूखों, प्यासों और जरूरतमंदों के साथ सहानुभूति, आत्मीयता, और एकता

स्थापित करने और उनके सुख-दुःख में संविभागी बनने की दृष्टि से भी गृहस्थ श्रावक के लिए यह व्रत रखा है। इस दृष्टि से दान हृदय की उदारता का पावन प्रतीक है, मन की विराट्ता का द्योतक है और जीवन के माधुर्य का प्रतिबिम्ब है।

जैन मनीषियों ने प्रायः 'दान' के स्थान पर 'संविभाग' शब्द का जो प्रयोग किया है, वह बड़ी सूझ-बूझ के साथ किया है। दान में समत्वभाव, समता और निस्पृहता की अन्तरधारा बहती रहे यह आचार्यों का अभिष्ट रहा है जो संसार के अन्य चिन्तकों से कुछ विशिष्टता रखता है। देना 'दान' है, किन्तु दान 'व्रत' या 'धर्म' तब बनता है जब देनेवाले का हृदय निस्पृह, फलाशा से रहित और अहंकार शून्य होकर लेनेवाले के प्रति आदर, श्रद्धा और सद्भाव से परिपूर्ण हो। सद्भाव तथा फलाशा-मुक्त दान को ही 'अतिथिसंविभागव्रत' कहा गया है। वैचारिक समता, आत्मौपम्यभाव एवं उदारता को आचार रूप में परिणत करने का माध्यम दान का सूचक बारहवाँ व्रत है।

इसीलिए शास्त्रकारों ने दान को सर्वगुण संग्राहक या सर्वार्थ साधक कहा है —

“यदि मनुष्य के पास तीनों लोकों को वशीभूत करने के लिए अद्वितीय वशीकरण मंत्र के समान दान और व्रतादि से उत्पन्न हुआ धर्म विद्यमान है तो ऐसे कौन-से गुण हैं, जो उसके वश में न हो सकें तथा वह कौन-सी विभूति है, जो उसके अधीन न हो; अर्थात् धर्मात्मा एवं दान-परायण के लिए सब प्रकार के गुण, उत्तम सुख और अनुपम विभूति भी उसे स्वयमेव प्राप्त हो जाती है।”^१

कर्मयोगी श्रीकृष्ण ने दान, उदारता और धर्मदलाली द्वारा ही आगामी जन्म में तीर्थकरत्व प्राप्त कर लिया। वर्ष भर तक अविच्छिन्न रूप से दानधारा बहाने के कारण ही तीर्थकर उत्तम विभूति प्राप्त कर पाते हैं। तीर्थकर से बढ़कर कौन-सी समृद्धि है? वह तीर्थकरत्व सेवा रूप दान के द्वारा ही प्राप्त होता है।

१. किं ते गुणाः किमिह तत्सुखमस्ति लोके,

सा किं विभूतिरथ या न वशं प्रयाति ।

दानव्रतादिजनितो यदि मानवस्य,

धर्मो जगतत्रयवशीकरणैकमंत्राः ॥१०॥ — पद्मनन्दिपंचविंशती

दान से मनुष्य में दया, नम्रता, क्षमा, सेवा, करुणा, आत्मीयता आदि गुण अनायास ही आ जाते हैं, जिसके कारण वह स्वार्थत्याग, लोभत्याग आदि करता है। दान से मानसिक सुख-शान्ति मिलती है। शारीरिक सुख वगैरह भी मिलता है।

ऋग्वेद (१/१२५/६) में स्पष्ट कहा है —

“दक्षिणावतामिदिमानि चित्रा, दक्षिणावतां दिवि सूर्यास ।
दक्षिणावन्तो अमृत भजन्ते, दक्षिणावन्त प्रतिरन्त आयुः ॥”

— दानियों के पास अनेक प्रकार का ऐश्वर्य होता है, दानी के लिए ही आकाश में सूर्य प्रकाशमान है। दानी अपने दान से अमृत पाता है, दानी अति दीर्घायु प्राप्त करता है।

जो व्यक्ति निःस्वार्थभाव से दान देता है, उसकी प्रशंसा मनुष्य ही नहीं, देवता भी करते हैं। शास्त्रों में या जैन कथाओं में जहाँ-जहाँ किसी महान् आत्मा का दान देने का प्रसंग आता है, वहाँ-वहाँ यह पाठ अवश्यत आता है —

“अहो दाणं, अहो दाणं ति घुट्टे ।”

— देवताओं ने ‘अहो दानं, अहो दानं’, की घोषणा की। अर्थात् उस अनुपम दान की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की। इसीलिए नीतिकार कहते हैं —

“दानं देवाः प्रशंसन्ति, मनुष्याश्च तथा द्विजाः ।”

— देवता भी दान की प्रशंसा करते हैं, मनुष्य और ब्राह्मण तो करते ही हैं।

देवता दान की प्रशंसा क्यों करते हैं? इसलिए करते हैं कि देवलोक में दान की कोई प्रवृत्ति होती नहीं, देवलोक में कोई महात्मा या सुपात्र ऐसा नहीं मिलता, जिसे दान दिया जाय। दान के लिए सुपात्र उत्तम साधुसन्त, निःस्पृही त्यागी पुरुष मनुष्य लोक में ही मिल सकता है। इसलिए देवता दान के लिए तरसते हैं कि वे अपने हाथों से दान के योग्य किसी पात्र को दान नहीं दे पाते। जब दान नहीं दे पाते हैं, तो दान से होने वाला विपुल लाभ भी प्राप्त नहीं कर सकते। इसी कारण देवता दान की महिमा जानते हुए भी स्वयं दान न दे पाने के

कारण जो दान देता है और उत्तम पात्र को दान देता है, उसकी प्रशंसा उसका समर्थन मुक्त कण्ठ से करते हैं। वे उस व्यक्ति को महान् भाग्यशाली मानते हैं, जो अपनी लोभ संज्ञा को वश में करके दान देते हैं।

५ जिस समय भगवान् महावीर ५ महिने और २५ दिन तक दीर्घ तपस्या अभिग्रह के रूप में करके कौशाम्बी में भ्रमण कर रहे थे, उस समय राजकुमारी चन्दनबाला ने भगवान् महावीर को उड़द के बाकुले आहार-रूप में दिये। उस दान की देवों ने महती प्रशंसा की, 'अहो दानं' की घोषणा की।

इस प्रकार मानव-जीवन में दान का महत्त्व किसी भी प्रकार से कम नहीं है। दान का मूल्यांकन वस्तु पर से नहीं, भावों पर से ही किया जाता है। देवता भावों को ही पकड़ते हैं, वस्तु या वस्तु की मात्रा को वे नहीं देखते। इसी कारण वे तुच्छ से तुच्छ वस्तु के अल्प मात्रा में दिये गए दान को महत्त्वपूर्ण मानकर उसकी प्रशंसा करते नहीं थकते।

६. दान द्वारा उद्घात भावनाओं का विकास

भारतीय संस्कृति के एक संत ने कहा — "जो अर्पण करता है, वह देवता है। देवै सो देवता।" जो दूसरों को देता है, वह देव है। जिसके अन्तर में देवत्व विद्यमान रहता है, वह देता है। सूर्य निरन्तर प्रकाश देता रहता है, इसलिए देव है। इसी तरह चन्द्रमा और तारे भी प्रकाशदाता होने के कारण देव हैं। इसी तरह अग्नि, वायु, पानी, नदी, मेघ आदि सब अपनी-अपनी चीजों का दान करते हैं, इसीलिए देव न होते हुए भी देव माने जाते हैं। वास्तव में दान देनेवाले का हृदय इतना उदार और नम्र हो जाता है कि उसमें क्षमा, दया, सहनशीलता, सन्तोष आदि दिव्य गुण स्वतः ही प्रगट हो जाते हैं। मनुष्यों के लिए वैदों में 'अमृतस्य पुत्राः' कहा गया है। भगवान् महावीर ने ऐसे दिव्य गुणशाली गृहस्थ के लिए 'देवानुप्रिय' (देवों का प्यारा) शब्द का प्रयोग किया है। दान देने से व्यक्ति में उदारता आदि दिव्य गुण स्वतः विकसित होते जाते हैं और वह देव बन जाता है। वह अपने खर्च में कटौती करके, स्वयं कष्ट उठाकर भी दूसरों को कुछ न कुछ देता रहता है। ऐसा व्यक्ति कंजूस नहीं विवेकी देव है।

मनुष्य जब अपने हाथ से धन किसी को दान कर देता है या किसी अच्छे कार्य में खर्च कर देता है या परहितार्थ समर्पण कर देता है तो उसे उसका प्रायः दुःख या अफसोस नहीं होता, प्रत्युत उसके हृदय में आनन्द की अनुभूति होती है।

जैन परम्परा में दान को सत्कार्य माना जाता है। स्व-पर के कल्याण के लिए, परिग्रह कम करने के लिए और ममत्व को घटाने के लिए कहा है। ऋषभदेव से लेकर चरम तीर्थंकर भगवान महावीर तक सभी तीर्थंकरों ने वर्षादान दिया है।

मनुष्य दान से ही गौरव प्राप्त करता है, उच्च स्थान पाता है; किन्तु धन के संचय करने से नहीं पाता। जैसे कि अपना सर्वस्व जल मुक्तहस्त से लुटाने वाले दानी मेघों का स्थान ऊपर है, जबकि अपने जलरूपी धन को संचित करके रखनेवाले समुद्रों का स्थान नीचे है।

वास्तव में मेघ दानी हैं, इसीलिए उन्हें देखकर सभी प्राणी हर्षित होते हैं। चक्रवाक सूर्य को, चक्रोर चन्द्रमा को, हाथी विन्ध्याचल को, देवता मेरु पर्वत को देखकर हर्षित होते हैं, लेकिन बादलों को देखकर तो मोर, चातक, पशु, पक्षी, मनुष्य, कीट आदि सभी हर्षित होते हैं, क्योंकि वे सर्वस्व दाता हैं। इसी प्रकार संसार में जो दानशील होता है उसे सभी चाहते हैं, सभी उसे देखकर आल्हादित होते हैं।

दान देने वाले का हाथ सदा लेने वाले से ऊपर ही रहता है और वही हाथ गौरवपूर्ण होता है, जो याचक के हाथ से ऊपर हो। गोस्वामी तुलसीदास जी ने इस दिशा में स्पष्ट प्रेरणा दी है —

“ तुलसी कर पर कर करो, करतर करो न कोय ।

जो दिन कर तर कर करो, ता दिन मरण भलोय ॥”

‘दानषट्त्रिंशिका’ में दान की महिमा बताते हुए कहा है —

“जिस तीर्थंकर ने स्वयं एक वर्ष तक लगातार दान देकर दानरूप अमृत से सारे संसार को जिलाया, वही तीर्थंकर दीक्षा लेने के बाद जब भिन्न-भिन्न देश-प्रदेशों में विचरण करने लगे तो जिनके पीछे भक्तिवश हड़बडाकर

राजा और इन्द्र तक नतमस्तक हो गए थे तथा जो स्रग्धु आदि पवित्र चतुर्विध संघ के शिरोमणि त्रिभुवनस्वामी तीर्थकर हैं ऐसे तीर्थकर का भी हाथ जिस दान के अनुग्रह से गृहस्थ (दाता) के हाथ से नीचे रहता है, उस दान की हम स्तुति करते हैं ।

प्रागैतिहासिक काल से लेकर आज तक चक्रवर्ती भरत, मान्धाता, दुष्यन्त, हरिश्चन्द्र, पुरूरवा, ऐल, नल, नघुष, राम, कर्ण, युधिष्ठिर आदि अनेक श्लाघनीय दानी हुए हैं, परन्तु वे सब के सब दानी के दान द्वारा प्राप्त कीर्ति से ही अमर हुए । इसलिए उनके दान ने उन्हें इतना गौरव दिलाया कि वे जनता के हृदय में चिरस्थायी हो गए ।

प्रातः स्मरणीय वही होता है, जो उदार हो, दानी हो । जो स्वार्थी और लोभी बनकर धन जोड़-जोड़कर रखता हो, उसका तो कोई नाम भी नहीं लेना चाहता । यही कारण है कि लोग प्रातःकाल दानी राजा कर्ण, हरिश्चन्द्र एवं तीर्थकर आदि दानवीरों का नाम ही लेना चाहते हैं । वे पुरुष गौरवान्वित होते हैं, जो अपने सुखसामग्री, सम्पत्ति एवं शक्ति दूसरों को लुटाते हैं, देते हैं ।

दान की भावना चाहे हृदय से होती हो, दान की योजना चाहे मस्तिष्क से तैयार होती हो और दान देने का उत्साह चाहे मन से पैदा होता हो, लेकिन दान का सक्रिय आचरण हाथ से ही होता है । इस हाथ में दान देने की जो अपार शक्ति संचित है, उसे व्यर्थ के कार्यों में नष्ट करके वे लोग हाथ की क्रियाशक्ति को, हाथ के द्वारा सम्भव होने वाले जादू को खत्म कर देते हैं । इसीलिए एक मन्त्री ने प्रत्येक मानव के लिए यह प्रेरणासूत्र प्रस्तुत किया है ।

“हाथ दिये कर दान रे ।”

— मानव ! तेरे प्रबल पुण्य बल ने अथवा ईश्वर कर्तृत्व की दृष्टि से कहें तो ईश्वर ने तुझे हाथ दिये हैं, उनसे दान कर ।

एक पाश्चात्य विचारक ने तो यहाँ तक कह दिया है कि “प्रार्थना मन्दिर में प्रार्थना के लिए सौ बार हाथ जोड़ने के बजाय, दान के लिए एक बार हाथ खोलना अधिक महत्त्वपूर्ण है ।

इस दृष्टि से प्रार्थना के लिए हाथ जोड़ने की अपेक्षा दोनों हाथों से दान

देना श्रेष्ठ बतलाया गया है ।

बाइबल में भी इसी बात का समर्थन किया गया है —

“तीन सद्गुण हैं - आशा, विश्वास और दान ।
इन तीनों में दान सबसे बढ़कर है ।”

दान को इन तीनों में सबसे बढ़कर इसलिए बताया गया है कि यह हाथ से होता है । इस कारण सारे संसार के लोग इसे प्रत्यक्ष जान सकते हैं, दान देने में सक्रिय होना पड़ता है जबकि आशा और विश्वास, ये दोनों बौद्धिक व्यायाम हैं, हार्दिक उड़ाने हैं, मन की की हुई हवाई कल्पनाएँ हैं, चित्त की वैचारिक भागदौड़ हैं ।

एक विचारक ने तो यहाँ तक कह दिया है —

“पानी बाढ़ो नाव में, घर में बाढ़ो दाम,
दोनों हाथ उलीचिए, यही सयानो काम ।”

— अगर नौका में पानी बढ़ जाय और उसे हाथों से उलीचकर बाहर निकाला जाय तो नौका के डूब जाने का खतरा पैदा हो जाता है, वैसे ही घर में धन बढ़ जाय तो परिवार में विभाग या उपभोग के लिए परस्पर झगड़ा पैदा हो जाता है या संतान द्वारा उसे फिजूल के कामों में उड़ाने की आशंका पैदा हो जाती है अथवा चोरों द्वारा हरण किये जाने या सरकार द्वारा करों के माध्यम से खींचे जाने का खतरा पैदा हो जाता है । इसलिए उस बढ़े हुए धन को भी दोनों हाथों से झटपट दान दे देना ही बुद्धिमानी का काम है ।

युग बीत गये, सदियाँ व्यतीत हो गईं, लेकिन जगद्गुरु का अपने हाथों से किया दान आज भी अपनी असाधारण विशेषताओं के कारण इतिहास का प्रेरक सत्य बना हुआ है । एक बार ५ वर्ष का भयंकर दुष्काल पड़ा । लाखों पशु भूख से मर गये । हजारों मनुष्य अन्न के दाने-दाने के लिए तरसकर प्राण छोड़ बैठे । मानव-करुणा से प्रेरित होकर जगद्गुरु नामक जैन श्रावक ने गाँव-गाँव में ११२ दानशालाएँ खोल दीं । बिना किसी भेदभाव के भूखों को अन्न दिया जाने लगा । जगद्गुरु स्वयं दानशाला में बैठकर अपने हाथों से दान दिया करते थे । वे धन को अपना न समझकर समाज की धरोहर समझते थे और उनका यह दृढ़ विश्वास था कि घर में पैसा बढ़ने पर उसे दान के जरिये हाथों से

निकाल देना ही बेहतर है, इस कारण वे स्वयं अपने हाथों से दान देने में अपना अहोभाग्य समझते थे ।

इसीलिए नीतिकार कहते हैं —

“हस्तस्य भूषणं दानं, सत्यं कण्ठस्य भूषणम् ।
श्रोत्रस्य भूषणं शास्त्र, भूषणैः किं प्रयोजनम् ?”

— हाथ का आभूषण दान है, कंठ का आभूषण सत्य है और कान का आभूषण शास्त्र है । ये आभूषण हों तो, दूसरे बनावटी आभूषणों से क्या प्रयोजन हैं ?

जिसके हाथ से सतत दान का प्रवाह जारी हो, उस हाथ के लिए दान ही आभूषण रूप बन जाता है । ऐसे व्यक्ति को अपने व्यक्तित्व या सौन्दर्य के प्रदर्शन के लिए सोने-चाँदी के आभूषणों की जरूरत नहीं पड़ती ।

संस्कृत साहित्य में माघ कवि का स्थान महत्त्वपूर्ण है । भारत के इने-गिने संस्कृत कवियों में वे माने जाते हैं । उनकी कविता की भाँति उनकी उदारता की जीवन्त गाथाएँ भी बड़ी मूल्यवान हैं । उन्हें कविता से लाखों का धन मिलता था, लेकिन उनका यह हाल था कि इधर आया, उधर दे दिया । अपनी इस दानवृत्ति के कारण वे जीवनभर गरीब रहे । कभी-कभी तो ऐसी स्थिति आ जाती कि आज तो है, कल के लिए नहीं रहेगा । अतः उन्हें भूखे ही सोना पड़ता था । ऐसी स्थिति में भी माघ कवि यही कहा करते थे — “माघ का गौरव पाने में नहीं, देने में है ।”

एक बार वह अपनी बैठक में बैठे थे । सख्त गर्मी का दिन था, दोपहर के समय एक गरीब ब्राह्मण उनके पास आया । माघ कवि अपनी कविता का संशोधन करने में मग्न थे । ज्यों ही ब्राह्मण ने नमस्कार किया उन्होंने ऐसी धूप में आने का कारण पूछा । माघ कवि ब्राह्मण की अभ्यर्थना सुनकर विचार में पड़ गए । यह स्वाभाविक ही था, क्योंकि उस समय उनके पास एक जून खाने को भी नहीं बचा था । मगर गरीब ब्राह्मण आशा लेकर आया है, अतः कवि की उदार प्रकृति से रहा नहीं गया । उन्होंने ब्राह्मण को आश्वासन देते हुए कहा — “अच्छ भैया ! बैठो, मैं अभी आता हूँ ।” यों कहकर वे घर में गए । इधर-

उधर देखा, पर वहाँ देने योग्य कुछ भी न मिला। कवि के हृदय में पश्चात्ताप का पार न था। सोचा — “माघ ! क्या तू आए हुए याचक को खाली हाथ लौटाएगा ? इसे तेरी प्रकृति सह नहीं सकती। पर क्या किया जाय ? कुछ हो भी तो देने को ?” माघ विचार में डूबे इधर-उधर देख रहे थे। कुछ उपाय नहीं सूझ रहा था। आखिर एक किनारे सोई हुई पत्नी की ओर उनकी दृष्टि गई। उसके हाथों में कंगन चमक रहे थे। सम्पत्ति के नाम पर यही कंगन उसकी सम्पत्ति थे। उन्होंने वही कंगन उस ब्राह्मण को यह कह कर दे दिये कि “मेरे घर में इस समय और कुछ नहीं मिल रहा है जो आपको दे सकूँ। यह एक कंगन है, जो आपकी पुत्री के हाथ में पहने हुई थी, उसी की ओर से मैं आपको यह भेंट कर रहा हूँ। मेरे पास देने को कुछ भी नहीं है।” ब्राह्मण सुनकर गद्गद् हो गया।

सच में, आनन्द का सच्चा स्रोत दान की प्रवर्तमाला से ही प्रवाहित होता है।

ऐसी थी अपने दानवीरों की उद्भात भावना। अपने राष्ट्रपिता गाँधीजी को परिग्रह दुःखदायी लगा। उन्होंने दान की भावना को अन्य की सेवा के लिए स्वेच्छपूर्वक के त्याग के संदर्भ में समझाते हुए लिखा है कि — “जब मैंने अन्य की सेवा के लिए सर्वस्व का त्याग किया तभी मेरे कंधे से भारी बोझ दूर हो गया।” उनकी श्रद्धा स्वेच्छपूर्वक के त्याग में आरोपित हुई और यह श्रद्धा जब ऐच्छिक गरीबी के व्रत में परिणित हुई तब वह विचारधारा ने समग्र राष्ट्र को समाजवाद का आदर्श दिया।

आनंद श्रावक, कर्ण और बलिराजा जैसे दानवीरों को भावपूर्वक वंदन करते हैं। सांप्रत समय में जो दानवीरों परमार्थ हित के लिए अपनी संपत्ति का उपयोग करके लक्ष्मी को महालक्ष्मी बना रहे हैं उनके प्रति नतमस्तक होते हैं।

७. दान की पवित्र प्रेरणा

(1) प्रकृति द्वारा दान की मूक प्रेरणा

विश्व में प्रकृति के जितने भी पदार्थ हैं, वे सबके सब अहर्निश सतत दान की प्रेरणा देते रहते हैं क्या सूर्य, क्या चन्द्रमा, क्या नदी, क्या मेघ, क्या

पेड़-पौधे और जंगल की अगणित वनस्पतियां सब अपने-अपने पदार्थ को मुक्त हाथों से लुटा रही हैं। क्या नदी और मेघमाला अपना मीठा जल स्वयं पीती हैं ? क्या सूर्य-चन्द्र अपना प्रकाश दूसरों को नहीं देते ? क्या पेड़, पौधे, फल फूल आदि अपने पदार्थों का स्वयं उपभोग करते हैं ? ये सब महादानी बनकर जगत् को दान की सतत प्रेरणा देते रहते हैं कि मनुष्य तेरे पास भी जो कुछ है, उसे दूसरों को दे, स्वयं अकेला किसी भी चीज का उपभोग न कर। इसीलिए नीतिकार एक छोट्टे-से श्लोक में प्रकृति के तमाम वैभव का उपयोग दान (परोपकार) के लिए बताते हैं। “नदियाँ अपना जल स्वयं नहीं पीतीं, पेड़-पौधे फलों का उपभोग स्वयं नहीं करते, दानी मेघ अपने जल से पैदा हुए धान्य को स्वयं नहीं खाते। सज्जनों की विभूतियाँ (वैभव) भी परोपकार (दान) के लिए होती हैं।”^१

फलदार पेड़ों के कोई पत्थर मारता है या कोई उनकी प्रशंसा करता है, तो भी वे दोनों को फल देते हैं। नदियों में मैला डालता है या निन्दा करता है, तो भी वे मीठा पानी देती हैं और कोई दूध से पूजा करता है, प्रशंसा या स्तुति करता है तो भी मीठा पानी देती हैं।

नदी निष्काम भाव से शीतल मधुर जलदान देती हुई ग्रीष्म ऋतु में भी बहती रही। नदी की मूक प्रेरणा यही है मेरी तरह निष्काम भाव से अपने पास जो भी तन, मन, धन, साधन हैं, उन्हें दूसरों को दान देते हुए आगे बढ़ते रहो, ग्रीष्म ऋतु में मेरी तरह क्षीण होने पर भी दान का प्रवाह सतत बहाते रहो, तुम्हारी प्रगति रुकेगी नहीं, तुम्हारा धन वर्षा ऋतु में मेरी तरह पुनः बढ़ जायेगा, अन्यथा तालाब की तरह स्वार्थी और अपने धन में आसक्त बनकर बैठे रहोगे, उसे दूसरों को दोगे नहीं तो तालाब की तरह एक दिन सूख जाओगे।

दान की परम्परा नदी के प्रवाह की तरह अखण्ड चालू रहनी चाहिए। उसे बंद करना, जैन दृष्टि से, दानान्तराय कर्मबंध करना है।

दान की दैनिक परम्परा तभी चालू रह सकती है, जबकि देने वाला

१. पिबन्ति नद्यः स्वयमेव नाम्भः, स्वयं न खादन्ति फलानि वृक्षाः।
नादन्ति सम्यं लघु वारिवाहाः, परोपकाराय सतां विभूतयाः ॥

लेने वाले के द्वारा भी उसी रकम को किसी जरूरतमन्द को दिलाए। फिर वह जरूरतमंद, जिसे वह रकम दी जाए, अपने पास वाले जरूरतमंद को वह रकम दे। इस प्रकार दान का अखण्ड सिलसिला या प्रवाह जारी रहे।

बैंजामिन फ्रैंकलिन अपने प्रारम्भिक दिनों में एक अखबार चलाते थे; आगे चलकर वे उसके सम्पादक और प्रकाशक भी बने। उनके पास गृहस्थी का कोई अधिक सामान नहीं था। एक बार उन्हें कुछ रुपयों की जरूरत पड़ी। उन्होंने एक धनवान से २० डालर माँगे। उस परिचित व्यक्ति ने उन्हें तुरन्त २० डालर दे दिये। कुछ ही दिनों में बैंजामिन फ्रैंकलिन ने २० डालर बचाए और उन्हें उस भाई को वापस देने आए। जब उन्होंने २० डालर का एक सिक्का मेज पर रखा तो उनके धनाढ्य मित्रने कहा - "मैंने तुम्हें कभी २० डालर उधार नहीं दिए।" फ्रैंकलिन ने उन्हें याद दिलाया कि "अमुक समय में अमुक स्थिति में तुमने मुझे यह डालर दिया था।" उसने कहा "हाँ, सचमुच २० डालर दिये तो थे।" फ्रैंकलिन बोला - "इसीलिए तो मैं तुम्हें वापस लौटाने आया हूँ।" वह बोला - "परन्तु वापस देने की बात तो कभी नहीं हुई। वापस लेने की बात तो मैं कभी सोच ही नहीं सकता।" फिर उस मित्र ने कहा - "इस सोने के सिक्के को अब तुम्हारे पास ही रहने दो। किसी दिन तुम्हारे जैसा कोई जरूरतमन्द तुम्हारे पास आ जाय तो उसे यह दे देना। अगर वह मनुष्य इमानदार होगा तो कभी न कभी वह तुम्हें उन डालरों को वापस देने आएगा; तभी तुम उससे कहना - इन्हें तुम अपने पास रखो और जब तुम्हारे सरीखा कोई जरूरतमन्द तुमसे माँगने आए तो उसे दे देना।"

कहते हैं कि २० डालर की वह स्वर्ण-मुद्रा आज भी अमेरिका के संयुक्त प्रजातन्त्र में किसी न किसी की जरूरत पूरी करती हुई विविध हाथों में घूम रही है।

सचमुच बैंजामिन फ्रैंकलिन का यह अखण्ड प्रवाह सामाजिक जीवन में अभाव की बहुत कुछ पूर्ति करता है।

'देना' एक सीधी-सी क्रिया है, जिसमें मानव की मानवता भरी हुई है। यही मानव देता नहीं है तो सच्चे माने में मानव कहलाने योग्य नहीं है। पशु तो देना जानता ही नहीं, वह दूसरे का लेना चाहता है।

जैनशास्त्र स्थानांगसूत्र में समाज के इसी ऋण की ओर स्पष्ट संकेत किया गया है —

“तिण्हं दुप्पडियारं समणाउसो ।

तं जहा- अम्मापिउणो, भट्टिस्स, धम्मायरियस्स ।”

— स्था. ३/१/१३५.

— आयुष्मान् श्रमणों । इन तीनों के उपकार (दान) का बदला (प्रतिदान) देना बड़ा दुष्कर है । वे तीन ये हैं — माता-पिता का, स्वामी का और धर्माचार्य का ।

इससे यह स्पष्ट प्रमाणित हो जाता है कि दान भी समाज और अन्य प्राणियों से सेवा के रूप में या सहायता के रूप में लिये हुए दान का प्रतिदान (बदला) चुकाना है । प्रत्येक मनुष्य को अपने जीवन पर जो अनेकों प्राणियों का, समाज, परिवार, जाति व राष्ट्र का चढ़ा हुआ ऋण है, या जो ऋण प्रतिदिन चढ़ता जा रहा है, उसे प्रतिदान देकर चुकाना एवं नई पीढ़ी को ऋण देना अनिवार्य कर्तव्य है और ऐसा सोचकर प्रतिदिन दान देना आवश्यक है ।

दान देना कर्तव्य है क्योंकि मनुष्य सामाजिक प्राणी है । किसी मनुष्य ने कुछ पाया है, या जो कुछ पाने में वह समर्थ हुआ है, उसमें सारे समाज का प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से सहयोग है । इसलिए मनुष्य समाज का ऋणी है और समाज प्रत्येक मनुष्य से उसका हिस्सा पाने का अधिकारी है । अतएव इस दृष्टि से पाने का अधिकारी है । अतएव इस दृष्टि से दान का यह अर्थ सहज ही प्रतिध्वनित होता है कि मनुष्य का कर्तव्य है, समाज को अपने अधिकार का देना । यानी दान एक तरह से दुःखी और भूखे आदि को उसका अधिकार सौंपकर अपना कर्तव्य अदा करना है ।

यही प्रेरणा ईशावास्यउपनिषद् में दी गई है —

“तेन त्यक्तेन भुजीथाः मा गृधः कस्यस्विद् धनम् ।”

— पहले त्याग (दान) करके फिर उपभोग करो । किसी भी पदार्थ या धन पर आसक्ति न करो, धन किसका है ?

इसीलिए वैदिक ऋषि ने समाज सम्बद्ध मानव को कहा है —

“शतहस्तं समाहर, सहस्रहस्तं संकिरं ।”^१

— अगर तुम सौ हाथों से धनादि साधनों बटोरते हो, तो तुम्हारा कर्तव्य है, हजार हाथों से उसे (जरूरतमन्दों में) वितरित कर दो, बाँट दो, दे दो ।

(ii) तीर्थकरों द्वारा वार्षिकदान से प्रेरणा :

अन्तरात्मा की दान की प्रेरणा की आवाज में बड़ा बल होता है । महात्मा बुद्ध, भगवान महावीर या अन्य तीर्थकर जो सर्वस्व त्याग (दान) करके निकले थे, उसके पीछे अन्तरात्मा की प्रबल आवाज ही तो थी ।

आज दिन तक जितने भी तीर्थकर हुए हैं, वे सभी सर्व-समय ग्रहण करने से पूर्व एक वर्ष तक सूर्योदय से लेकर प्रातःकालीन भोजन तक एक करोड़ आठ लाख स्वर्णमुद्राएँ दान देते रहे हैं । आचाराङ्गसूत्र इस बात का साक्षी है । वहाँ तीर्थकरों के द्वारा वर्षभर तक दान दिये जाने का स्पष्ट उल्लेख है —

“संवच्छरेण होर्हिति अभिक्खमणं तु जिणवरिदाणं ।

तो अत्थि संपदाणं पव्वती पुव्वसूराओ ॥

एगा हिरण्ण कोडी अट्टेव अणूणया सयसहस्सा ।

सूरोदयमादीयं दिज्जइ जा पायरासो त्ति ॥”

इस प्रकार का वार्षिक दान, यों ही नहीं हो जाता, न यह कोई बिना समझ का दान है । यह तो तीर्थकर जैसे परम अविधज्ञानी के अन्तःकरण की प्रेरणा से प्रादुर्भूत दान है, जिसकी अखण्ड धारा लगातार एक वर्ष तक चलती है और वह दान प्रक्रिया भी प्रतिदिन सूर्योदय से लेकर कलेवा न कर लें, उससे पहले तक चलती है । इसके पीछे भी गंभीर रहस्य है । जगत की दरिद्रता को मिटाने के लिए एवं अपनी त्याग की समृद्धि, क्षमता और शक्ति बढ़ाने के लिए तो यह वार्षिक दान है ही, परन्तु सबसे बड़ी बात है जगत को दान की प्रेरणा देना । जगत् के लोग यह समझ लें कि धन मनुष्य की प्रिय वस्तु नहीं है, जिसे कि वह प्रिय समझता रहा है । सबसे प्रिय वस्तु आत्मा है, उसे दान से ही श्रृंगारित-सुसज्जित किया जा सकता है, धन संग्रह से नहीं । अतः दीक्षा लेने से पूर्व तीर्थकर वर्षभर तक दान देकर संसार को दान देने का उद्बोधन करते हैं कि “दान दिये बिना आत्मा की शोभा नहीं है । दान से ही सर्वभूत मैत्री, आत्मीयता, विश्ववत्सलता, विश्वबन्धुता आदि सम्भव है । दान से ही जीवन में उदारता आती है, स्वार्थ त्याग की प्रेरणा जागती है फिर मनुष्य हिंसा, असत्य, चोरी आदि दुष्कर्मों में मन से भी प्रवृत्त नहीं होता । इसलिए सौ हाथों से कमाओ

तो हजार हाथों से उसका दान कर दो ।” यही कारण है कि तीर्थंकर बिना किसी भेदभाव के दान देते हैं । उनसे दान लेने के लिए सनाथ, अनाथ, पथिक, प्रेष्य, भिक्षु आदि जो भी आते थे, उन्हें वे मुक्तहस्त से दे देते थे । ज्ञातृधर्मकथांगसूत्र में तीर्थंकर मल्लि भगवती के वार्षिक दान के सन्दर्भ में वहाँ इस बात को स्पष्ट अभिव्यक्त किया है ।^१ वे अपने वार्षिक दान से संसार को यह भी अभिव्यक्त कर देते हैं कि आर्हती दीक्षा ग्रहण करने के बाद तो शील, तप और भाव धर्म के इन तीन अंगों का पालन तो व्यावहारिक रूप से हो सकता है, परन्तु दान धर्म का पालन व्यवहार रूप से नहीं हो सकता । इसलिए गृहस्थाश्रमी जीवन में रहते हुए ही दान दिया जा सकता है, इसी अन्तःप्रेरणा से दान दिया जा रहा है । गृहस्थाश्रम दान धर्म पर ही टिका हुआ है । दान धर्म की बुनियाद पर ही गृहस्थाश्रम की जड़ें सुदृढ़ होती हैं । इससे बढ़कर दान की और अधिक प्रेरणा क्या हो सकती है । दान धर्म का आचरण करके हृदय का मुलायम, नम्र, निरभिमानी, निःस्वार्थ, निष्काम एवं निर्मल बनाकर हृदयभूमि पर आत्मधर्म का बीजारोपण करते हैं ।

तीर्थंकर महान पुरुष होते हैं । उनका प्रत्येक आचरण जगत् के लिए अनुकरणीय होता है । उनकी प्रवृत्ति का अनुसरण करने से किसी भी व्यक्ति का किसी भी प्रकार का अहित नहीं । गीता की भाषा में —

“यद्यदाचरति श्रेष्ठः तत्तदेवेतरो जनः ।

स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥”

— श्रेष्ठ पुरुष जिस-जिस वस्तु का आचरण करते हैं, अन्य साधारणजन भी उसी का आचरण करते हैं । वे जिस वस्तु को प्रमाणित कर जाते हैं, लोग उसी का अनुसरण-अनुवर्तन करते हैं ।

इस दृष्टि से तीर्थंकरों द्वारा आचरित दान धर्म की प्रवृत्ति विश्व के लिए, खासतौर से सद्गृहस्थ के लिए प्रतिदिन आचरणीय है, अनुसरणीय है । दान

१. त तेणं मल्ली अरहा कल्लाकल्लिं, जाव मागहओ पायरासोत्ति बहूणं सणाहाण य अणाहाण य पंधियाण य पहियाण य करोडियाण य कप्पडियाण य एगमेणं हिरण्णकोडिं अट्ट य अणूणातिं सय सहस्सातिं इमेयारूवं अत्थसंपदाणं दलयति,.... ।

— ज्ञातृधर्मकथा., श्रु. १, अ. ८, सू. ७६



चरण अंगुठे मेरु कंपावीयो, मोड्या सुरना रे मान,
अष्टकर्मनां झघडा जीतवा, दीधा वरसी ज दान.

धर्म के आचरण से किसी भी जीव का अनिष्ट या अहित नहीं है। बल्कि इसमें सारे विश्व का हित और कल्याण निहित है।

यही कारण है कि तीर्थंकर जैसे ज्ञानी पुरुष दीक्षा से पूर्व एक वर्ष में कुल ३ अरब ८८ करोड़ ८० लाख स्वर्ण-मुद्राओं का दान दे देते हैं।^१

इस प्रकार उच्चकोटि का दान देकर वे संसार के समझ गृहस्थाश्रम का भी एक आदर्श प्रस्तुत कर जाते हैं।

तीर्थंकरों के वार्षिक दान से एक बात यह भी ध्वनित होती है कि नाशवान धन का त्याग करने से ही अविनाशी आत्मा की खोज हो सकती है। जो व्यक्ति इस नाशवान धन के मोह में पड़ा रहता है, इसे जरूरतमंदों को नहीं देता, वह धन उस प्रमादी व्यक्ति की इस लोक में या पर-लोक में रक्षा नहीं कर सकता,^२ न ही धन कभी मनुष्य को तृप्त कर सकता है।^३

उपनिषद में एक कथा आती है। याज्ञवल्क्य ऋषि अपने जमाने में बहुत अच्छे विद्वान् और ज्ञानी थे। एक दिन उन्हें विचार आया कि इस प्रवृत्तिमय जीवन से अब मुझे संन्यास लेकर केवल आत्मा का ही श्रवण, चिन्तन, मनन, निदिध्यासन करना चाहिए। अतः उन्होंने अपनी मैत्रेयी और कात्यायनी नामक दोनों पत्नियों को बुलाकर कहा — “लो, अब मैं संन्यास ले रहा हूँ, इसलिए संन्यास से पहले अपनी सारी सम्पत्ति तुम दोनों में बाँट देना चाहता हूँ।”

मैत्रेयी कुछ बुद्धिमती थी, उसने पूछा — “स्वामिन् ! आप जिस सम्पत्ति को हमें देकर संन्यास लेना चाहते हैं, क्या वह सम्पत्ति हमें अमरत्व प्रदान कर सकेगी ?”

याज्ञवल्क्य — “नहीं, यह सम्पत्ति स्वयं नाशवान है, तब अमरता कैसे दे देगी ? बल्कि सम्पत्ति का जो अधिकाधिक उपयोग अपने या अपने स्वार्थ के लिए ही करता है, उसे वह पतन, विलासिता और अशान्ति की ओर ले जाती

१. तिण्णेषु कोडिसया, अट्टासीई अ होंति कोडीओ

असियं च सयसहससा एयं संवच्छे दिण्णं ॥ — आब. नि. गा. २४२

२. वित्तेण ताणं न लभे पमत्ते, इमम्मि लोए अदुवा परत्था । — उत्तराध्ययनसूत्र

३. न हि वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः । — उपनिषद

है। वह मनुष्य को तृप्त नहीं कर सकती।”

इस पर मैत्रेयी बोली — “स्वामिन् ! तब मुझे यह भौतिक सम्पत्ति नहीं चाहिए। आप इसे बहन कात्यायनी को दे दीजिए। मुझे तो आध्यात्मिक सम्पत्ति दीजिये, जो अविनाशी हो, जिसे पाकर मैं अमरत्व प्राप्त कर सकूँ।”

याज्ञवल्क्य ऋषि मैत्रेयी की बात सुनकर बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने मैत्रेयी को आध्यात्मिक मार्ग बताया।

इस संवाद से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि तीर्थंकरों के सांवत्सरिक दान की तरह प्रत्येक व्यक्ति को इस भौतिक धन का परित्याग करके आध्यात्मिक धन पाने का प्रयत्न करना चाहिए। भौतिक धन के परित्याग के लिए सबसे उत्तम और सुलभ मार्ग ‘दान’ का है।

हिन्दी के महान् प्रतिभाशाली साहित्यकार ‘भारतेन्दु हरिश्चन्द्र’ पर लक्ष्मी और सरस्वती दोनों की समान कृपा थी। वे केवल अर्थ से ही धनी नहीं थे, दिल के भी धनी थे। मुक्तहस्त से उदारतापूर्वक धन लुटाने में उन्हें अपार सन्तोष होता था। एक दिन एक मित्र ने स्वाभाविक स्नेहवश उन्हें टोकते हुए कहा — “तुम्हारे द्वारा इस प्रकार धन लुटाने से भविष्य में कोई समस्या तो नहीं खड़ी होगी ? जरा सोच विचारकर खर्च किया कर।”

इस पर हरिश्चन्द्र ने खिलखिलाते हुए कहा — “अरे भाई ! इस धन ने मेरे पिता को खाया, दादा को खाया और प्रपितामह को खाया और मुझे भी तो आखिर खायेगा ही। तो फिर मैं ही इसे क्यों न खा लूँ ?” विस्मय वि-मुग्ध मित्र हरिश्चन्द्र की इस दार्शनिकतापूर्ण उदारता से बहुत प्रभावित हुआ।

कहना न होगा कि धन का अगर दान के रूप में उपयोग नहीं किया जाता है तो वह मनुष्य को आसक्त, लुब्ध, कृपण अथवा विलासी या पतित बनाकर नष्ट-भ्रष्ट कर देता है। यानी धन को खाने के बदले, धन मनुष्य को इस तरह खा जाता है।

विश्व के सभी धर्मों और संस्कृति में दान का मूल्य आज तक अकबंध चल रहा है। दार्शनिकों, धर्मचिंतकों तथा समाजचिंतकों हमेशा विवेकपूर्ण और न्यायसंपन्न वैभव में से किये हुए दान की सराहना की है। हर एक परम्परा में दानवीरों पर प्रशंसा के पुष्पों की वृष्टि की है।

(iii) रंकजनों के दान से प्रेरणा :

कई बार मनुष्य के अन्तर में दान देने की शुद्ध प्रेरणा होती है, किन्तु उस प्रेरणा को वह दबा देता है। वह कभी तो मन को इस प्रकार मना लेता है कि मैं कहाँ धनवान हूँ। मुझसे बड़े-बड़े धनिक दुनियाँ में हैं, वे सब तो दान नहीं देते, तब मैं अकेला ही छोटी-सी पूँजी से कैसे दान दे दूँगा। पर वह यह भूल जाता है कि गरीब आदमी का थोड़ा-सा दान धनिकों को महाप्रेरणा देने वाला बन जाता है।

तथागत बुद्ध एक बार भिक्षा के लिए जा रहे थे। रास्ते में एक जगह कुछ बच्चे धूल में खेल रहे थे। उनमें से एक बालक ने ज्यों ही तथागत बुद्ध को देखा, त्यों ही वह मुट्टी में धूल भरकर लाया और बुद्ध के भिक्षापात्र में देने लगा। लोगों ने देखा तो उस बालक से वे कहने लगे — “गन्दे लड़के। यह क्या दे रहा है, महात्मा बुद्ध को ?” लड़का भाव-विभोर हो रहा था। बुद्ध ने अपना पात्र उसके सामने कर दिया और बच्चे के हाथ से धूल लेने लगे। उन्होंने उन लोगों को रोका, जो बच्चे को झिड़क रहे थे और धूल देने से मना कर रहे थे। उन्होंने कहा — “यह बच्चा धूल देकर महात्माओं को देना तो सीख रहा है। इसमें दान देने के संस्कार तो है।” इस प्रकार गरीबों के दान से उनके बालकों में भी दान के संस्कार सुदृढ़ होते हैं।

जो गरीब हैं, वे भी यह न मानें कि मैं क्या दे सकता हूँ, मेरे पास दान देने को क्या है? केवल धन का दान ही दान नहीं है; साधन, श्रम, बुद्धि, विचार आदि का दान भी है, उसकी कमी तो शायद गरीब से गरीब व्यक्ति के पास नहीं होगी।

इसलिए बुद्ध ने गरीबों के दान को भी बहुत महत्त्व दिया है —

“अप्यस्मा दक्खिणा दिन्ना, सहस्सेन समं मता ।”

— अंगुत्तरनिकाय

थोड़े में से जो दान दिया जाता है, वह हजारों-लाखों के दान की बराबरी करता है। इसीलिए धनी के दान में स्वामित्व का बँटवारा हो जाता है, जबकि गरीब के दान से स्वामित्व विसर्जन की क्रान्ति सम्भव होगी। क्योंकि

गरीब के दान में इस क्रान्ति का बीज निहित रहता है। गरीब अच्छी तरह समझकर हृदय से जो अल्प से अल्प दान देगा, उसका मूल्य दान के परिमाण से नहीं आँका जा सकता - वह अमूल्य होगा। क्योंकि वह दान अभिमंत्रित होगा। वह महान् दान समाज के वातावरण को पवित्र बनायेगा और विचारक्रान्ति की सृष्टि में भारी प्रेरणा देगा। वह अमूल्य अभिमंत्रित दान समाज के लिए पारसमणि सिद्ध होगा, जिसके स्पर्श से सारा समाज सोना हो जायेगा।

यहाँ हमें महाभारत की 'राजसूय यज्ञ और नेवले' की कथा का स्मरण हो जाता है।

देश में भारी दुष्काल पड़ा हुआ था। एक दरिद्र ब्राह्मण परिवार कई दिनों से भूखा था। ब्राह्मण किसी प्रकार कहीं से थोड़ा सत्तू ले आया। परिवार में चार व्यक्ति थे - ब्राह्मण, ब्राह्मणी, उनका पुत्र और पुत्रवधू। उतने सत्तू से चार व्यक्तियों का पेट भरना तो दूर रहा, प्रत्येक को केवल कुछ ग्रास मिलते। चार व्यक्तियों के लिए सत्तू चार भागों में बाँटा गया। स्नान-ध्यान के बाद ब्राह्मण अपने हिस्से का सत्तू खाने बैठा। इसी समय उसने देखा कि एक अकाल पीड़ित भूखा कंकाल व्यक्ति उसके द्वार पर खड़ा है। ब्राह्मण ने अपने हिस्से का सारा सत्तू अत्यधिक श्रद्धा और विनय के साथ उसे खाने को दे दिया और स्वयं भूखा रह गया। क्षुधार्थ व्यक्ति उतना सत्तू खाकर कहने लगा कि उतने से उसकी क्षुधा शान्त नहीं हुई, बल्कि और बढ़ गई। तब ब्राह्मणी ने भी अपने हिस्से का सत्तू स्नेहपूर्वक उसे दे दिया। उसे भी खाकर उस व्यक्ति ने कहा कि उसकी भूख शान्त नहीं हुई है। तब ब्राह्मणपुत्र ने सहानुभूतिपूर्वक उसे अपने हिस्से का सत्तू दे दिया। उसे भी खाकर उस व्यक्ति ने कहा कि उसकी क्षुधा अभी शान्त नहीं हुई, तो पुत्रवधू ने भी अपने हिस्से का सत्तू उसे अर्पित कर दिया। उसे खाकर वह व्यक्ति तृप्त हो गया और पुलकित मन से आशीर्वाद देकर वहाँ से चला गया।

एक नेवला पास के एक वृक्ष पर बैठा यह सब देख रहा था। 'कुछ झूठन बची होगी तो उसे मैं खाऊँगा', यह सोचकर वह पेड़ से उतरा और उस व्यक्ति ने जहाँ बैठकर सत्तू खाया था, वहाँ पहुँचा। किन्तु वहाँ उसे एक कण भी नहीं मिला। तब वह उसी स्थान पर लोटने लगा और जब उठा तो उसने देखा

कि उसका आधा शरीर सोने का हो गया है। आनन्द से उसकी भूख मिट गई। उसने सोचा कि जहाँ अतिथि खाता है, वहाँ लोटने से शरीर स्वर्णमय हो जाता है। अतएव वह उस दिन से जहाँ कहीं अतिथि को भोजन करते देखता, रुक जाता और उसी स्थान पर लोटता। उसकी एकमात्र इच्छा अपने शेष आधे शरीर को सोना बना लेने की थी। मगर कई वर्ष बीत जाने पर भी उसकी यह इच्छा पूर्ण नहीं हुई। अनेक अतिथि-सत्कार वाले स्थानों में वह लोटा, पर उसका एक बाल भी सोने का नहीं हुआ। अन्त में राजसूय यज्ञ का समय आया। हजारों-लाखों व्यक्तियों ने वहाँ भोजन किया। वह नेवला भी बड़ी आशा के साथ रात-दिन राजसूय यज्ञ के भोजनालय के एक छोर से दूसरे छोर तक लोटता रहा, किन्तु उसका एक रोम भी सोने का न हुआ। युधिष्ठिर आदि ने नेवले के मुँह से उसकी सारी कहानी सुनी। राजसूय यज्ञ करने के कारण युधिष्ठिर के मन में अहंकार उत्पन्न हो गया था। नेवले की कहानी सुनकर वह दूर हो गया और उन लोगों के हृदय में यह ज्ञानोदय हुआ कि “एक गरीब दूसरे गरीब को हार्दिक सहानुभूति के साथ छोटा दान भी देता है तो उसकी महिमा अतुलनीय हो जाती है। वैसा दान जिस स्थान पर होता है, उसके आसपास का वातावरण भी पवित्र हो जाता है।”

इसलिए हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि गरीब व्यक्ति अपने को हीन समझकर दानवृत्ति से रूके नहीं, वह यह सोचे कि मेरे दान का भी बहुत बड़ा महत्त्व है। वह यह न सोचे कि मेरे पास धन होने पर दान करूँगा। बल्कि धन ज्यादा बढ़ जाने पर कभी-कभी दान की भावना मन्द हो जाती है।

एक प्रसिद्ध सन्त के पास एक भक्त आया, जो पहले गरीब था, अब सम्पन्न हो गया था। उसने सन्त के सामने अपना हृदय खोलकर रख दिया। कहने लगा - “महाराज ! जब मैं गरीब था, तब हृदय में दान देने की प्रबल भावना उठती थी। कोई स्वधर्मी बन्धु आता तो उसे अच्छे से अच्छा भोजन प्रेम से खिलाने की इच्छा होती थी। घर में किसी चीज़ की जरूरत पड़ती तो टालने की आदत नहीं थी। मैं समझता था - पैसा आज है कल नहीं रहेगा। अतः जो कुछ मिला है, उसका उपयोग सत्कार्य में क्यों न कर लूँ। किन्तु ज्यों-ज्यों पैसा बढ़ता गया, दान देने की भावना घटती गई। अब वे भाव नहीं रहे, न हृदय में

उठते हैं। कोई दान लेने को आता है तो मन भारकर देता हूँ। वह उत्साह समाप्त हो गया है। अब मुझे क्या करना चाहिए।" उसने इस प्रकार जब निखालिस दिल से अपने हृदय की बात साफ-साफ खोलकर रख दी तो सन्त ने कहा — "तुम बड़े भाग्यशाली हो कि तुम्हें अपने मन का पता तो है। प्रायः अपने मन और जीवन का पता भी नहीं लगता कि वे बने हैं या बिगड़े हैं। इसलिए धन बढ़ जाने पर दान दूँगा, यह भावना मनुष्य की मानसिक दुर्बलता की निशानी है। उसे निर्धनता में भी यह भावना रखनी चाहिए कि मैं प्रतिदिन अपनी सीमित आय में से कुछ न कुछ अवश्य दान दूँगा।

इसलिए अमीर के दान की अपेक्षा गरीब के थोड़े-से दान का भी महत्त्व ज्यादा है।

अद्भुत दानी - भीमाशाह

भीमाशाह गरीब होते हुए भी बहुत उदार था। उसके दिल में भी जैन संघ के द्वारा किये जाने वाले सत्कार्यों में कुछ देने की ललक उठा करती थी। भीमाशाह छोटी-सी हँडिया में घी गाँव से भरकर लाता और शहर में आकर बेच देता था। गुजरात के जैन मंत्री वाग्भट (बाहड) संघपति थे। जैन धर्म की प्रबल प्रभावना का उन्होंने जब बीड़ा उठाया तो संघ के श्रावकों ने प्रार्थना की - इस शुभ कार्य में हमारा भी हिस्सा होना चाहिए। मंत्री वाग्भट ने संघ के सदस्यों से चन्दा लेना स्वीकार किया।

श्रेष्ठी लोग आ-आकर स्वर्ण मुद्राओं के ढेर लगा रहे थे। किसी का नाम नहीं लिखा गया था। भीमाशाह ने सोचा - "मैं संघ के चरणों में क्या अर्पण करूँ?" उसने जब में हाथ डाला तो उसमें से केवल ७ द्रमक (दमड़ी) निकले। मंत्री वाग्भट समझ गये कि भीमाशाह को कुछ देना है। और भीमाशाह गरीब होने के कारण संकोच कर रहा था, उन ७ द्रमकों को, जो उसकी आज की सर्वस्व बचत थी, देने में लज्जित हो रहा था। अतः मंत्री ने प्रेम से अपने पास बुलाय - "भीमाभाई! क्या तुम्हें संघ के फण्ड में कुछ देना है? लाओ फिर।" भीमा लज्जित हो रहा था। परन्तु मंत्री ने उसके भावोल्लास को देखकर उसके संकोच को मिटाया। भीमाशाह ने वे ७ द्रमक मुट्टी बन्द करके दिये। पर मंत्री तो चतुर थे। उन्होंने उपस्थित सेठों को उसके ७ द्रमक बताए। सबके चेहरे

से वाग्भट मंत्री उनके भावों को ताड़ रहे थे। मानो वे कह रहे हों कि “इन ७ द्रमकों का क्या लेना ?” वाग्भट मंत्री ने तुरन्त मुनीमजी को बुलाया और कहा— “चिट्ठा लिखो। पहले तो चिट्ठा लिखने का विचार नहीं था, किन्तु अब लिखना होगा, सबसे पहला नाम लिखो भीमा का, दूसरा मेरा और फिर इन सब भाग्यशालियों का लिखो।” सबके मुँह से स्वर फूट पड़ा - “पहले नाम भीमा का ?...।”

मंत्री वाग्भट ने स्पष्टीकरण करते हुए कहा - “इस (भीमा) भाई ने अपनी सर्वस्व सम्पत्ति संघ को अर्पित की है। मैं स्वयं संघोद्धार के कार्य में संलग्न होते हुए भी अपनी सारी सम्पत्ति का शतांश भी खर्च करता हूँ या नहीं, इसमें सन्देह है। आप सब अपनी आय का कितना भाग खर्च करते हैं, यह तो आप जानें। संघ में सब भाई समान है। यहाँ कोई बड़ा नहीं, कोई छोटा नहीं। सबका बराबर का हक है। मुझे जो संघपति का पद दिया गया है, वह तो केवल व्यवस्था के लिए है। ऊँचे आसन पर बैठने और बडप्पन प्रदर्शित करने के लिए नहीं।” सब मन ही मन कहने लगे—धन्य है संघपति को ! वास्तव में भीमा का दान ही महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि वह सर्वस्व दान है।

महात्मा गाँधी ने इसी दृष्टि से भारतीय नरेशों की तड़क-भड़क को देखकर उन्हें कर्त्तव्य का बोध दिया था और समाज के दरिद्रजनों के लिए दान की प्रेरणा दी थी। सब जिदगी में भाग रहे हैं। उन्हें फायदा होगा जब वे अपने जीवन के उद्देश्य के बारे में सोचेंगे। गाँधीजी ने कहा था कि उनका उद्देश्य है ‘हर एक आँख में से हर एक आँसू पोंछना।’ अगर हम गहराई से महसूस करें और उदारतापूर्वक अपने आप को समर्पित करें तो इस दुनियाँ में कम आँखों में आँसू होंगे।

द्रव्य की स्वयं के बहते रहने (दान द्वारा) में ही अपनी सार्थकता है, एक जगह स्थिर होकर पडे रहने में द्रव्य की द्रव्यता सार्थक नहीं होती। इसीलिए कबीर जी ने प्रेरणा की है —

“पानी बाढ़ो नाव में, घर में बाढ़ों दाम,
दोनों हाथ उलीचिये, यही सयानो काम।”

नीतिकार भी इसी बात को स्पष्टतया कहते हैं —

“दान भोगो नाशस्तिस्त्रोगतयो भवन्ति वित्तस्य ।

यो न ददाति न भुङ्के तस्य तृतीया गतिर्भवति ॥”

— धन की तीन गतियाँ (व्यय के मार्ग) हैं — दान, भोग और नाश । जो मनुष्य अपने धन का सुपात्र में या सत्कार्य में दान नहीं करता और उचित उपभोग नहीं करता है, उस धन की गति सिवाय नाश के और कोई नहीं है । फिर चाहे वह धन-नाश चोरों डकैतों द्वारा हो, लुटेरों द्वारा हो, संतान द्वारा हो या डॉक्टर, वकील या सरकार द्वारा हो अथवा किसी प्राकृतिक प्रकोप-भूकम्प, बाढ़, अग्निकाण्ड आदि से हो । किन्तु दान और उपभोग इन दोनों मार्गों में से मनुष्य यदि श्रेष्ठ मार्ग चुनना चाहे तो दान का मार्ग ही उसे चुनना चाहिए ।

धन-संग्रही कृपण का दृष्टान्त याद आ जाता है —

एक गाँव में एक कृपण और दानी रहता था । उसके पास न देने जैसी कोई वस्तु न थी । एक दिन एक महात्मा ने उससे कोई चीज माँगी, इस पर उसने उसे देने से इन्कार कर दिया । महात्मा ने उससे कहा - “तू बहुत ही संतोषी है ।” किसी विचारक ने महात्मा से पूछा - “आप उल्टा कैसे कहते हैं, जो उदार है, उसे लोभी और जो लोभी है, उसे संतोषी कहते हैं, इसका क्या रहस्य है ? मुझे बताइये ।” महात्मा ने उत्तर दिया - “जो दाता है, वह इस बात को लेकर लोभी है कि उसे एक के बदले में हजार मिलेंगे, फिर भी वह उतने दान से तृप्त न होकर अधिक से अधिक देता रहता है और जो लोभी है, वह संतोषी इसलिए है कि वह कुछ भी नहीं देता । इसलिए उसे आगे (परलोक) में भी कुछ मिलेगा नहीं, फिर भी वह सन्तुष्ट होकर बैठा है । भविष्य के लिए कुछ करने की चिन्ता नहीं करता, इसलिए संतोषी कहा है ।” महात्मा के मुख से दानी और लोभी के अन्तर का रहस्य प्राप्त कर विचारक बहुत सन्तुष्ट हुआ ।

वास्तव में कृपण का स्वभाव अत्यन्त धनलोभी बन जाता है । वह दीर्घ दृष्टि से नहीं सोचता कि यह सारा धन मुझे यहीं छोड़कर जाना पड़ेगा । इसीलिए कृपण के सम्बन्ध में संस्कृत के एक मनीषी ने बहुत ही सुन्दर व्यंग किया है —

“कृपलेन समो दाता, न भूतो न भविष्यति ।

अस्पृशन्नेव वित्तानि यः परेभ्यः प्रयच्छति ॥”

— कृपण के समान दानी संसार में न तो हुआ है और न ही कोई होगा । क्योंकि अपने सारे धन को बिना छुए ही एक साथ दूसरों को दे देता है, अर्थात् छोड़कर मर जाता है ।

इस प्रकार ऋषियों, मुनियों एवं तीर्थकरों या आचार्यों की दान के सहस्रमुखी प्रेरणाएँ हैं, जो विविध धर्मशास्त्रों या धर्मग्रन्थों में यत्र-तत्र अंकित हैं ।

“उपार्जितानामर्थना, त्याग एव हि रक्षणम् ।

तडागोदरसंस्थानां, परिवाह इवाम्भसाम् ॥” —पंचतंत्र २/१५५

— संचित धन का दान करते रहना ही उसकी रक्षा का एक मात्र उपाय है । तालाब के पानी का बहते रहना ही उसकी शुद्धता का कारण है ।

८. दान से ऋण-मुक्ति :

भारतीय संस्कृति में दान का अत्यन्त महत्त्व है । इस पर काफ़ी विवेचन प्रस्तुत करने के पश्चात् अब हम इस विषय पर थोड़ा विवेचन प्रस्तुत करेंगे कि दान से ऋण मुक्ति कैसे हो सकती है ?

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है । अनेक जीवों का ऋणी है । इस ऋण को अदा करने के लिए वह दान देता है । लेकिन इसमें एक बात ध्यान रखने योग्य है कि पश्चिम में दान को कर्तव्य की श्रेणी में रखा गया है, जबकि पूर्व में दान को धर्म की श्रेणी में रखा गया है । जैनदर्शन के अनुसार भी धर्म का आरम्भ दान से होता है उसके बाद शील तप वगैरह का निरूपण करने में आता है ।

मनुष्य की मानवता दान से ही निखरती है । इसीलिए भर्तृहरि ने भी कहा है कि लक्ष्मी का उपार्जन यदि अपने आप ही किया हो तो वह पुत्री के समान कहलाती है । यदि लक्ष्मी पिता द्वारा उपार्जित की हो और वसिहत से मिली हो तो बहिन के समान मानी जाती है और जो लक्ष्मी अन्य द्वारा उपार्जित हो तो वह परस्त्री के समान होती है । पुत्री और बहिन के प्रति अपार वात्सल्य और स्नेह होता है, तब भी लम्बे समय तक पिता के घर में रख नहीं सकते । इसलिए इन तीनों में से किसी भी स्वरूप में मिली हुई लक्ष्मी का संग्रह करना योग्य नहीं है । इसलिए धर्मबुद्धि रखनेवाली आत्माओं को लक्ष्मी का परिग्रह करने के बनिस्पत उसका त्याग या

दान करने में ही स्व-पर का कल्याण समझते हैं । .

इसलिए कवि भी सरोवर के बनिस्पत बरसने वाले बादलों का तथा अथाह सम्पत्ति के स्वामी के बनिस्पत दानवीर की प्रशंसा करते हैं —

लाखों आते, लाखों जाते, दुनिया में न निशानी है,
जिसने कुछ देकर दिखलाया, उसकी अमर कहानी है,

जगह-जगह दान की महत्ता प्रदर्शित की गई है। लेकिन हमारे महर्षियों का कहना है कि दान दो, पर लेने वाले को दीन-हीन समझकर मत दो। यदि दीन-हीन समझकर दोगे तो उसमें अहंकार का विष मिल जायेगा, जो दान के ओज को नष्ट कर देगा। अतः लेनेवाले को भगवान समझकर दो। जैन दृष्टि से प्रत्येक आत्मा को परमात्मा समझ कर दो। बादलों की तरह अर्पण करना सीखो। बादल आकाश से पानी नहीं लाते, वे भूमण्डल से ही ग्रहण करते हैं। बादलों के पास जो एक-एक बूँद का अस्तित्व है, वह सब इसी भूमण्डल का है। इसी से लिया और इसी को अर्पण कर दिया। भूमण्डल की चीज भूमण्डल को समर्पित है। इसमें एहसान किसी बात का नहीं और न अहंकार है, बल्कि प्रेम और विनय है। बस यही वृत्ति प्रत्येक मानव में होनी चाहिए कि वह प्रत्येक आत्मा को परमात्मा समझकर अर्पण करे।

भगवदर्पण की यह भावना भक्तिमार्ग की देन है। किन्तु दर्शन की दृष्टि से भी इसका महत्त्व कम नहीं है। जैन, बौद्ध एवं वैदिक तीनों ही दर्शन आत्मा में परमात्मा स्वरूप या परमात्म अस्तित्व की निष्ठा रखते हैं। आत्मा परमात्मा है, जब हम किसी आत्मा की सेवा करते हैं, उसे कुछ अर्पण करते हैं तो एक दृष्टि से परमात्मा के लिए ही अर्पण किया जाना समझना चाहिए। अतः भक्तियोग तथा ज्ञानयोग की दृष्टि से विचार करें तो चैतन्य के प्रति अर्पण ईश्वरार्पण ही है, जब किसी चेतन आत्मा को कुछ देते हैं तो उसके विराट् ईश्वररूप पर दृष्टि टिकानी है कि इस देह में भगवान है, शरीर में आत्मा है वही परमात्मा है मैं उसे ही दे रहा हूँ। यह दान की विराट् दृष्टि है, क्षुद्र देह को न देखकर विराट् आत्मा को देखना और उसके प्रति अर्पण करना - यह दान का दर्शन है। दान की इस विराट् दृष्टि से युक्त व्यक्ति सब कुछ भगवान का भगवद्मय मानकर चलता है।

जिनके दिल में दान का दीपक जल उठता है, कर्तव्य की रोशनी

जिनके हृदय में हो जाती है, वह व्यक्ति फिजुल कामों में एक भी पाई खर्च करने से कतराता है, एक दियासलाई भी व्यर्थ खर्च करने में हिचकिचाता है, मगर समाज-सेवा का कोई कार्य आ जाता है अथवा विपद्गस्तों को दान देने का प्रसंग आता है तो वे मुक्तहस्त से लुटाते हैं ।

पं. मदनमोहन मालवीयजी ने हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी के लिए करोड़ों रुपये राजा महाराजाओं से इकट्ठा किया था । वे कहा करते थे — “भारतवर्ष के हर घर पर दाता खड़ा है, कोई लेनेवाला चाहिए ।” एक बार वे कोलकत्ता के एक नामी सेठ के यहाँ बड़ा भारी दान पाने की आशा से पहुँचे तो उस समय घर का मालिक बैठकखाने में ही बैठा था । पं. मालवीयजी को उसने सत्कारपूर्वक बिठाया । इतने में उनका एक छोटा लड़का आया और एक दियासलाई की सीक जलाकर डाल दी, दूसरी जलाने लगा तो सेठ ने उसे रोका, डाँटा और पिटा । लड़का रोता हुआ बाहर चला गया । मालवीयजी विचार में पड़ गये — “जो मनुष्य एक दियासलाई के जलाने पर अपने लड़के के थप्पड़ मार सकता है, वह सार्वजनिक संस्था के लिए क्या दान देगा ?” वे निराश होकर जाने लगे । सेठ ने कहा — “आप जा क्यों रहे हैं ? मेरे लायक सेवा फरमाइए न ?” मालवीयजी ने उनसे कहा — “मैं तो हिन्दू विश्वविद्यालय के लिए कुछ दान लेने आया था ।” सुनते ही सेठ ने ५० हजार रुपये का चैक काटकर दे दिया । मालवीय जी अवाक् रह गये । जाते-जाते उन्होंने पूछ ही लिया — “सेठ जी ! मैं तो पहले इसी कारण से निराश होकर जा रहा था कि जो व्यक्ति एक दियासलाई जलाने पर अपने लड़के के थप्पड़ मार सकता है, वह कोमल हृदय कैसे होगा ?”

सेठ ने कहा — “मालवीयजी ! जिस कार्य से लड़के का कोई हित न हो, भविष्य की परम्परा बिगड़े, उसे मैं बर्दाश्त नहीं कर सकता । वैसे सदुपयोग के लिए लाखों रुपये खर्च करने को तैयार हूँ ।”

तथागत बुद्ध की दान के सम्बन्ध में कितनी सुन्दर प्रेरणा है —

“सक्कचं दानं देथ, सहत्थां दानं देथ ।

चित्तीकतं दानं देथ, अनपविद्धं दानं देथ ॥”^१

सत्कारपूर्वक दान दो, अपने हाथ से दान दो, मन से दान दो और ठीक तरह से दोषरहित दान दो ।

जो व्यक्ति सहृदय होते हैं, दूसरों के दुःखों को देखकर पिघल जाते हैं, वे दान दिये बिना रह ही नहीं सकते । उनके हृदय में दान की प्रेरणा सहज होती है ।

वास्तव में दान देने के लिए विवेकी व्यक्ति को बाहर की प्रेरणा की जरूरत ही नहीं पड़ती । उसकी अन्तरात्मा ही स्वयं उसे दान देने की प्रेरणा करती है, जिसे वह रोक नहीं सकता ।

सन् १९४० की बात है जैन समाज के प्रसिद्ध कार्यकर्ता श्री ऋषभदासजी रांका अपने एक मित्र से मिलने गये हुए थे । वे दोनों मित्र बातें कर रहे थे, इतने में एक व्यक्ति आया और दुःखित चेहरे से लाचारी बताते हुए बोला — “सेठजी ! इस समय मैं बहुत दुःखी हूँ । मुझे खराब बीमारी हो गई है । दवा के लिए और खाने के लिए भी पैसे पास में नहीं हैं । कृपा करके मुझे कुछ मदद कीजिए ।” रांका जी के मित्र ने पेटी खोलकर मुट्ठी में जो कुछ आया, उसे दे दिया । रांका जी यह देख रहे थे । वे चुप न रह सके, बोले — “आपने यह क्या किया ? वह तो चरित्रहीन और दुराचारी था ।”

उनके मित्र ने कहा — “मैं यह अच्छी तरह जानता हूँ, लेकिन वह दुःखी था । उसका दुःख मुझसे नहीं देखा गया, इसलिए मैं इसे (दान) दिये बिना रह ही न सका ।”

यह था अन्तः प्रेरणा से दान, जिसे रांकाजी के मित्र रोक न सके ।

तथागत बुद्ध की भाषा में अन्तरात्मा में दूसरी आत्माओं के प्रति श्रद्धा बढ़ाने के लिए दान देना अत्यावश्यक है —

“दानं ददतु सद्भाय, शीलं रक्खंतु सव्वदा ।

भायनाभिरता होतु एतं बुद्धान सासनं ॥”

— आत्म-श्रद्धा बढ़ाने के लिए दान दो, शील की सर्वदा रक्षा करो और भावना में अभिरत रहो, यही बुद्धों का शासन (शिक्षण) है ।

मनुष्य जो भी अर्पित करता है, उसमें समाज का भी भाग है और समाज

को वह भाग देकर अपने कर्तव्य से बरी होना चाहिए। जो व्यक्ति समाज का हिस्सा नहीं देता, उसे भगवद्गीता की भाषा में चोर कहा गया है —

“तैर्दत्ताऽनप्रद्रायेभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः।”

— समाज के विभिन्न वर्गों द्वारा दिये हुए साधनों को उनको (समाज के जरूरतमंदों को) न देकर जो स्वयं उपभोग करता है, वह चोर ही है।

श्री आइजन हॉवर (भूतपूर्व राष्ट्रपति, अमेरिका) ने अपने भाषण के सिलसिले में एक बार बड़ी रोचक कहानी सुनाई थी — “मेरे बचपन के दिनों में मेरे घरवाले एक वृद्ध किसान के यहाँ गाय खरीदने गये। हमने किसान से गाय की नस्ल के बारे में पूछा पर उस भोलेभाले किसान को नस्ल क्या होती है, यह कुछ भी मालूम न था। फिर हमने पूछा कि “इस गाय के दूध से रोज कितना मक्खन निकलता है?” किसान को इतना भी ज्ञान न था। अन्त में हमने पूछा — “खैर, यही बताओ, तुम्हारी गाय साल में औसतन कितना दूध देती है?” किसान ने फिर सिर हिलाते हुए जवाब दिया — “मैं यह सब नहीं जानता। बस, इतना जानता हूँ कि यह गाय बड़ी ईमानदार है। इसके पास जितना भी दूध होगा, वह सब आपको दे देगी।” तदुपरान्त आइजन हॉवर ने अपने भाषण का अन्त करते हुए कहा — “सज्जनों! मैं भी उसी गाय की तरह हूँ। मेरे पास जो कुछ भी है, वह सब मैं आप लोगों (राष्ट्र व समाज) को दे दूँगा।”

इसी तरह वर्तमान में भी माइक्रोसोफ्ट के स्थापक प्रमुख बिल गेट्स ने अपनी ५८ अरब डॉलर की संपत्ति दान में देने का विचार व्यक्त किया है। उन्होंने कहा था कि वे ‘विश्व को कुछ विधेयात्मक प्रदान करना चाहते हैं।’

बिल गेट्स ने १९७५ में माइक्रोसोफ्ट की स्थापना की थी। अपने ३३ वर्ष के कार्यकाल में १३ वर्ष तक फोर्च्युन की सूचि में विश्व के सबसे धनवान व्यक्ति रहे। कंपनी के चेयरमेन पद से निवृत्त होने के पहले उन्होंने अपनी पत्नी मेलीन्डा के साथ किये गये निर्णय के संदर्भ में बताया कि हमारी संपत्ति हमारे संतान को देने के बजाय हम अपनी तमाम संपत्ति विश्व भर में स्वास्थ्य और शिक्षण के कार्य के लिए काम करती ‘बिल एण्ड मेलीन्डा गेट्स’ फ़ाउण्डेशन को दान में देने का वचन दिया है। उन्होंने कहा कि हम समाज को उसी तरह वापस लौटाने की इच्छा रखते हैं जिससे उसकी सबसे विधेयात्मक असर हो।

उन्हीं के शब्दों में “Every human life has equal worth.”

इसी तरह मदर तरेसा भी अपनी अभिव्यक्ति निम्न शब्दों में व्यक्त करते हैं — “we can not do great things on this earth, only small things with great love.”

वास्तव में इस दान में ऋण मुक्ति की भावना प्रदर्शित होती है ।

ऐसे ही एक और दानवीर का नाम याद आता है झेलकाविन्सकी । झेल का एक ही स्वप्न था कि... खूब दौलत कमाकर कुबेरपति बनूँ और फिर सारा खजाना दान में खर्च कर दूँ ।

झेल की फिलोसोफी कुछ इस तरह की है — ईश्वरकृपा से अपने को कोई बाह्य संपत्ति ऐसी मिली हो या आंतरिक संपदा विपुल प्रमाण में मिली हो तो उसमें से हो सके जितनी ज्यादा से ज्यादा सार्वजनिक के लाभ के लिए, बहुजन हितार्थ, बहुजनसुखार्थ, दान करना ही चाहिए । झेल का खुद अपना अनुभव भी यही रहा है कि जैसे-जैसे सत्कार्य करता गया वैसे-वैसे उसको अंदर से एक अद्भुत शान्ति का अनुभव होता रहा । झेल के मन में धन प्राप्ति का कोई महत्त्व नहीं है । उसका मन तो दान देने में ही सच्चे आनंद का अनुभव करता है ।

इतिहास में ऐसे किसी भी धनिकों का उल्लेख नहीं है जैसा कि झेल का, जिसने अपनी आर्थिक संपत्ति तो सार्वजनिक सत्कार्यों के लिए दान कर दी हो, तदुपरान्त अपने शरीर का एक अति आवश्यक अंग (किडनी का) का दान जीवित हालत में (मरणोत्तर नहीं) किसी दुःखी व्यक्ति के (स्वजन वगैरह को नहीं) लिए दान कर दिया ।

सचमुच झेल का सादा जीवन उच्च विचार प्रत्येक के लिए प्रेरणादायी बन सकता है ।

जैन समाज में भामाशाह के नाम से पहचाने जाने वाले दानेश्वरी श्री दीपचंदभाई गाडीं का जीवन प्रसंग जब मैंने पहली बार पढ़ा था तो आश्चर्य चकित हो गई कि वर्तमान में भी ऐसे दानवीरों की कमी नहीं है । मेरे लिए उनका जीवन एक प्रेरणा रहा है । ९७ वर्ष की उम्र में भी १७ से १८ घंटे काम

करते देखकर एक मिलने आए हुए महानुभाव ने पूछ ही लिया कि आपका स्वास्थ्य इतना अच्छा है उसका रहस्य क्या है ? गार्डीसाहब ने जवाब दिया - "मैं लोगों की सेवा करता हूँ उसका यह परिणाम है ।" विशेष में उन्होंने कहा कि "जीव दया का पालन करने से, निःस्वार्थ भाव से तथा किसी भी प्रकार की अपेक्षा या बदले की भावना के बिना सत्कार्य करने वाले को भगवान लम्बी आयु देता है ।" ४९ वर्ष की उम्र में उन्होंने वकालत छोड़ दी । तब से आज तक सिर्फ देने का ही कार्य किया है, करते हैं ।

जैन सिद्धान्त अनेकान्तवाद को अपनाकर वे दान करने में कभी भी जाति-पाँति, धर्म, प्रदेश की संकुचित दिवारों के आधार पर भेदभाव नहीं करते । उनके यहाँ हिन्दू, मुस्लिम के धर्म गुरु, ईसाई धर्म के अनुयायी आते हैं ।

इनके दान का क्षेत्र इतना व्यापक और विस्तृत है कि उनका वर्णन करना कठिन है । शिक्षा के क्षेत्र में, स्वास्थ्य के क्षेत्र में काफी योगदान है । आठ राज्यों में ५०० से भी ज्यादा संस्थाएँ हैं जिसमें लाखों कर्मचारी कार्य करते हैं । हास्पिटल, अनाथाश्रम, वगैरह संस्थाएँ चल रही हैं ।

गार्डीजी ने अपने वील में लिखा है कि मेरी मृत्यु के पश्चात् मेरे पुत्र, पौत्र हर दिन एक करोड़ रुपये का दान करेंगे ।

अपनी उपस्थिति में ही जिनका नाम जैन इतिहास का सुनहरा पृष्ठ बन गया है ।

पञ्चम अध्याय

भारतीय संस्कृति में दान

वैदिक षड्दर्शन मे दान-मीमांसा :

वेदगत परम्परा के षड्दर्शनों में सांख्यदर्शन और वेदान्तदर्शन ज्ञानप्रधान रहे हैं। दोनों में ज्ञान को अत्यन्त महत्त्व मिला है। वहाँ आचार को गौण स्थान मिला है। सांख्य भेदज्ञान से मोक्ष मानता है। प्रकृति और पुरुष का भेदविज्ञान ही साधना का मुख्य तत्त्व माना गया है। वहाँ प्रकृति और पुरुष- इन दो तत्त्वों का ही विश्लेषण किया गया है। इन दोनों का संयोग ही संसार है, इन दोनों का वियोग ही मोक्ष है। आचार पक्ष की गौणता होने के कारण 'दान' की मीमांसा नहीं हो सकी।

वेदान्तदर्शन की स्थिति भी यही रही है। कुछ मौलिक भेद अवश्य है। सांख्य द्वैतवादी है, तो वेदान्त अद्वैतवादी रहा है। ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं है। यदि कुछ भी प्रतीत होता है, तो वह मिथ्या ही है। 'अहं ब्रह्मास्मि' इस भावना से समग्र बंधन परिसमाप्त हो जाते हैं। वस्तुतः बन्धन है ही कहाँ ? उसकी तो प्रतीति मात्र हो रही है। अपने को प्रकृति और जीव न समझकर एकमात्र ब्रह्म समझना ही विमुक्ति है। इस दर्शन में भी ज्ञान की प्रधानता होने से आचार की गौणता ही है। यहाँ कारण है कि वेदान्तदर्शन में भी दान की मीमांसा नहीं हो पाई। दान का सम्बन्ध चारित्र से है और उसकी वहाँ गौणता है।

न्यायदर्शन में तथा वैशेषिक दर्शन में पदार्थ ज्ञान को ही मुक्ति का कारण कहा गया है। वैशेषिक दर्शन में सप्त पदार्थों का तथा न्यायदर्शन में षोडश पदार्थों का अधिगम ही मुख्य माना गया है। न्यायशास्त्र में तो पदार्थ भी गौण है, मुख्य है, प्रमाणों की मीमांसा। वैशेषिक की पदार्थ-मीमांसा और न्याय की प्रमाण मीमांसा प्रसिद्ध है। अतः वहाँ पर दान का कोई विशेष महत्त्व नहीं कहा जा

सकता। उसका कोई दार्शनिक आधार नहीं है। न्यायदर्शन ने ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिये समग्र शक्ति लगा दी और वैशेषिक ने परमाणु को सिद्ध करने के लिए। जीवन की व्याख्या वहाँ नहीं हो पाई।

योगदर्शन ज्ञान-प्रधान न होकर क्रिया-प्रधान अवश्य है। आचार का वहाँ विशेष महत्त्व माना गया है। मनुष्य के चित्त की वृत्तियों का सूक्ष्म विश्लेषण किया गया है। उसकी साधना का मुख्य लक्ष्य है — समाधि की सम्प्राप्ति। उसकी प्राप्ति के लिए यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा और ध्यान को साधन के रूप में स्वीकार किया गया है। यमों में अपरिग्रह और नियमों में सन्तोष का ग्रहण किया गया है। परन्तु दान की मीमांसा को कहीं पर भी अवसर नहीं मिला। दान का साधन के रूप में कहीं उल्लेख नहीं है। अतः यह सिद्ध होता है कि वेद मूलक षड्दर्शनों में एक मीमांसा दर्शन को छोड़कर शेष पांच दर्शनों में दान का कोई महत्त्व नहीं है। न उसका विधान है और न उसकी व्याख्या ही की गई है।

श्रमण परम्परा में दान :

वेद विरुद्ध श्रमण परम्परा के तीन सम्प्रदाय प्रसिद्ध हैं — जैन, बौद्ध और आजीवक। आजीवक परम्परा का प्रवर्तक गोशालक था। वह नियतिवादी के रूप में भारतीय दर्शनों में बहुचर्चित एवं विख्यात था। उसकी मान्यता थी कि जो भाव नियत हैं, उन्हें बदला नहीं जा सकता। संसार के किसी भी चेतन अथवा अचेतन पदार्थ में कोई मनुष्य किसी भी प्रकार का परिवर्तन नहीं कर सकता। सब अपने आप में नियत हैं। आज के इस वर्तमान युग में, आजीवक सम्प्रदाय का एक भी ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। अतः दान के सम्बन्ध में गोशालक के क्या विचार थे? कुछ भी नहीं कहा जा सकता। उसके नियतिवादी सिद्धान्त के अनुसार तो उसकी विचारधारा में दान का कोई फल नहीं है।

बौद्ध परम्परा में आचार की प्रधानता रही है। प्रज्ञा और समाधि का महत्त्व भी कम नहीं है; फिर भी प्रधानता शील की है। बुद्ध ने शील को बहुत ही महत्त्व दिया है। सदाचार पर भी काफी जोर दिया है। दान भी एक सत्कर्म है, अतः यह भी शील की ही सीमा के अन्दर आ जाता है बौद्ध धर्म में बुद्धत्व प्राप्त करने के लिए जिन दश पारमिताओं का वर्णन किया गया है, उनमें से एक

पारमिता दान को भी माना गया है। दान की पूर्णता भी बुद्धत्व लाभ का एक मुख्य कारण माना गया है। दान के सम्बन्ध में बुद्ध ने 'दीघनिकाय' में कहा है कि "सत्कारपूर्वक दान दो, अपने हाथ से दान दो, मन से दान दो, दोषरहित पवित्र दान दो।" इस कथन में दान के विषय में चार बातें कही गई हैं — दान सत्कार पूर्वक हो, अपने हाथ से दिया गया हो, भावनापूर्वक दिया हो और दोषशून्य हो। इस प्रकार के दान को पवित्र दान कहा गया है। 'संयुत्तनिकाय' में भी बुद्ध ने कहा है — "श्रद्धा से दिया गया दान प्रशस्त दान है। दान से भी बढ़कर धर्म के स्वरूप को समझाया है।" इस कथन में स्पष्ट है कि यदि दान में श्रद्धा भाव नहीं है, तो वह दान तुच्छ दान है। जो भी देना हो, जितना भी देना हो, वह श्रद्धा से दिया जाना चाहिए, तभी देने की सार्थकता कही जा सकती है। हीन भाव से तथा अनादर से दिया गया दान प्रशस्त दान नहीं कहा जा सकता। 'धम्मपद' में भी दान के सम्बन्ध में बुद्ध ने बहुत सुन्दर कहा है — "धर्म का दान सब दानों से बढ़कर है। धर्म का रस सब रसों से श्रेष्ठ है।" धर्म-विमुख मनुष्य को धर्मपथ पर लगा देना भी एक दान ही है।

बौद्ध परम्परा में अनेक व्यक्तियों ने संघ को दान दिया था। अनाथपिण्ड ने जेतवन का दान बौद्धसंघ को दिया था। राजगृह में वेणुवन भी दान में ही मिला है। वैशाली में आग्रपाली ने अपना उपवन बुद्ध को दान में दिया था। सम्राट अशोक ने भी हजारों विहार बौद्ध भिक्षुओं के आवास के लिए दान में दे दिये थे। बौद्ध परम्परा का इतिहास दान की महिमा से और दान की गरिमा से भरा पड़ा है। बौद्ध धर्म में दान को महान् सत्कर्म माना गया है। यह एक महान् धर्म है। यही कारण है कि इस धर्म में दान को बहुत बड़ा महत्त्व मिला है।

जैन परम्परा में दान :

जैन परम्परा में भी दान को एक सत्कर्म माना गया है। जैन धर्म न एकान्त क्रियावादी है, न एकान्त ज्ञानवादी है और न एकान्त श्रद्धावादी ही है। श्रदान, ज्ञान और आचरण - इन तीनों के समन्वय से ही मोक्ष की संप्राप्ति होती है। फिर भी जैन धर्म को आचार-प्रधान कहा जा सकता है। ज्ञान कितना भी ऊँचा हो, यदि साथ में उसका आचरण नहीं है, तो जीवन का उत्थान नहीं हो सकता। जैन परम्परा में सम्यग्-दर्शन और सम्यग्चारित्र को मोक्ष मार्ग कहा गया

है। दान का सम्बन्ध चारित्र से ही माना गया है। आहारदान, औषधदान और अभयदान आदि अनेक प्रकार के दानों का वर्णन विविध ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। भगवान महावीर ने 'सूत्रकृतांगसूत्र' में अभयदान को सबसे श्रेष्ठ दान कहा है - "अभयदान ही सर्वश्रेष्ठ दान है।" दूसरों के प्राणों की रक्षा ही अभयदान है। आज की भाषा में इसे ही जीवनदान कहा गया है। जैन परम्परा में धर्म के चार अंग स्वीकार किये हैं - दान, शील, तप एवं भाव। इनमें दान ही मुख्य एवं प्रथम है। 'सुखविपाकसुत्र' में दान का ही गौरव गाया गया है।

भगवान महावीर ने बहुत सुन्दर शब्दों का प्रयोग किया है - मुधादायी और मुधाजीवी। दान वही श्रेष्ठ दान है, जिससे दाता का भी कल्याण हो और ग्रहीता का भी कल्याण हो। दाता स्वार्थ रहित होकर दे और पात्र भी स्वार्थ-शून्य होकर ग्रहण करे। भारतीय साहित्य में इन दो शब्दों से सुन्दर शब्द दान के सम्बन्ध में अन्यत्र उपलब्ध नहीं होते। दाता और ग्रहीता तथा दाता और पात्र - शब्दों में वह गरिमा नहीं है, जो मुधादायी और मुधाजीवी में है। 'मुधा' शब्द का अभिधेय अर्थ अर्थात् वाक्यार्थ है - व्यर्थ। परन्तु लक्षणा के द्वारा इसका लक्ष्यार्थ होगा - स्वार्थरहित। व्यंजना के द्वारा व्यंग्यार्थ होगा - वह दान, जिसके देने से दाता के मन में अहंभाव न हो और लेने वाले के मन में दैन्यभाव न हो। इस प्रकार का दान विशुद्ध दान है, यह दान ही वस्तुतः मोक्ष का कारण है। न देने वाले को किसी प्रकार का भार और न लेनेवाले को किसी प्रकार की ग्लानि। यह एक प्रकार का धर्मदान कहा जा सकता है। शास्त्रों में जो दान की महिमा का कथन किया गया है, वह इसी प्रकार के दान का है। यह भव-बन्धन काटने वाला है। यह भव-परम्परा का अन्त करने वाला दान है।

ब्राह्मण और आरण्यक साहित्य में दान :

वेद परम्परा के साहित्य में भी दान की मीमांसा पर्याप्त हुई है। मूल वेदों में भी यत्र-तत्र दान की महिमा है, उपनिषदों में ज्ञान-साधना की प्रधानता होने से आचार्यों को गौण स्थान मिला है परन्तु आचार-मूलक ब्राह्मण साहित्य में आरण्यक साहित्य में और स्मृति साहित्य में दान के सम्बन्ध में बहुत विस्तार से वर्णन किया गया है। आरण्यक में कहा गया है कि "सभी प्राणी दान की प्रशंसा करते हैं, दान से बढ़कर अन्य कुछ दुर्लभ नहीं है।" इस वाक्य में दान को,

दुर्लभ कहा गया है, जिसका अभिप्राय है कि दान करना आसान काम नहीं है ! हर कोई दान नहीं कर सकता है। सम्पत्ति बहुतों के पास हो सकती है, पर उसका मोह छोड़ना सरल नहीं है। वस्तु पर से जब तक ममता न छूटे, तब तक दान नहीं किया जा सकता। ममता को जीतना ही दान है।

मनुस्मृति और याज्ञवल्क्य स्मृति में दान का बहुत विस्तार से वर्णन किया गया है। पाराशरस्मृति में दान के सम्बन्ध में कहा है — “ग्रहीता के पास स्वयं जाकर दान देना उत्तमदान है। उसे अपने पास बुलाकर देना मध्यमदान है। उसके बार-बार माँगने पर देना अधमदान है। उससे खूब सेवा कराकर देना। निष्फलदान है।”

गीता के १७ वें अध्याय के श्लोक २०, २१ एवं २२ में तीन प्रकार के दानों का कथन किया है — “सात्त्विकदान, राजसदान, और तामसदान। जो दान कर्तव्य समझकर उदात्त भाव से दिया जाता है तथा जो देश, काल और पात्र का विचार करके दिया जाता है, जो दान अनुषकारी को दिया जाता है, उसे गीता में श्रेष्ठदान, उत्तमदान एवं सात्त्विक दान कहा गया है। किसी भी प्रकार के फल की आकांक्षा, जिसमें न हो वही सच्चा दान है। अपनी वस्तु मात्र किसी को दे डालना दान नहीं कहा जा सकता। उसमें दाता के भाव का भी मूल्य है। मनुष्य के चित्त में उठने वाले सत्त्वभाव, रजोभाव और तमोभाव के आधार पर दान के परिणाम भी तीन प्रकार के बताए गये हैं। सत्त्वभाव से दिया गया दान दाता और पात्र दोनों के लिए हितकर है। रजोभाव से दिया गया दान चित्त में चंचलता ही उत्पन्न करता है। तमोभाव से दिया गया दान चित्त में मूढ़ता ही उत्पन्न करता है।

रामायण-महाभारत में दान की महिमा :

संस्कृत साहित्य के इतिहास में, जिसे इतिहासविद् विद्वानों ने महाकाव्य काल कहा है, उसमें भी दान के सम्बन्ध में उदात्त विचारों की झलक मिलती है। महाकाव्य काल के काव्यों में सबसे महान् एवं विशाल काव्य दो हैं- रामायण और महाभारत। अन्य महाकाव्यों के प्रेरणा स्रोत ये ही महाकाव्य हैं। दानों महाकाव्यों में यथा प्रसंग अनेक स्थानों पर दान के सम्बन्ध में वर्णन उपलब्ध होते हैं। कुछ प्रसंग तो अत्यन्त हृदयस्पर्शी कहे जा सकते हैं। ‘रामायण’ में एक

प्रसंग है — राजा दशरथ अपनी रानी कैकेयी को राम के व्यक्तित्व के सम्बन्ध में समझा रहे हैं। राम के गुणों का वर्णन करते हुए दशरथ कह रहे हैं — “सत्य, दान, तप, त्याग, मित्रता, पवित्रता, सरलता, नम्रता, विद्या और गुरुजनों की सेवा — ये सब गुण राम में निश्चित रूप से विद्यमान है।” यही राम का व्यक्तित्व है। इन गुणों में दान की भी परिगणना की है। यह कथन ‘अयोध्याकाण्ड’, में किया गया है। दान में सर्वजनप्रियता उपलब्ध होती है। उदार व्यक्ति में ही दाता होने की क्षमता होती है। एक प्रसंग में राम ने कहा है कि, ‘दान देना हो, तो मधुर वचन के साथ दो।’

‘महाभारत’ में विस्तार के साथ दान का वर्णन अनेक प्रसंगों पर किया गया है। ‘महाभारत’ में कर्ण ‘दानवीर’ के रूप में प्रसिद्ध है। अपने द्वार पर आने वाले किसी भी व्यक्ति को वह निराश नहीं लौटने देता। धर्मराज युधिष्ठिर का भी जीवन अत्यन्त उदार वर्णित किया गया है। महाभारत के एक प्रसंग पर कहा गया है — “तप, दान, शम, दम, लज्जा, सरलता, सर्वभूतों पर दया — सन्तों ने स्वर्ग के ये सात द्वार कहे हैं।” इस कथन में भी दान की महिमा गाई गई है। एक अन्य प्रसंग पर कहा गया है कि — “धन का फल दान और भोग है।” धन प्राप्त करके भी जिसने अपने जीवन में न तो दान ही दिया और न उसका उपभोग ही किया है, उसका धन प्राप्त करना ही निष्फल कहा है। महाभारत में युधिष्ठिर और नागराज के संवाद में कहा गया है — “सत्य, दम, तप, दान, अहिंसा, धर्म-परायणता आदि सद्गुण ही मनुष्य की सिद्धि के हेतु हैं, उसकी जाति और कुल नहीं।” इस कथन से फलित होता है कि दान आदि मनुष्य की महानता के मुख्य कारण रहे हैं। किसी जाति में जन्म लेना और किसी कुल में उत्पन्न होना उसकी महानता के कारण नहीं हैं। इस प्रकार महाभारत में स्थान-स्थान पर दान की गरिमा और दान की महिमा का प्रतिपादन किया गया है। दान भव्यता का द्वार है, दान स्वर्ग का द्वार है, दान मोक्ष का द्वार है। दान से महान् अन्य कौन-सा धर्म होगा? इन महाकाव्यों में दान का वर्णन व्याख्या रूप में ही नहीं, आख्यान रूप में भी किया गया है। कथाओं के आधार पर दान का गौरव बताया गया है।

महाभारत में दान के विषय में कहा गया है —

काल करे सो आज कर
 आज करे सो अब,
 अवसर बीता जात है
 बहुरी करेंगे कब ।

पांच पांडवों के पास भिक्षा मांगने जाने वाले कोई भी खाली हाथ वापस नहीं लौटता । एक बार एक ब्राह्मण युधिष्ठिर के पास दान लेने गया । युधिष्ठिर काम में व्यस्त होने से ब्राह्मण को कहा कल आना ।

ब्राह्मण निराश होकर वापस लौटा-रास्ते में भीम मिला । भीम ने ब्राह्मण से बात सुनी, उसको काफी खेद हुआ ।

भीम ने आयुधशाला में जाकर शंख फूँका (बजाया) । राज्य के नियमानुसार विजय हो तभी शंख बजा सकते हैं । नागरिकों को आश्चर्य हुआ । शंख की आवाज से पशुओं में भागदौड़ मच गई कि शंख क्यों बजा ? युधिष्ठिर ने भीम से पूछा ? भीम ने कहा - भाई ने कल को जीत लिया इसीलिए मैंने शंख बजाया । युधिष्ठिर ने भीम को पूछा, भाई ! किसने कल को जीत लिया है ? भीम ने ब्राह्मण की बात कही और कहा कि भाई आपने दान के लिए ब्राह्मण को 'कल आना' कहा इससे मैंने सोचा कि आपने काल को जीत लिया है, आप तो सत्यवचनी हो, युधिष्ठिर ने भूल सुधारने के लिए ब्राह्मण को वापस बुलाया और तुरंत दान दिया ।

श्रीकृष्ण ने योगशक्ति से अर्जुन को ब्राह्मण का रूप प्रदान किया और स्वयं भी ब्राह्मण के रूप में परिवर्तित होकर के पहुँचे महाराजा युधिष्ठिर के पास । वहाँ जाकर के भगवान श्रीकृष्ण ने कहा -

'हमारे एक मन चंदन के सूखे लकड़े की जरूरत है । यह तुम्हारे जैसे दाता के पास से ही मिल सकते हैं ऐसा है । दूसरे किसी के पास से नहीं, कारण कि अभी बरसात बरस रही है ।'

युधिष्ठिर, 'अभी ? अभी सूखे लकड़े कहाँ से लाऊँगा इस बरसात में ? और आपको तो सूखे लकड़े ही चाहिए न ?'

श्रीकृष्ण : 'हाँ, एकदम सूखे चाहिये । हमें यज्ञ के लिए जरूरत है ।'

युधिष्ठिर : यदि एकाद सेर की जरूरत हो तो दे सकता किन्तु मन लकड़े के लिए तो थोड़ा इंतजार करना पड़ेगा ।'

युधिष्ठिर की परीक्षा लेने के बाद दोनों ब्राह्मण वेश में कर्ण के पास पहुँचे और उसको भी यही कहा : 'हमें एक मन चंदन के सूखे लकड़े चाहिए ।'

कर्ण : 'अभी तो बरसात चालु है, परन्तु ब्राह्मण देवता ठहरिए ! मेरे महल के दरवाजे के लकड़े चंदन के हैं और सूखे हैं । ये मैं अभी आपको दे देता हूँ ।'

ऐसा कह करके कर्ण ने अपने महल के दरवाजे निकाल दिये । पलंग वगैरह दूसरा जो कुछ भी चंदन की लकड़ी से बना हुआ फर्निचर था वह सब निकाल दिया और ब्राह्मण वेशधारी श्रीकृष्ण और अर्जुन की मनोकामना पूर्ण की ।

तब ब्राह्मण वेशधारी श्रीकृष्ण ने कहा : 'कर्ण ! तुमने हमारी इस तुच्छ इच्छा के लिए महल के दरवाजे क्यों निकाल दिये ?'

कर्ण ने कहा : 'ब्राह्मणदेवता ! किसको पता है कि कल में जीवित रहूँगा या नहीं । इसलिए आज ही इन हाथों से जितना सत्कार्य हो जाए उतना अच्छा है । किसको पता कल मौत आ जाय तो ?

मौत कभी भी आ सकती है, कहीं भी आ सकती है, किसी भी निमित्त से आ सकती है । इस बात को सदैव अपने को याद रखना चाहिए ।

संस्कृत महाकाव्यों में दान :

संस्कृत साहित्य में महाकाव्यों को दो विभागों में विभक्त किया गया है— लघुत्रयी और बृहत्त्रयी । लघुत्रयी में महाकवि कालिदास कृत तीन काव्यों की गणना की गई है — 'रघुवंश', 'कुमारसम्भव' और 'मेघदूत' । मेघदूत एक खण्ड काव्य है, शृंगार प्रधान काव्य है । काव्यगत गुणों की दृष्टि से यह श्रेष्ठ काव्य माना गया है । उसमें दान की महिमा के प्रसंग अत्यन्त विरल रहे हैं, फिर भी शून्यता नहीं रही । काव्य का नायक यक्ष अपने मित्र मेघ से कहता है — 'हे मित्र ! याचना करनी हो, तो महान् व्यक्ति से करो, भले ही निष्फल हो जाये, परन्तु नीच व्यक्ति से कभी कुछ न मांगो । भले ही वह सफल भी हो जाये ।'

इसमें कहा गया है कि महान् व्यक्ति से ही दान की मांग करो, हीन व्यक्ति से नहीं इस कथन में कालिदास ने दान का महान् रहस्य प्रकट कर दिया है।

'कुमारसम्भव' महाकाव्य में महाकवि कालिदास ने शिव और पार्वती का वर्णन किया है। शिव को कवि ने आशुतोष कहा है। कवि ने अनेक स्थलों पर शिव की दानवीरता का मधुर भाषा में वर्णन किया है। शिव ने अपनी भोग साधना में विघ्न डालने वाले कामदेव को जब तृतीय नेत्र से भस्म कर दिया, तो उसकी पत्नी रति विलाप करती हुई शिव के समक्ष उपस्थित होकर अपने पति का पुनः जीवन का वरदान मांगती है। रति के शोक से अभिभूत होकर शिव उसे जीवनदान का वरदान दे बैठते हैं। यह कवि की अलंकृत भाषा है। परन्तु इस कल्पना से शिव की दानशीलता का स्पष्ट चित्रण हो जाता है, यही अभीष्ट भी है।

कवि कालिदास ने अपने प्रसिद्ध महाकाव्य 'रघुवंश' में रघुवंश के राजाओं का विस्तार से वर्णन किया है। दिलीप, रघु, अज, दशरथ, राम और लव-कुश आदि का कवि ने प्रस्तुत काव्य में अनेक सर्गों में रघुवंशीय राजाओं की दानशीलता का वर्णन किया है। एक स्थल पर कहा गया है — "जैसे मेघ पृथ्वी से पानी खींचकर, फिर वर्षा के रूप में उसे वापस लौटा देता है वैसे ही रघुवंशीय राजा अपनी प्रजा से कर लेकर दान के रूप में वापस लौटा देते हैं।" रघुवंश काव्य में ही एक दूसरा सुन्दर प्रसंग है — "वरतन्तु का शिष्य कौत्स अपने गुरु को दक्षिणा देने का संकल्प करता है। वह याचना करने के लिए राजा रघु के द्वार पर पहुँचा, पर पता लगा कि राजा सर्वस्व का दान कर चुका है। निराश लौटने को तैयार, पर रघु लौटने नहीं देता। तीन दिनों तक रुक जाने की प्रार्थना करता है। राजा रघु उसकी इच्छा पूरी करके उसे गुरु के आश्रम में भेजता है।" रघुवंश महाकाव्य का यह प्रसंग अत्यन्त सुन्दर, हृदयस्पर्शी और मार्मिक बन पड़ा है। दान की गरिमा का और दान की महिमा का इससे सुन्दर चित्रण अन्यत्र दुर्लभ है।

महाकवि कालिदास ने अपने तीन नाटकों में - शाकुन्तल, मालविकाग्निमित्र, और विक्रमोर्वशीय में - भी अनेक स्थलों पर दान के सुन्दर प्रसंगों की चर्चा की है।

संस्कृत महाकाव्य में वृहतत्रयी में तीन का समावेश होता है — किरातार्जुनीय, शिशुपालवध और नैषधचरित । महाकवि भारवि ने अपने काव्य 'किरातार्जुनीय' में किरातरूपधारी और अर्जुन के युद्ध का वर्णन किया है । शिव के वरदान का और उसकी दानशीलता का काव्यमय भव्य वर्णन किया है । महाकवि माघ ने 'शिशुपालवध' में अनेक स्थलों पर दान का बहुत ही सुन्दर वर्णन किया है । माघ स्वयं भी उदार एवं दानी माने जाते रहे हैं । कोई भी याचक द्वार से खाली हाथ नहीं लौट पाता था । कवि का यह दान गुण उनके समस्त काव्य में परिव्याप्त है । श्री हर्ष ने अपने प्रसिद्ध काव्य नैषध में राजा नल और दमयन्ती का वर्णन किया है, जिसमें राजा नल की उदारता और दानशीलता का भव्य वर्णन किया गया है ।

संस्कृत के पुराण साहित्य में दान :

संस्कृत के पुराण साहित्य में दान का विविध वर्णन विस्तार से किया गया है । व्यास रचित अष्टादशपुराणों में से एक भी पुराण इस प्रकार का नहीं है । जिसमें दान का वर्णन नहीं किया गया हो । दान के विषय में उपदेश और कथाएँ भरी पड़ी है । रूपक तथा कथाओं के माध्यम से दान के सिद्धान्तों का सुन्दर वर्णन किया गया है ।

जैन परम्परा के पुराणों में आदिपुराण, उत्तरपुराण, पद्मपुराण, हरिवंशपुराण, त्रिषष्टिशलाकापुरुष चरित आदि में दान सम्बन्धी उपदेश तथा कथाएँ प्रचुर मात्रा में आज भी उपलब्ध हैं, जिनमें विस्तार के साथ दान की महिमा वर्णित है । इसके अतिरिक्त धन्यचरित्र, शालिभद्रचरित्र तथा अन्य चरित्रों में दान की महिमा, दान का फल और दान के लाभ बताए गए हैं ।

बौद्ध परम्परा के जातको में दान सम्बन्धी कथाएँ विस्तार के साथ वर्णित हैं । बुद्ध के पूर्व-भवों का सुन्दर वर्णन उपलब्ध है । बुद्ध ने अपने पूर्व भवों में दान कैसे दिया और किसको दिया, कितना दिया और कब दिया आदि विषयों का उल्लेख जातक कथाओं में विशद रूप में किया गया है ।

जैन परम्परा के आगमों की संस्कृत टीकाओं में तथा प्राकृत टीकाओं में तीर्थंकरों के पूर्वभवों का जो वर्णन उपलब्ध है, उसमें भी दान के विषय में विस्तार से वर्णन मिलता है । आहारदान के सम्बन्ध में कहीं पर कथाओं के

आधार से तथा कहीं पर उपदेश के रूप में दान की महिमा का उल्लेख बहुत ही विस्तार से हुआ है। इन दानों में विशेष उल्लेख योग्य है — शास्त्रदान। हजारों श्रावक एवं भक्तजन साधुओं को लिखित शास्त्रों का दान करते रहे हैं। अन्य दानों की अपेक्षा इस दान का विशेष महत्त्व माना जाता है। शिष्यदान का भी उल्लेख शास्त्रों में आया है। पुराणों में आश्रमदान, भूमिदान और अन्नदान का स्थान-स्थान पर उल्लेख उपलब्ध है। जैन परम्परा के श्रमण, मुनि और तपस्वी आश्रम और भूमि को दान के रूप में ग्रहण नहीं करते थे। रजत और सुवर्ण आदि का दान भी ये ग्रहण नहीं करते थे। परन्तु सन्यासी तापस और बौद्ध भिक्षु इस प्रकार के दानों को सहर्ष स्वीकार करते रहे हैं।

संस्कृत साहित्य के पुराणों में भागवतपुराण अत्यन्त महत्त्वपूर्ण माना जाता है। भागवत के दशम स्कन्ध के पंचम अध्याय में दान की महिमा का वर्णन करते हुए लिखा है — “दान न करने से मनुष्य दरिद्र हो जाता है, दरिद्र होने से वह पाप करने लगता है, पाप के प्रभाव से वह नरकगामी बन जाता है और बार-बार दरिद्र तथा पापी होता रहता है।” दान न देने से भयंकर परिणाम भोगने पड़ते हैं। आगे दान के सद्भाव का वर्णन किया है — “सत्पात्र को दान देने से मनुष्य धन-सम्पन्न हो जाता है, धनवान होकर वह पुण्य का उपार्जन करता है, फिर पुण्य के प्रभाव से स्वर्गगामी बन जाता है और फिर बार-बार धनवान और दाता बनता रहता है।” इसमें बताया है कि दान का परिणाम कितना सुखद और सुन्दर होता है।

संस्कृत के नीति काव्यों में दान :

जैन परम्परा के कथात्मक नीति ग्रन्थों में दान का बहुत विस्तार से वर्णन उपलब्ध होता है। महाकवि धनपाल द्वारा रचित ‘तिलकमंजरी’ में जीवन से सम्बन्ध प्रायः सभी विषयों का वर्णन सुन्दर और मधुर शैली में तथा प्राञ्जल भाषा में हुआ है। उसमें दान की महिमा का वर्णन अनेक स्थलों पर किया गया है। दान का फल क्या है? दान कैसे देना चाहिए? दान किसको देना चाहिए? इन विषयों पर विस्तार से लिखा गया है। आचार्य सोमदेवसूरि कृत ‘यशस्तिलकचम्पू’ में धार्मिक, सांस्कृतिक तथा अध्यात्म भावों का बड़ा ही सुन्दर विश्लेषण हुआ है। संस्कृत साहित्य में यह ग्रन्थ अद्वितीय एवं अनुपम

माना जाता है। मनुष्य जीवन से सम्बन्ध बहुविध सामग्री उसमें उपलब्ध होती है। साधुजीवन और गृहस्थजीवन के सुन्दर सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है। उसमें यथाप्रसंग अनेक स्थलों पर दान की महिमा का उल्लेख हुआ है। इसके अतिरिक्त अन्य काव्य ग्रन्थों में, कथात्मक ग्रन्थों में और चरित्रात्मक ग्रन्थों में भी दान की गरिमा का और दान की महिमा का कहीं पर संक्षेप में और कहीं पर विस्तार में वर्णन किया है। जैन परम्परा के नीति-प्रधान उपदेश ग्रन्थों में तथा संस्कृत और प्राकृत के सुभाषित ग्रन्थों में और धर्मग्रन्थों में भी दान का बहुमुखी वर्णन उपलब्ध होता है। कुछ ग्रन्थ तो केवल दान के सम्बन्ध में ही लिखे गये हैं। अतः दान के विषय पर लिखे गये ग्रन्थों की बहुलता रही है। नीतिवाक्यामृत और अर्ह-नीति जैसे ग्रन्थों में अन्य विषयों के प्रतिपादन के साथ-साथ दान के विषय में भी काफी प्रकाश डाला गया है, जो आज भी उपलब्ध होता है।

संस्कृत साहित्य के नीति-प्रधान ग्रन्थों में भर्तृहरि कृत श्रृंगार शतक, वैराग्यशतक तथा नीतिशतक जैसे मधुर नीति काव्यों में मनुष्य-जीवन को सुन्दर एवं सुखद बनाने के लिए बहुत कुछ लिखा गया है। भर्तृहरि ने अपने दीर्घ जीवन के अनुभवों के आधार पर जो कुछ भी लिखा था, वह आज भी उतना सत्य एवं जनप्रिय माना जाता है। उनके शतकत्रय में दान के सम्बन्ध में बहुत कुछ लिखा गया है। उन्होंने दान को अमृत भी कहा है। दान मनुष्य-जीवन का एक श्रेष्ठ गुण कहा गया है। मनुष्य के आचरण से सम्बन्ध रखने वाले गुणों में दान सबसे ऊँचा गुण माना गया है। एक स्थान पर कहा गया है — “मनुष्य के धन की तीन ही गति हैं — दान, भोग और नाश।” जो मनुष्य न दान करता हो, न उपभोग करता हो, उसका धन पड़ा-पड़ा नष्ट हो जाता है। संस्कृत के नीति काव्यों में “कविकण्ठाभरण” भी बहुत सुन्दर ग्रन्थ है। उसमें दान के विषय में विस्तार से वर्णन किया गया है। ‘सुभाषित रत्नभाण्डागार’ एक विशालकाय महाग्रन्थ है, जिसमें दान के विषय में अनेक प्रकरण हैं। ‘सुक्ति सुधा संग्रह’ सुभाषित वचनों का एक सुन्दर संग्रह किया गया है। उसमें दान के सम्बन्ध में बहुत लिखा गया है। ‘सुभाषित सप्तशती’ में भी दान के विषय में बहुत सुभाषित कथन मिलते हैं। ‘सूक्ति त्रिवेणी’ ग्रन्थ भी सूक्तियों का एक विशालकाय ग्रन्थ

है जिसमें संस्कृत, प्राकृत और पालि ग्रन्थों से संग्रह किया गया है। इसमें दान के विषय में अद्भुत सामग्री प्रस्तुत की गयी है। वैदिक, जैन और बौद्ध परम्परा के धर्मग्रन्थों और अध्यात्म ग्रन्थों में दान के विषय में काफी सुन्दर संकलन किया गया है। प्रवक्ता, लेखक और उपदेशकों के लिए एक सुन्दर कृति कही जा सकती है। एक ही ग्रन्थ में तीन परम्पराओं के दान सम्बन्धी विचार उपलब्ध हो जाते हैं। अपने-अपने युग में वैदिक, जैन और बौद्ध आचार्यों ने लोक-कल्याण के लिए, लोक मंगल के लिए और जीवन उत्थान के लिए बहुत से सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया था। उनमें से दान भी एक मुख्य सिद्धान्त रहा है। प्रत्येक परम्परा ने दान के विषय में अपने देश और काल के अनुसार दान की मीमांसा की है, दान पर विचार-चर्चा की है और दान पर अपनी मान्यताओं का विश्लेषण भी किया है। दान की मर्यादा, दान की सीमा, दान की परिभाषा और दान की व्याख्या सब की एक जैसी न भी हो, परन्तु दान को भारत की समस्त परम्पराओं ने सहर्ष स्वीकार किया है, उसकी महिमा की है।

हिन्दी कवि और दान :

हिन्दी साहित्य की नीतिप्रधान कविताओं में भी दान के विषय में काफी लिखा गया है। 'तुलसी दोहावली', 'रहीम दोहावली' और 'बिहारी सतसई' तथा 'सूर के पदों' में भी दान की गरिमा का और दान की महिमा का विस्तार से उल्लेख हुआ है। तुलसी का 'रामचरितमानस' तो एक प्रकार का सागर ही है, जिसमें दान के विषय में अनेक स्थलों पर बहुत कुछ लिखा गया है। हिन्दी के अनेक कवियों ने इस प्रकार के जीवन चरितों की रचना भी की है, जिनमें विशेष रूप से दान की महिमा का ही वर्णन किया गया है। रामभक्त कवियों ने, कृष्णभक्त कवियों ने और प्रेममार्गी सूफी कवियों ने अपने काव्य ग्रन्थों में, दान के विषय में यथाप्रसंग काफी लिखा है। दान की कोई भी उपेक्षा नहीं कर सका है। कबीर ने भी अपने पदों और दोहों में दान के विषय में यथा प्रसंग बहुत लिखा है। अपने एक दोहे में कबीर ने कहा है — "यदि नाव में जल बढ जाये और घर में दाम बढ जाये तो उसे दोनों हाथों से बाहर निकाल देना चाहिए, बुद्धिमानों का यही समझदारी का काम है।"

तुलसी दोहावली में भी दान के विषय में कहा गया है — “सरिता में से, जो भरकर बह रही है, यदि पक्षी उसमें से थोड़ा जलपान कर लेता है, तो उसका पानी क्या कम पड़ जायेगा ? ठीक इसी प्रकार दान देने से भी धन घटता नहीं है ।”

स्वामी रामतीर्थ ने दान के सम्बन्ध में कहा है — “दान देना ही धन पाने का एकमात्र द्वार है ।” सन्त विनोबा ने कहा है — “बुद्धि और भावना के सहयोग से जो क्रिया होती है, वही सुन्दर है । दान का अर्थ—फेंकना नहीं, बल्कि बोना ही है ।”

भारत के धर्मों के समान बाहर से आने वाले धर्म ईसाई और मुस्लिम धर्मों में भी दान का बड़ा ही महत्त्व माना गया है । दान के सम्बन्ध में बाइबिल और कुरान में भी ईसा और मुहम्मद ने अनेक स्थलों पर दान की महिमा का यथाप्रसंग वर्णन ही नहीं किया, बल्कि दान पर बल भी डाला है । दान के अभाव में ईसा मनुष्य का कल्याण नहीं मानते थे । ईसा ने प्रार्थना और सेवा पर विशेष बल दिया था, पर दान को भी कम महत्त्व नहीं दिया । बाइबिल में दान के विषय में कहा गया है — “तुम्हारा दायाँ हाथ जो देता है, उसे बायाँ हाथ न जान सके, ऐसा दान दो ।” इस कथन का अभिप्राय इतना ही है कि दान देकर उसका प्रचार मत करो ! अपनी प्रशंसा मत करो । जो दे दिया, सो दे दिया । उसका कथन भी मत करो । कुरान में दान के सम्बन्ध में बहुत ही सुन्दर कहा गया है — “प्रार्थना ईश्वर की तरफ आधे रास्ते तक ले जाती है ! उपवास महल के द्वार तक पहुँचा देता है और दान से हम अन्दर प्रवेश करते हैं ।” इस कथन में यह स्पष्ट हो जाता है कि जीवन में दान का कितना महत्त्व रहा है । प्रार्थना और उपवास से भी अधिक महत्त्व यहाँ पर दान का माना गया है । मुस्लिम विद्वान् शेखसादी ने कहा है — “दानी के पास धन नहीं होता और धनी कभी दानी नहीं होता ।” कितनी सुन्दर बात कही गई है । जिसमें देने की शक्ति है, उसके पास देने को कुछ भी नहीं और जिसमें देने की शक्ति न हो, वह सब कुछ देने को तैयार रहता है । अतः दान देना उतना सरल नहीं है, जितना समझ लिया गया है । दान से बढ़कर अन्य कोई पवित्र धर्म नहीं है । जो बिना माँगे ही देता हो, वही श्रेष्ठ दाता है । एक कवि ने बहुत ही सुन्दर कहा है — “दान से सभी

प्राणी वश में हो जाते हैं, दान से शत्रुता का नाश हो जाता है। दान से पराया भी अपना हो जाता है। अधिक क्या कहें, दान सभी विपत्तियों का नाश कर देता है।" कवि के इस कथन से दान की गरिमा और दान की महिमा स्पष्ट हो जाती है। इस प्रकार समग्र साहित्य दान की महिमा से भरा पड़ा है। संसार में न कभी दाताओं की कमी रही है और न दान लेने वाले लोगों की ही कमी रही है। दान की परम्परा संसार में सदा चलती ही रहेगी।

आचारशास्त्र में दान :

जैन परम्परा के आचारशास्त्र के ग्रन्थों में, फिर भले ही वे ग्रन्थ संस्कृत भाषा में हों अथवा प्राकृत भाषा में हों, कुछ ग्रन्थ अपभ्रंश भाषा में भी लिखे गये हैं। इन सब ग्रन्थों में आचार के सिद्धान्तों का प्रतिपादन कहीं पर संक्षेप में और कहीं पर विस्तार में किया गया है। श्रावक के आचार एवं व्रतों का वर्णन करने वाले ग्रन्थ भी कम नहीं हैं। उन ग्रन्थों में सागारधर्माभूत, वसुनन्दी श्रावकाचार, अमितगति श्रावकाचार, उपासकाऽध्ययन, ज्ञानार्णव, योगशास्त्र तथा उपासकदशांगसूत्र मुख्य कहे जा सकते हैं। इनमें आचार के सूक्ष्म और स्थूल सभी प्रकार के भेद-प्रभेद का वर्णन किया गया है।

श्रावक के इस आचार में दान का भी समावेश हो जाता है। प्रत्येक ग्रन्थ में दान की गरिमा और दान की महिमा का वर्णन किया गया है। उसकी उपयोगिता का प्रतिपादन किया गया है। बताया गया है कि दान देना क्यों आवश्यक है? देना जीवन के विकास का एक अनिवार्य सिद्धान्त है। दान देने से किस गुण की अभिवृद्धि होती है? दान किस प्रकार का होना चाहिए? दान का स्वरूप क्या है? दान के प्रकार कितने हैं? दाता के भाव कैसे रहने चाहिए? दान देते समय दान लेने वाला पात्र अथवा ग्रहीता कैसा होना चाहिए? जो वस्तु दी जा रही है, वह कैसी होनी चाहिए? दान देने की विधि क्या है? इस प्रकार दान के सम्बन्ध में बहुमुखी विचार इन ग्रन्थों में किया गया है।

जैन परम्परा के आचार्यों में, जिन्होंने आचार ग्रन्थ लिखे हैं, उनमें आचार्य अमितगति एक प्रसिद्ध आचार्य हैं। उनका ग्रन्थ है — 'अमितगति श्रावकाचार' इसमें बड़े ही विस्तार के साथ दान की मीमांसा की गई है। यह ग्रन्थ पंचदश परिच्छेदों में विभक्त है। उसके नवम, दशम और एकादश परिच्छेदों

में दान से सम्बन्ध समस्त सिद्धान्तों का विस्तार से वर्णन किया है। अन्य विषयों की अपेक्षा दान का विचार बहुत ही लम्बा है। दान के सम्बन्ध में सूक्ष्म से भी सूक्ष्म विचार प्रस्तुत किये गये हैं।

नवम परिच्छेद के प्रारम्भ में ही आचार्य ने कहा है — दान, पूजा, शील और उपवास भवरूप वन को भस्म करने के लिए ये चारों ही आग के समान हैं। पूजा का अर्थ है — जिनदेव की भक्ति। भाव के स्थान पर पूजा का प्रयोग आचार्य ने किया है। दान क्रिया के पाँच अंग माने गये हैं — दाता, देय वस्तु, पात्र, विधि और मति। यहाँ पर मति का अर्थ है — विचार। बिना विचार के, बिना भाव के दान कैसे दिया जा सकता है? आचार्य अमितगति ने दाता के सात भेदों का उल्लेख किया है — भक्तिमान हो, प्रसन्नचित हो, श्रद्धावान हो, विज्ञान सहित हो, लोलुपतारहित हो, शक्तिमान हो और क्षमावान हो। 'विज्ञान वाला हो' से अभिप्राय यह है कि दाता द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव का ज्ञाता हो। अन्यथा दान की क्रिया निष्फल हो सकती है अथवा दान का विपरीत परिणाम भी हो सकता है। दाता के कुछ विशेष गुणों का भी आचार्य ने अपने ग्रन्थ में उल्लेख किया है — विनीत हो, भोगों में निःस्पृह हो, समदर्शी हो, परीषह सही हो, प्रियवादी हो, मत्सररहित हो, संघवत्सल हो और वह सेवा-परायण भी हो। दान की महिमा का वर्णन करते हुए आचार्य ने कहा है — “जिस घर में से योगी को भोजन न दिया गया हो, उस गृहस्थ के भोजन से क्या प्रयोजन? कुबेर की निधि भी उसे मिल जाये, तो क्या? योगी की शोभा ध्यान से होती है, तपस्वी की शोभा संयम से होती है, राजा की शोभा सत्यवचन से होती है और गृहस्थ की शोभा दान से होती है।” आचार्य ने यह भी कहा है — “जो भोजन करने से पूर्व साधु के आगमन की प्रतीक्षा करता है। साधु का लाभ न मिलने पर भी वह दान का भागी है।”

दान के चार भेद किये हैं — अभयदान, अन्नदान, औषधदान और ज्ञानदान। अन्नदान को आहारदान भी कहा गया है और ज्ञानदान को शास्त्रदान भी कहते हैं। पंचमहाव्रतधारक साधु को उत्तमपात्र कहा है, देशव्रत धारक श्रावक को मध्यम पात्र कहा है, अविरत सम्यग्दृष्टि को जघन्य पात्र कहा है। दशम परिच्छेद के प्रारम्भ में पात्र, कुपात्र और अपात्र की व्याख्या की है। विधि सहित दान का महत्त्व बताते हुए आचार्य ने कहा — “विधिपूर्वक दिया गया थोड़ा दान

भी महाफल प्रदान करता है। जिस प्रकार धरती में बोया गया छोटा-सा बट-बीज भी समय पर एक विशाल वृक्ष के रूप में चारों ओर फैल जाता है, जिसकी छाया में हजारों प्राणी सुख भोग करते हैं, उसी प्रकार विधि सहित छोटा दान भी महाफल देता है।" दान के फल के सम्बन्ध में आचार्य ने बहुत सुन्दर कहा है— "जैसे मेघ से गिरने वाला जल एक रूप होकर भी नीचे आधार को पाकर अनेक रूप में परिणित हो जाता है, वैसे ही एक ही दाता से मिलने वाला दान विभिन्न उत्तम, मध्यम और जघन्य पात्रों को पाकर विभिन्न फल वाला हो जाता है।" कितनी सुन्दर उपमा दी गई है। अपात्र को दिये गये दान के सम्बन्ध में आचार्य ने कहा है— "जैसे कच्चे घड़े में डाला गया जल अधिक देर तक नहीं टिक पाता और घड़ा भी फूट जाता है, वैसे ही विगुण अर्थात् अपात्र को दिया गया दान भी निष्फल हो जाता है और लेने वाला नष्ट हो जाता है।" इस प्रकार आचार्य अमितगति ने अपने श्रावकाचार ग्रन्थ में और उसके दशम परिच्छेद में दान, दान का फल आदि विषय पर बहुत ही विस्तार के साथ विचार किया है।

एकादश परिच्छेद में आचार्य ने विस्तार के साथ अभयदान, अन्नदान, औषधदान और ज्ञानदान - इन चार प्रकार के दानों का वर्णन किया है। वस्तुतः देने योग्य जो वस्तु है, वे चार ही होती हैं - अभय, अन्न, औषध और ज्ञान अर्थात् विवेक। अभय को सर्वश्रेष्ठ कहा गया है। अभय से बढ़कर अन्य कोई इस जगत् में हो नहीं सकता। भयभीत को अभय देना ही परम दान है। अन्न अर्थात् आहार देना भी एक दान है। यह शरीर, जिससे मनुष्य धर्म की साधना करता है, बिना अन्न के कैसे टिक सकता है? संयमी को, त्यागी को भी अपने संयम को स्थिर रखने के लिए अन्न की आवश्यकता पड़ती है। अन्न के अभाव में साधना भी कब तक चल सकती है। कितना भी बड़ा तपस्वी हो, कितना भी लम्बा तप किया जाये आखिर अन्न की शरण में तो जाना ही पड़ता है। स्वस्थ शरीर से ही धर्म और कर्म किया जा सकता है। रुग्ण काया से मनुष्य न धर्म कर सकता है और न कोई शुभ या अशुभ कर्म ही कर सकता है। आरोग्य परम सुख है। उसका साधन है औषध। अतः शास्त्रकारों ने औषध को भी दान में परिगणित किया है, देय वस्तुओं में उसकी गणना की है। ज्ञान आत्मा का गुण है। वह तो सदा ही संप्राप्त रहता है। अतः ज्ञान का अर्थ है विवेक। विवेक का अर्थ है - करने योग्य और न करने योग्य का निर्णय

करना। यह शास्त्र के द्वारा ही हो सकता है। जिसने शास्त्र नहीं पढ़े, उसे अन्धा कहा गया है। विधि और निषेध का निर्णय शास्त्र के द्वारा ही होता है। अतः शास्त्र को भी दान कहा गया है।

इतिहास के संदर्भ में दान :

भारत देश एक धर्म-प्रधान देश रहा है। भारत के जन-जन के जीवन में धर्म के संस्कार गहरे और अमिट हैं। यहाँ का मनुष्य अपने कर्म को धर्म की कसौटी पर कसकर देखता है। धर्म उसे अत्यन्त प्रिय रहा है। धर्म के व्याख्याकार ऋषि एवं मुनि सदा नगर से दूर वनों में रहा करते थे। गुरुकुल और आश्रमों की स्थापना नगरों में नहीं वरन् दूर वनों में की गई थी। गुरुकुल और आश्रमों में हजारों छात्र तथा हजारों साधक रहा करते थे। भोजन और वस्त्र आदि की व्यवस्था तथा छात्रों के अध्ययन में किसी प्रकार का विघ्न न हो और साधकों की साधना में किसी प्रकार की बाधा न पड़े इसलिए राजा सेठ-साहुकार गुरुकुलों को और आश्रमों को दान दिया करते थे। दान का प्रारम्भ इन गुरुकुलों और आश्रमों से ही हुआ था। फिर मन्दिर आदि धर्म-स्थानों को तथा तीर्थभूमि को भी दान की आवश्यकता पड़ी। दान के क्षेत्रों का नया विकास होता रहा और दान की सीमा का विस्तार भी धीरे-धीरे आगे बढ़ता ही रहा।

इतिहास के अध्ययन से ज्ञात होता है कि भारत में तीन विश्वविद्यालय थे- नालन्दा, तक्षशिला और विक्रमशिला। इन विश्वविद्यालयों में हजारों छात्र अध्ययन करते थे। ये सब विद्यालय भी दान पर ही जीवित थे, दान पर ही चला करते थे। दान के बिना इन संस्थाओं का जीवित रहना ही सम्भव नहीं था। राजा और सेठ-साहूकारों के उदार दान से ही ये सब चलते रहते थे। साहित्य रचनाओं में भी दान की आवश्यकता पड़ती थी। अजन्ता की गुफाओं का निर्माण, आबू के कलात्मक मन्दिरों का निर्माण बिना दान के कैसे हो सकता था? दान एक व्यक्ति का हो या फिर अनेक व्यक्तियों के सहयोग से मिला हो, पर सब दान पर ही अवलम्बित था। कवि को यदि रोटी की चिन्ता बनी रहे, तो वह काव्य की रचना कर ही नहीं सकता। कलाकार यदि जीवन की व्यवस्था में लगा रहे, तो कैसे कला का विकास होगा? कवि को, दार्शनिक को, शिल्पी को और कलाकार को चिन्ताओं से मुक्त करना ही होगा, तभी वह निर्माण कर सकता

है। इन समस्याओं के समाधान में से ही दान का जन्म हुआ। व्यक्ति अकेला जीवित नहीं रह सकता, वह समाजगत होकर ही अपना विकास कर सकता है। अतः दान की प्रतिष्ठा समाज के क्षेत्र में निरन्तर बढ़ती रही है। आज भी संस्थाओं को दान की उतनी ही आवश्यकता है, जितनी कभी पहले थी। संस्था कैसी भी हो, धार्मिक, सामाजिक हो और चाहे राष्ट्रीय हो सबको दान की आवश्यकता रही है और आज भी उसकी उतनी ही उपयोगिता है।

शान्तिनिकेतन, अरविन्द आश्रम, विवेकानन्द आश्रम और गांधीजी के आश्रम-इन सबका जीवन ही दान रहा है। जिसके दान का स्रोत सूख गया, उसका अस्तित्व ही समाप्त हो गया। अतः दान की आवश्यकता आज भी उतनी है, जितनी कभी पहले रही है। भारत के इतिहास में अनेक सम्राटों का वर्णन आया है, जिन्होंने जनकल्याण के लिए अपना सर्वस्व दान कर दिया था। अशोक के दान का उल्लेख स्तूपों पर और चट्टानों पर अंकित है। सम्राट हर्ष प्रति पंचवर्ष के बाद अपना सब कुछ दान कर डालते थे। संन्यासी, तपस्वी, मुनि और भिक्षुओं को सत्कारपूर्वक दान दिया जाता था। ब्राह्मणों को भी दान दिया जाता था। साधु, संन्यासी, भिक्षु और ब्राह्मण - ये चारों परोपजीवी रहे हैं। दान पर ही इनका जीवन चलता रहा है। आज भी दान पर ही ये सब जीवित हैं। दान की परम्परा विलुप्त हो जाये, तो सब समाप्त हो जाये। स्मृति में कहा गया है कि गृहस्थ जीवन धन्य है, जो सबके भार को उठाकर चल रहा है। गृहस्थ जीवन पर ही सब संस्थाएँ चल रही हैं। अन्य सब दानोपजीवी हैं, एकमात्र गृहस्थ ही दाता है।

षष्ठ अध्याय

भावना के अनुसार दान का वर्गीकरण

सच पूछा जाये तो दान का मुख्य सम्बन्ध भी भावों के साथ होता है । भावों का तार जुड़ने पर जिस प्रकार की और जैसी प्रेरणा दान की होती है वह दान वैसा ही कहलाता है । क्या जैन धर्म, क्या बौद्ध धर्म और क्या वैदिक धर्म, सभी धर्मों में भावों के आधार पर दान का वर्गीकरण किया गया है । दान को नापने और उसका प्रकार निर्धारित करने का थर्मामीटर भाव हैं । इसलिए दान में दो गई वस्तु उतनी महत्त्वपूर्ण नहीं मानी जाती, जितनी महत्त्वपूर्ण उसके पीछे दाता की वृत्तियाँ, भावना मानी जाती हैं । वृत्ति से ही दान की किस्म का पता चलता है । चन्दनबाला ने भगवान महावीर को सिर्फ मुझीभर उड़द के बाकुले दान में दिये थे, परन्तु उन थोड़े से, अल्प मूल्य उड़द के सीजे हुए बाकुले के पीछे भावना उत्तम थी और बड़ी ही श्रद्धा, भक्ति, निःस्वार्थता और निस्पृहता से वे दिये गये थे । इसी कारण उस दान के साथ देवों ने 'अहोदानं, अहोदानं' की घोषणा की थी । एक रंक से रंक व्यक्ति भी शुद्ध, निःस्वार्थ एवं प्रबल भक्ति-भावना से दान देता है, तो चाहे उसकी देयवस्तु बहुत ही अल्प हो, अल्प मूल्य की हो, सामान्य हो, मगर उस दान का मूल्य अत्यन्त बढ़ जाता है ।

दान में वस्तु न होकर अन्तःकरण ही मुख्य है ।

भावना एवं मनोवृत्ति के अनुसार विद्वानों ने दान को तीन श्रेणियों में निर्धारित किया है — सात्त्विक, राजस और तामस ।

भगवद्गीता में सात्त्विकदान, राजसदान और तामसदान की स्पष्ट व्याख्या की गई है । वैसे ही सागारधर्माभूत आदि जैन ग्रन्थों में भी इन तीनों की विशद व्याख्या मिलती है । परन्तु यह निश्चित है कि इन सबमें इन तीन कोटि के दानों

का वर्गीकरण भावना अथवा मनोवृत्ति के आधार पर ही किया गया है।

अब हम क्रमशः उक्त तीनों का लक्षण देकर संक्षेप में उस पर विचार करेंगे।

सात्त्विक दान का लक्षण :

सर्व प्रथम सात्त्विकदान को ही ले लें। सात्त्विकदान ही उच्च कोटि का दान है। इस दान के पीछे दाता में दान के बदले किसी प्रकार की यश, प्रतिष्ठा, प्रसिद्धि या धन आदि के लाभ की कामना नहीं रहती। निःस्वार्थ और निस्पृह भाव से ही यह दान दिया जाता है। इस प्रकार के दान का दाता अत्यन्त विवेकी होता है। वह देश, काल, पात्र की परिस्थिति, योग्यता और आवश्यकता के अनुसार दूसरों को दान देता है। आदाता भी बहुत ही पवित्र और उपकृत भावों से उसे ग्रहण करता है, वह भी लिए हुए दान से धर्मार्जन करता है, दान पाकर ज्ञान-दर्शन-चारित्र की आराधना एवं स्व पर कल्याण साधना के लिए पुरुषार्थ करता है, उस दान को लेने वाला स्व-पर श्रेय के लिए उद्यम करके दान को सार्थक कर देता है। इसीलिए सात्त्विकदान का लक्षण किया गया है —

“जो दान देश, काल (स्थिति) और पात्र देखकर जिसने कभी अपना उपकार नहीं किया है, ऐसे व्यक्ति को भी, 'इसे देना मेरा कर्तव्य है', यह समझकर दिया जाता है, उस दान को सात्त्विकदान माना गया है।” सात्त्विक कोटि के दान में दाता की श्रद्धा, भावना और शुद्धि की मनोवृत्ति, कर्तव्यबुद्धि आदि उन्नत और जागरूक होती है। इसीलिए गृहस्थाचार्यकल्प पं. आशाधरजी ने जैन धर्म के मूर्धन्य ग्रन्थ सागरधर्मांमृत में सात्त्विकदान का लक्षण उद्धृत किया है —

“जिस दान में अतिथि (लेने वाले) का हित-कल्याण हो, जिसमें पात्र का परीक्षण या निरीक्षण स्वयं किया गया हो, जिस दान में श्रद्धा, भक्ति, प्रेम, आत्मीयता, अनुग्रह बुद्धि आदि समस्त गुण हों, उस दान को सात्त्विकदान कहते हैं।”^१ ऐसा सात्त्विकदान दाता और आदाता दोनों का कल्याण करता है। इस

१. दातव्यमिति यद्दानं, दीयतेऽनुपकारिणे ।

देशे काले च पात्रे च, तद्दानं सात्त्विकं विदुः ॥ — गीता १७/२०

२. आतिथेयं हितं यत्र, यत्र पात्र परीक्षणं ।

गुणाः श्रद्धादयो यत्र, तद्दानं सात्त्विकं विदुः ॥ — सागरधर्मांमृत ५/४

दान में भक्तिभाव, श्रद्धा, स्नेह, समर्पण भावना, सहानुभूति, आत्मीयता एवं अनुग्रह बुद्धि की प्रबलता होती है और स्वत्वविसर्जन तो होता ही है।

भारतीय इतिहास के स्वर्णपृष्ठों पर राजा रन्तिदेव के जाज्वल्यमान जीवन की एक अत्यन्त प्रेरणादायी घटना है।

भयंकर दुष्काल में मानव अन्न के एक-एक दाने के लिए तरस रहा था। दयालु रन्तिदेव ने अपने अन्न भण्डार प्रजा के लिए खोल दिये और स्वयं के हिस्से का अन्न भी प्रजा को प्राप्त हो, अतः उन्होंने उपवास करना प्रारम्भ कर दिया। ४८ दिन पूरे हो चुके। ४९ वें दिन का प्रारम्भ हुआ, प्रजा और महामन्त्री के अत्यधिक आग्रह से वे पारणा करने के लिए बैठे। प्रजा की दयनीय स्थिति देखकर पारणा करने की इच्छा नहीं थी तथापि उनके आग्रह को सम्मान देने के लिए वे पारणा करने बैठे और मन्त्री ने आधी रोटी का टुकड़ा जो छिपाकर रखा था वह राजा के सामने प्रस्तुत करता है पर उस समय भी राजा सोचता है कि यदि कोई अतिथि आ जाये तो मैं उसे समर्पित करके फिर भोजन करूँ। उसी समय एक दौड़ती हुई महिला आती है जिसका बच्चा कई दिनों से भूखा था और जीवन के अन्तिम क्षणों में गुजर रहा था। महाराजा रन्तिदेव वह रोटी का आधा टुकड़ा उसे दे देते हैं और स्वयं भूखे रह जाते हैं।

रन्तिदेव ने ४८ दिन तक पानी भी नहीं पिया था। महामन्त्री के अत्यधिक आग्रह से वे पानी पीकर पारणा करना चाहते हैं। महामन्त्री ने जो एक प्याला पानी छिपाकर रखा था वह लाकर राजा को दिया। ज्यों ही पानी के प्याले को राजा मुँह के पास ले जाता है उसी समय एक चाण्डाल आता है जिसका कुत्ता पानी के अभाव में छटपटा रहा था राजा उसे वह पानी का प्याला दे देता है।

रन्तिदेव अपनी दिव्य विचारधारा में निमग्न थे तभी देव आकर उनकी उदारता, करुणा, आत्मौपम्य भावना एवं दानवृत्ति की प्रशंसा करते हैं।

संयोगवश रन्तिदेव की इस दानवृत्ति एवं करुणा से ओतप्रोत तपश्चर्या के कारण शीघ्र ही वर्षा हुई और कुछ ही महीनों में राज्य में फैला हुआ दुष्काल नाम शेष हो गया।

यह थी सात्त्विक दान की वृत्ति, जिसे अपनाकर राजा रन्तिदेव कृतकृत्य

हो गये, वे संसार में अजर-अमर हो गये ।

इस प्रकार सात्त्विकदान के दोनों लक्षणों में निम्नलिखित गुण प्रतिफलित होते हैं —

- (१) देश, काल और पात्र का विवेक ।
- (२) दान के बदले किसी भी प्रकार के प्रतिदान की भावना नहीं ।
- (३) अहंकार, अज्ञान, लोभ, स्वार्थ, भय आदि से रहित दान ।
- (४) लेने वाले का हित सोचा जाये ।
- (५) दान के साथ श्रद्धा, भक्ति, विनय, नम्रता आदि गुण हों ।

रन्तिदेव के दान में न्यूनाधिक ये पाँचों गुण थे, इसलिए उसे हम सात्त्विकदान की कोटि में परिगणित कर सकते हैं ।

राजसदान का लक्षण :

सात्त्विक से निम्नकोटि का दान राजस कहलाता है । भगवद्गीता में राजसदान का लक्षण बताया है —

“जो दान क्लेशपूर्वक तथा प्रत्युपकार के प्रयोजन से अर्थात् बदले में अपना सांसारिक कार्य सिद्ध करने की आशा से अथवा फल का उद्देश्य रखकर दिया जाता है, वह दान राजस कहलाता है ।”

राजसदान दान तो है, परन्तु सांसारिक कार्य के प्रयोजन से दिया जाता है । राजसदान में उन सब दानों की गणना हो जाती है, जो किसी प्रसिद्धि, वाहवाही अथवा यशकीर्ति लूटने की दृष्टि से दिया जाता है । ऐसी वृत्ति का व्यक्ति दान तो उतना ही करता है, जितना सात्त्विक वृत्ति का व्यक्ति करता है, लेकिन दोनों के दान के परिणाम में महदन्तर होता है । सात्त्विक दान का फल कर्मों की निर्जरा हो सकता है, जबकि राजसदान का परिणाम फलाकांक्षा युक्त होने से कर्म निर्जरा नहीं होता, अधिक से अधिक पुण्य-प्राप्ति हो सकता है । सात्त्विकदानी प्रसन्न मन से दान देता है, जबकि राजसदानी अप्रसन्नता से, अनमने भाव से, दबाव से या लोभ से देता है । इसीलिए जैनधर्म के महान् विद्वान् पं. आशाधर जी ने राजसदान का लक्षण किया है —

१. यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः ।

दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम् ॥ — गीता, अ. १७ / २१

“जो दान केवल अपने यश के लिए दिया गया हो, जो थोड़े समय के लिए ही सुन्दर और चकित करने वाला हो, जो दूसरों से दिलाया गया हो अथवा दूसरों की वस्तु अपने नाम से दी गई हो, उस दान को राजसदान कहा है।”^१

इस दान का लक्ष्य मुख्यतया अधिकाधिक यश-प्राप्ति या शोभा का दिखावा होता है, इसलिए इसमें दीन-दुःखियों को देने का अवकाश बहुत ही कम होता है। सात्त्विकदान और राजसदान के अन्तर को समझना आवश्यक है।

सात्त्विकदान में भावना है, दूसरे के दुःख में सहानुभूति का कोमल स्वर है, वह उत्साह और सहृदयता से दिया गया है; जबकि राजसदान में दान देने की भावना मरी हुई है। वैगार समझकर, एहसान से, शर्माशर्मी और बहाना बनाकर दिया जाता है। दान क्या, एक प्रकार से आदाता पर एहसान है।

तामसदान का लक्षण :

अब तामसदान की पहचान करें। तामसदान सात्त्विक से तो निकृष्ट है ही, राजसदान से भी निकृष्ट है। इस दान में मनुष्य अपनी इंसानियत खो देता है, अविवेक से देता है, दूसरे को कायल करके देता है, एहसान का बोझ इतना लाद देता है या गर्व का इतना वजन डाल देता है कि लेने वाला बिलकुल दब जाता है। इसीलिए गीता में तामसदान का लक्षण किया गया है —

“जो दान तिरस्कारपूर्वक अवज्ञा करके, अयोग्य देश और काल में, कुपात्रों (माँसाहारी, शराबी, चोर, जार, जुआरी आदि निन्द्य, नीच कर्म करने वालों) को दिया जाता है, वह तामसदान कहलाता है।”^२

तामसदान में तिरस्कार, अपमान एवं अवज्ञा तो होती ही है, साथ ही उस दान में देश, काल और पात्र नहीं देखा जाता, यानी तामसदानी अविवेक और अज्ञान के तमस् से आच्छन्न रहता है। इसीलिए तामसदान को निकृष्ट दान कहा गया है। सागारधर्माभूत (५/४७) में तामसदान का लक्षण किया गया है —

“जिस दान में पात्र-अपात्र का कोई भी विचार न किया गया हो, जिसमें आदाता का कोई सत्कार नहीं किया जाता, जो दान निन्द्य हो और जिसके

१. यदात्मवर्णन प्रायं क्षणिकाहार्यविभ्रम् ।

परप्रत्ययसम्भूतं दानं तद् राजसं मतम् ॥ — सागारधर्माभूत

२. अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते ।

असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम् ॥ — भगवद्गीता, अ. १७, श्लो. २२

सब उद्योग दास और भृत्य से कराये गये हों, ऐसे दान को तामसदान कहा है।”

कठोपनिषद् में एक कथा आती है — नचिकेता की । नचिकेता के पिता वाजिश्रवा ऋषि ने एक बार दान देने का विचार किया । उसने सोचा — “ये बूढ़ी गायें न तो दूध देती है और न ही बछड़ा-बछड़ी देती है, न ही और किसी काम में आती है । उलटे, इनके लिए चरने की व्यवस्था करनी पड़ती है । अतः क्यों न इन्हें ऋषियों को दान में दी जायें, जिससे दान का पुण्य भी मिलेगा और इन्हें चराने एवं संभालने की झंझट से भी छुट्टी मिल जायेगी ।” यह सोचकर वाजिश्रवा बूढ़ी गायें ऋषियों को दान देने लगा । नचिकेता समझदार बालक था । उसने पिताजी को बूढ़ी गायें दान में देते देखकर कहा — “पिताजी ! आप यह क्या कर रहे हैं ? इन बूढ़ी गायों को दान में क्यों दे रहे हैं ? अगर दान ही देना हो तो अच्छी दुधारू गाये दान में दें ।” इस पर नचिकेता का पिता उस पर बहुत रुष्ट हो गया । पिताजी ने नचिकेता को फटकार दिया — “बेटा ! तू क्या समझता है, इन बातों में ! ये गायें एक दिन यों ही मर जायेंगी, इसकी अपेक्षा मैं इन्हें पहले से ही दान में दे दूंगा तो दान का पुण्य भी मिलेगा और इनके पालन-पोषण की झंझट से भी मुक्ति मिल जायेगी ।”

नचिकेता के गले पिता की बात नहीं उतरी । उसने झुंझलाकर पिता से कहा — “पिताजी ! मुझे आप किसको देंगे ?” पिताने कहा — “तुझे मैं यम को देता हूँ ।”

नचिकेता पिता की बात से नाराज नहीं हुआ । कहते हैं, वह सीधा यमराज के द्वार पर पहुँच गया ।

नचिकेता के पिता द्वारा वृद्ध गायों का दान वास्तव में तामसदान था । क्योंकि वह अनुपयोगी देय वस्तु देकर बला टालना चाहता था ।

दूसरी विशेष बात इस लक्षण में बताई गई है कि वह दान तिरस्कारपूर्वक दिया गया हो, मन में आदाता के प्रति दाता की बिल्कुल श्रद्धा या भावना न हो । कई दफ्तर ऐसा तामसदानी तिरस्कृत भाव से ऐसी चीज आदाता को दे देता

१. पात्रापत्रसमावेक्षमसत्कारमसंस्तुतम् ।

दासभृत्यकृतोद्योगं दानं तामसमूर्चिरे ॥ — सागरधर्मामृत ५/४७

है, जो दिखने में तो बहुत ही अच्छी और स्वादिष्ट लगती है, परन्तु वह आदाता के प्राण संकट में डाल देती है।

जैनशास्त्र ज्ञाताधर्मकथांगसूत्र में इस विषय में एक सुन्दर उदाहरण दिया गया है —

नागश्री एक सम्पन्न ब्राह्मण परिवार की गृहिणी थी। वह बाहर से जैसी सुन्दर और सुघड़ लगती थी, वैसी हृदय से नहीं थी। उसके मन में सदा यही भावना रहती थी कि “मैं घर में सबसे अधिक सुघड़ कहलाऊँ और परिवार के सब लोग मुझे श्रेष्ठ महिला कहें।” धर्म-कर्म में उसकी बिल्कुल रुचि नहीं थी और न ही साधु-सन्तों पर उसकी कोई श्रद्धा थी। वह अविचेकी और आलसी थी।

एक दिन घर में रसोई बनाने की उसकी बारी थी। अपने को अधिक चतुर कहलाने की दृष्टि से उसने खूब मिर्च-मसाले डालकर छौंक देकर स्वादिष्ट व्यंजन बनाया। उसने बनाया तो था तरबूज का शाक समझकर, किन्तु ज्यों ही उसने जरा-सा हाथ में लेकर व्यंजन को चखा तो, त्यों ही अत्यन्त कड़वा तुम्बे का शाक प्रतीत हुआ। वह मन ही मन बहुत भयभीत हुई और सोचा — “इसे फेंक देने से तो मेरी बहुत बड़ी तौहीन होगी, परिवार के मुखिया की डांट भी सहनी होगी, इसे अगर कोई ले जाये तो उसे सारा का सारा दे दूँ।” उसके भाग्य से उसी दिन धर्मरुचि नामक मासिक उपवास के तपस्वी अनगार भिक्षा के निमित्त नागश्री के यहां अनायास ही पहुंच गये। नागश्री की श्रद्धा तो मुनिराज पर नहीं थी, किन्तु उसे तो वह शाक किसी तरह देकर बला टालनी थी। अतः नागश्री ने मुनिराज की खूब आवभगत की। उन्हें सत्कारपूर्वक अपने रसोईघर में ले गई और मुनि ने ज्यों ही आहार लेने के लिए पात्र नीचे रखा, नागश्री ने मुनिराज के बस-बस कहते-कहते सारा का सारा वह कड़वे तुम्बे का शाक मुनि के पात्र में उंडेल दिया। मुनिवर समभाव से वह आहार लेकर अपने स्थान पर पहुँचे। नागश्री ने सोचा — “धूरे पर डालने से तो अच्छा है, साधु के पात्र में डाल दिया मैंने। कौन किसको कहता है? अगर साधु का कुछ हो गया तो भी यह साधु किसी का नाम लेंगे नहीं? इसलिए मेरा बचाव भी हो जायेगा। साधु का हो सो हो। मैं क्या करूँ?”

धर्मरुचि ने ज्यों ही लाये हुए आहार का पात्र अपने गुरु को दिखाया, त्यों ही गुरु ने देखते ही कहा — “वत्स ? यह तो कड़वे तुम्बे का शाक है। इसे तुम गाँव के बाहर ले जाकर निरवद्य स्थान में सावधानी से डाल आओ।” परन्तु धर्मरुचि अनगार ने गाँव के बाहर जीवजन्तु से रहित निरवद्य स्थान देखकर ज्यों ही एक बूँद शाक के रस की डाली, त्यों ही वहाँ हजारों चींटियाँ आ गई। मुनिवर ने सोचा — “ओ हो ! यह तो बड़ा अनर्थ होगा, मेरे निमित्त से ये चींटियाँ मर जायेंगी इससे तो अच्छा है, मैं ही इस आहार को उदरस्थ कर जाऊँ। मेरे उदर से बढ़कर निरवद्य स्थान कौन-सा होगा ?” बस मुनिवर ने वह कड़वे तुम्बे का शाक उदरस्थ कर लिया। कुछ ही समय में मुनिवर के शरीर में विष ने प्रभाव डालना शुरु किया। समभाव से वेदना सहकर मुनि ने अपना शरीर छोड़ा।

यहाँ यद्यपि नागश्री ने दान एक उत्कृष्ट पात्र को दिया था, किन्तु भावना खराब थी और वस्तु भी घृणित थी, इसलिए वह तामस हो गया।

इस प्रकार ये तीनों प्रकार के दान, दान भावना और व्यवहार की दृष्टि से उत्तम, मध्यम और जघन्य हैं। यही बात सागरधर्मामृत में स्पष्ट कही है — “सात्त्विकदान सर्वोत्तम है, उससे निकृष्ट दान राजसदान है और सब दानों में तामसदान जघन्य है।”^१

१. उत्तमं सात्त्विकं दानं, मध्यमं राजसं भवेत् ।

दानानामेव सर्वेषां, जघन्यं तामसं पुनः ॥ — सागरधर्मामृत ५/४७

सप्तम अध्याय

दान के भेद-प्रभेद

एन्द्रशर्मप्रदं दानमनुकम्पासमन्वितम् ।

भक्त्या सुपात्रदानं तु मोक्षदं देशितं जिनैः ॥१॥^१

— “अनुकम्पायुक्त दान इन्द्र संबंधी सुख प्रदान करता है । भक्ति से युक्त सुपात्रदान तो मोक्ष प्रदान करता है” – ऐसा जिनेश्वर भगवंतों ने कहा है ।

उपाध्याय श्री यशोविजयजी ने दान के दो भेद बताएँ हैं ।

सुपात्रदान और अनुकम्पा दान । पहले हम सुपात्रदान पर विचार करेंगे ।

(1) सुपात्रदान

रत्नसार में बताया गया है कि सत्पुरुषों को यथाविधि दिया गया दान कल्पवृक्ष के समान फलप्रद होता है और कुपात्रों को दिया गया दान शव के विमान को श्रृंगारित करने के समान शोभा देने वाला यानी क्षणिक कीर्ति दिलाने वाला होता है, विशेष लाभ के कारण नहीं होता ।

सागर धर्मांमृत में बताया गया है कि- जो आहार गृहस्थ ने स्वयं अपने लिए बनाया हो, जो प्रासुक हो या त्रस एवं स्थावर जीवों से रहित हो, ऐसे भक्त-पानादि को गृहस्थ के द्वारा दिये जाने पर आत्म-कल्यार्थ ग्रहण करने वाला महाव्रती साधु केवल अपना ही नहीं, अपितु उस दाता का भी कल्याण करता

१. द्वात्रिंद् - द्वात्रिंशिका. श्लोक १

२. यद्भक्तं गृहिणाऽत्मने कृतमपैतैकाक्षणीवं त्रसैर,
निर्जीवैरपि वर्जितं तदशनाद्यात्मार्थसिद्धयै यतिः ।
युञ्जनुद्धरति स्वयमेव, न परं किं, तर्हि सम्यग्दृशम्,
दातारं ह्युशिवश्रिया च युङ्क्ते भोगैश्च मिथ्यादृशम् ॥

—सागरधर्मांमृत, अ.५, श्लोक ६६

है। यदि दाता सम्यग्दृष्टि है तो उसे स्वर्ग या मोक्षरूपी लक्ष्मी के योग्य बना देता है और यदि दाता मिथ्यादृष्टि है तो उसे अभीष्ट विषयी की प्राप्ति करा देता है।^१

सुपात्रदान के फल के विषय में एक संवाद है - भंते ! श्रमणोपासक (श्रावक) यदि तथारूप श्रमण-माहन को प्रासुक-एषणीय आहार देता है, तो उसे क्या लाभ होता है ?^२

गौतम ! वह एकान्त (सर्वथा) कर्मनिर्जरा (कर्मक्षय) करता है, लेकिन किञ्चित्मात्र भी पापकर्म का बन्ध नहीं करता।

एक जैनाचार्य सिन्दूरप्रकरण (७७)में भी इसी बात का समर्थन करते हैं - सुपात्र को दिया हुआ पवित्र धन (द्रव्य) मुक्तिरूपी लक्ष्मी को देने वाला होता है।^३

अभिदान राजेन्द्रकोष^४ के अनुसार सामान्य रूप से सुपात्र को दान देकर दाता पुष्यानुबन्धी पुण्य का उपार्जन करता है, किन्तु पापानुबन्धी पुण्य या पापानुबन्धी पापकर्म का बन्ध नहीं करता, बल्कि पूर्वबद्ध पापकर्म से मुक्त हो जाता है।

भगवती सूत्र में भगवान महावीर और गौतम का इस सम्बन्ध में एक और संवाद मिलता है। गौतम गणधर भगवान महावीर से पूछते हैं - 'भगवन् ! जीव शुभ (सुखोपभोग सहित, अकाल मृत्यु से रहित) दीर्घ आयुष्य किन-किन कारणों से प्राप्त करता है ?' इसके उत्तर में वे जवाब देते हैं - 'गौतम ! जो व्यक्ति जीवहिंसा नहीं करता, असत्य नहीं बोलता, श्रमण-श्रावकों का गुणानुवाद या सत्कार-सम्मान करता है, उन्हें मनोज्ञ पथ्यकारक भोजन-पानी, पकवान, मुखवास आदि चतुर्विध आहार देता है; वह सुखपूर्वक पूर्ण करने योग्य दीर्घायु

१. समणोवासगस्सणं भंते ! तहारूवं समणं वा

माहणं वा फ़सुएसणिज्जेण असण-पाण-खाइम-साइमेणं

पडिलाभेमाणस्स कि कज्जइ ? - भगवतीसूत्र ८/६

२. निर्वाणश्रियमातनोति निहितं पात्रे पवित्रं धनम् । - सिन्दूरप्रकरण ७७

३. शुद्धं दत्त्वा सुपात्राय सानुबन्धशुभ्रर्जनात् ।

सानुबन्धं न बध्नाति, पापबद्धं च मुञ्चति ॥

भवेत्पात्रविशेषे वा कारणे वा तथाविधे ।

अशुद्धस्यापि दानं हि, द्वयोर्लाभायनान्यथा ॥ - अभिधानराजेन्द्रकोष, पृष्ठ २४९८

प्राप्त करता है।^{१९}

सूत्रकृतांग में बताया है कि श्रमण निर्ग्रन्थों का शुद्ध निर्दोष आहार आदि १४ प्रकार का दान देनेवाला सद्गृहस्थ दाता (श्रमणोपासक) आयुष्य पूरा होने पर स्वर्ग में महान ऋद्धि सम्पन्न सुख-वैभवशाली देवता होता है।^२

जिन जीवों ने एक बार भी सुपात्र को आहारदान दिया है, वे मिथ्यादृष्टि होते हुए भी भोगभूमि के सुखों का उपभोग कर स्वर्ग सुख को प्राप्त करते हैं। सुपात्र के फल के सम्बन्ध में अनेक उदाहरण मिलते हैं, यहाँ एक उदाहरण प्रस्तुत करते हैं -

महाविदेह क्षेत्र में हर समय तीर्थंकर विद्यमान रहते हैं। उनके अनुयायी श्रमण-श्रमणी भी रहते हैं। एक बार मुनियों का एक समुदाय विहार करता हुआ चला जा रहा था। उनमें से एक मुनि पीछे रह गये। वे मार्ग भूल गये। पशुओं के पद-चिन्हों को देखते-देखते वे चलने लगे। परन्तु आगे जाकर वह रास्ता भी बन्द हो गया। मुनि एक भयंकर जंगल में फँस गये। रास्ता भूल जाने की परेशानी के साथ ही असह्य गर्मी के कारण उनका कण्ठ प्यास से सूखा जा रहा था। निर्जन वन में कोई मनुष्य भी नहीं दिखाई दे रहा था, जिससे वे रास्ता पूछ ले। मुनि ने सोचा - "अब यह शरीर रहने वाला नहीं। इसलिए समाधिमरणपूर्वक ही इसे छोड़ना उत्तम है।" इतने में अचानक एक बड़ई उधर से निकला। उसने भयंकर वन में मुनि को देखा तो सोचा - "यहाँ यह मुनि कैसे बैठें है?" देखते ही उसका हृदय हर्षित हो उठा। पास में आकर वन्दन करके बोला - 'स्वामिन् ! आप यहाँ कैसे पधार गये ? पधारिए मेरे साथ शुद्ध आहार-पानी ग्रहण करिए।' मुनि बोले - "भाई ! मैं रास्ता भूल गया। इस घोर जंगल में फँस गया। तुम कौन हो ? और यहाँ कैसे आए ?" बड़ई बोला - "मुनिवर ! मैं बड़ई हूँ। यहाँ जंगल में लकड़ियाँ काटने आया हूँ। मेरे साथ बहुत बड़ा काफला है। आप मेरे डेरे पर पधारिये और अपने लिए हुए हमारे भोजन में से कुछ ग्रहण कीजिए।"

१. कहणं भन्ते ! जीवा सुभदीहाउयत्ताए कम्मं पकरेति ?

गोयमा ! नो पाणे अइवाइ वा, नो मुसं वाइवा, तहारूवं समणं वा मांहणं वंदिता जाव पज्जुवासित्ता जाव अन्नयरेणं पीइकाररणं असणं पाणं खाइमं पडिलाभित्ता एवं खलु जीवा जाव पकरेति - भगवतीसूत्र श. ५ उ. ६

२. महड्डिएसु महज्जइएसु जाव महासुक्खेसु..... । -सूत्रकृतांग २/२/३९

मुनि उनके डेरे पर पहुँचे और बढ़ई ने भक्तिभावपूर्वक आहार-पानी दिया। दान के बदले में उसे कुछ भी पाने की भावना न थी। मुनि ने आहार किया और पेड़ के नीचे बैठकर उस श्रद्धालु बढ़ई को उपदेश दिया। उपदेश क्या था- शरीर और आत्मा के भेदविज्ञान का बोध था - "त्याग में ही सुख है, तृष्णा में दुःख है। आत्मा को समझकर अपने आत्मस्वरूप में रमण करने से ही भवभ्रमण मिट सकता है। जहाँ राग-द्वेष है, वहाँ अधर्म है, वीतरागता ही धर्म है। समस्त प्राणियों को आत्मभूत समझो। किसी भी जीव की हिंसा, असत्य, चोरी आदि करना अपने पैरों पर कुल्हाड़ी मारना है --" मुनि का उपदेश सुनते-सुनते बढ़ई तन्मय हो गया। वह उनकी हितैषिता, निःस्पृहता, त्यागभाव, अपरिग्रहवृत्ति आदि पर मुग्ध हो गया। मन ही मन कहा- "सच्चे साधु तो ये हैं जो बिना कुछ पैसा लिए यथार्थ मार्ग बताते हैं।" अतः भावविभोर होकर बढ़ई ने कहा- "पधारो मुनिराज ! मैं आपके साथ रास्ता बताने चल रहा हूँ। यह पहाड़ी मार्ग है। बिना बताए आप पार नहीं कर सकेंगे।" मोक्षमार्ग बताने वाले मुनि को द्रव्यमार्ग बताने बढ़ई साथ में चला। काफ़ी दूर चलने के बाद मुनि ने कहा- "भाई ! अब आगे मैं स्वयं चला जाऊँगा। अब तुम्हें मेरे साथ आने की जरूरत नहीं, वैसे मैं भी तुम्हें संसारसागर से तिरने का मार्ग बताता हूँ। सम्यग्दर्शनरूपी बीज देता हूँ। इसे सुरक्षित रखना। इससे तुम्हारा भवभ्रमण मिट जाएगा, हृदय में सुदेव, सुगुरु और सुधर्म की शरण लेना, तुम्हारा उद्धार हो जाएगा।" मुनि ने बोध देकर बढ़ई के हृदय में सुधर्म के बीज बो दिये।

इस सुपात्रदान के फलस्वरूप बढ़ई सम्यग्दर्शन पाकर वहाँ से शरीर छोड़कर वैमानिक देव बना। फिर देवलोक से च्यवन कर भगवान ऋषभदेव के पौत्र के रूप में उस बढ़ई के जीव ने जन्म लिया। भरत चक्रवर्ती का पुत्र मरीचिकुमार बना। यह कालचक्र के तीसरे आरे की बात है। एक दिन भगवान ऋषभदेव से भरत चक्रवर्ती ने पूछा- "भगवन् ! इस धर्म परिषद् में क्या कोई योग्यतम महापुरुष है ?" परिषद् के बाहर तुम्हारा पुत्र मरीचिकुमार मेरे ही समान चौबीसवाँ तीर्थंकर बनेगा।" यह है सुपात्रदान का फल। इसी प्रकार भगवान ऋषभदेव को एक वर्ष के दीर्घकालीन अभिग्रह (तप) के पारणे में इक्षुरस का दान श्रेयांसकुमार (उन्हीं के पौत्र) ने दिया था, जिसका महाफल भी उन्हें प्राप्त हुआ।

आचार्यों ने सुपात्रदान का विविध फल बताते हुए कहा — अच्छे माता-पिता, पुत्र, स्त्री, मित्र आदि कुटुम्ब-परिवार का सुख और धन-धान्य, वस्त्र-अलंकार, हाथी, रथ, महल तथा महाविभूति आदि का सुख सुपात्रदान का फल है। सात प्रकार के राज्यांग, नौ निधियाँ, चौदह रत्न, माल, खजाना, गाय, हाथी, घोड़े, सात प्रकार की सेना, षट्खण्ड का राज्य और ९६ हजार रानियाँ, ये सब सुपात्रदान के ही फल हैं। उत्तमकुल, सुन्दररूप, शुभलक्षण, श्रेष्ठ तीक्ष्ण बुद्धि, उत्तम निर्दोष शिक्षण, उत्तम शील, उत्कृष्ट गुण, सम्यक् चारित्र, शुभ लेश्या, शुभ नाम और समस्त प्रकार के भोगोपभोग की सामग्री आदि सब सुख के साधन सुपात्रदान के फलस्वरूप प्राप्त होते हैं — वास्तव में सुपात्र दान का फल महापुण्य के रूप में मिलता ही है, किन्तु कर्मों की महान निर्जरा (कर्मक्षय) के फलस्वरूप एक दिन मोक्ष भी प्राप्त हो सकता है।

(ii) अनुकम्पादान : स्वरूप और उद्देश्य

स्थानांगसूत्र में दस प्रकार के दानों की एक संग्रहणी गाथा दी गई है, वह इस प्रकार है —

अणुकंपा संगहे चैव, भये कालुषितेति य ।

लज्जाते गारवेणं च, अधम्मे पुण सत्तमें ।

धम्मे य अट्टमे वुत्ते, काहीति य कर्तति य ॥^१

दान के दस भेद हैं — (१) अनुकम्पादान, (२) संग्रहदान, (३) भयदान, (४) क्लरुण्यदान, (५) लज्जादान, (६) गौरवदान, (७) अधर्मदान, (८) धर्मदान, (९) करिष्यतिदान, और (१०) कृतदान ।

सर्वप्रथम अनुकम्पादान है । वास्तव में दान का मूलाधार ही अनुकम्पा है । अनुकम्पा दान का प्राण है । जब किसी दुःखी या पीड़ित प्राणी के प्रति अनुकम्पा जागती है, सहानुभूति पैदा होती है, सहृदयता का प्रादुर्भाव होता है, आत्मीयता की संवेदना होती है, तो सहसा कुछ सहायता करने की हृदय में भावना उद्भूत होती है, उसे कुछ दे देने के लिए मन मचल उठता है, उस दीन-हीन, पीड़ित व्यक्ति के दुःख को अपना दुःख समझकर उस दुःख को निकालने की तीव्र उत्कण्ठा जागती है, उसे अनुकम्पादान कहते हैं । आचर्य श्री उमास्वातिजी ने अनुकम्पादान का स्पष्ट लक्षण बताया है —

“कृपेणऽनाथदरिद्रे, व्यसनप्राप्ते च रोगशोकहते ।

यदीयते कृपार्थादनुकम्पात् तद्भवेद् दानम् ॥”

अनुकम्पादान वह है, जो कृपण (दयनीय), अनाथ, दरिद्र, संकटग्रस्त, रोगग्रस्त एवं शोक पीड़ित व्यक्ति को अनुकम्पा लाकर दिया जाता है । तात्पर्य यह है कि जो दान अपनी अपेक्षा अधिक दुःखी के दुःख को देखकर अनुकम्पा भाव से दिया जाता है, वह अनुकम्पादान है । इसे दूसरे शब्दों में करुणायुक्त दान, दयापूर्वक दान या सहानुभूतियुक्त दान भी कहा जा सकता है । अनुकम्पादान भी तभी सफल होता है, जबकि उसमें जाति, कुल, धर्म, सम्प्रदाय, प्रान्त, राष्ट्र आदि

के भेदों से ऊपर उठकर दिया जाए। अनुकम्पादान के घेरे में सभी प्राणी आ जाते हैं, जो संकट, आफत या दुःख में पड़े हों। क्योंकि अनुकम्पादान का अर्थ ही यही है 'किसी प्राणी को संकट, आफत या दुःख में पड़ा देखकर तदनुकूल कम्पन, सहानुभूति या करुणा पैदा होना और उसके दुःख को अपना दुःख समझकर उसके दुःख निवारण के लिए दान देना।'

कोई भी व्यक्ति चाहे वह अधिक सम्पन्न हो या कम, अपने जीवन में सद्गुणों का विकास करने के लिए उसे अनुकम्पादान को अपनाना आवश्यक है अन्यथा वह व्यक्ति, परिवार, जाति या समाज संस्कारहीन, गुणों से रिक्त एवं पशुमय जीवन से युक्त होगा। किसी भी सम्पन्न व्यक्ति द्वारा सहायता की आशा या अपेक्षा दीन-हीन, दुःखी और पीड़ित आदि को ही तो होती है, किसी साधन-सम्पन्न, सत्ताधारी या धनाढ्य को सम्पन्न व्यक्ति द्वारा सहायता या दान की अपेक्षा, आशा या आवश्यकता नहीं होती, बल्कि सम्पन्न को देने से देय वस्तु का दुरुपयोग ही होता है। सम्पन्न को देने से न तो करुणा, दया, अनुकम्पा, सहानुभूति, उदारता या आत्मीयता का गुण ही विकसित होगा और न पुण्योपार्जन ही होगा। कहा भी है —

“वृथा वृष्टिः समुद्रेषु, वृथा तृषेषु भोजनम् ।

वृथा दानं समर्थस्य, वृथा दीपो दिवाऽपि च ॥”

— समुद्रों में पानी लबालब भरा रहता है, वहाँ वृष्टि वृथा है। जिन्होंने छककर भोजन कर लिया है, उन्हें और भोजन खिलाना वृथा है। दिन में सूर्य का प्रकाश होने पर भी दीपक जलाना व्यर्थ है। जो स्वस्थ है, उसे औषध देना भी फिजूल है। इसी प्रकार जो धन, साधन आदि सब बातों से समर्थ हैं, उन्हें दान देना भी व्यर्थ है।

भारतीय संस्कृति के मूर्धन्य ग्रन्थ महाभारत में भी यही बात बताई गई है —

“मरुस्थल्यां यथावृष्टिः क्षुधार्ते भोजनं यथा ।

दरिद्रे दीयते दानं, सफले पाण्डुनन्दन !

दरिद्रान्धर कौन्तेय ! मा प्रयच्छेश्वरे धनम् ।

व्याधितस्यौषधं पथ्यं निरुजस्य किमौषधम् ॥”

— जैसे मरुभूमि में वर्षा सार्थक है, जो भूखा हो उसे भोजन देना सार्थक है, वैसे ही जो दीन, दुःखी, पीड़ित या दरिद्र हैं, उन्हें दान देना सार्थक होता है। हे अर्जुन ! दरिद्रों को सहायता देकर उनका पोषण कर। जो समर्थ हैं, सम्पन्न हैं, उन्हें धन न दे। औषध रोगी को ही दी जाती है, जो निरोग है, उसे औषध देने से क्या लाभ है ?

निष्कर्ष यह है कि दान तभी सफल है, जब वह दीन, दुःखी, पीड़ित या अभावग्रस्त को दिया जाता है। वास्तव में सम्यग्दृष्टि भी वही है, जिसका हृदय दीन-दुःखी को देखकर अनुकम्पा से भर आता हो और जिसका हाथ उन्हें दान देकर उनके कष्ट निवारण के लिए तत्पर हो उठता है।

ईश्वरचन्द्र विद्यासागर कलकत्ता के बड़ा बाजार से होकर कहीं जा रहे थे कि अचानक रास्ते में उन्हें एक १४-१५ साल का लड़का मिला। वह फटेहाल था। पैर में जूते नहीं थे। चेहरे पर बहुत उदासी थी, मानो उसे चिन्ताओं ने घेर रखा हो। उसने ईश्वरचन्द्र विद्यासागर के सामने हाथ पसारते हुए दीनता भरे स्वर में कहा — “कृपा करके मुझे एक आना दीजिए, मैं दो दिन से भूखा हूँ।” उसकी दयनीय दशा देखकर ईश्वरचन्द्र के मन में सहानुभूति जागी। उन्होंने अनुकम्पा से प्रेरित होकर उस लड़के से पूछा — “अच्छा, मैं तुम्हें एक आना दूँगा, पर कल क्या करोगे ?”

लड़के ने उत्तर दिया — “कल ? कल फिर दूसरे से....।”

“और चार आने दूँ तो क्या करेगा ?” ईश्वरचन्द्र ने लड़के से पूछा।

“तो उनमें से एक आने का खाना पेट में डालूँगा, बाकी के तीन आने से सन्तरे लाकर बेचूँगा।” लड़के ने कहा। ईश्वर—“और एक रुपया दूँ तो ?”

“तो फिर व्यवस्थित रूप से फेरी करूँगा।” लड़के ने प्रसन्न होकर कहा।

विद्यासागर ने उसे एक रुपया दिया।

वह लड़का उस रुपये से सौदा लाकर रोजी कमाने लगा। एक दिन वह अपनी दुकान पर बैठा था, तभी उसकी दृष्टि विद्यासागर पर पड़ी। वह उन्हें दुकान पर बुला लाया और नमस्कार करके कहा — “साहब ! आपने मुझ पर जो

उपकार किया, उसे मैं कभी भूल नहीं सकता। यह लीजिए आपका एक रुपया।”

विद्यासागर ने हँसते हुए कहा - “भाई ! इसमें आभार मानने की कोई जरूरत नहीं, एक देशवासी के नाते मेरा यह कर्तव्य था। मेरा दान सार्थक हुआ, तुम्हें पाकर। अब तुम्हें यह रुपया लौटाने की आवश्यकता नहीं। किसी योग्य, दुःखित और दयनीय पात्र को देकर तुम भी अपने जीवन एवं दान को सार्थक करना !” कृतज्ञता से उसकी आँखों में हर्षाश्रु उमड पड़े।

यह है अनुकम्पा दान की सार्थकता। वास्तव में अनुकम्पादान हर हालत में सार्थक होता है। वह निष्फल तो तब होता है, जब उसमें देश, काल और पात्र का विवेक नहीं होता। जिस दान के पीछे संकीर्ण वृत्ति हो, बदले की भावना हो, फलाकांक्षा या स्वार्थपूर्ति की लालसा हो, दान देकर चित्त में संक्लेश होता हो या अनादर और अवज्ञा के साथ जो दान दिया जाता है, वह सार्थक नहीं होता।

यहाँ यह शंका होती है कि अनुकम्पादान अनुकम्पनीय व्यक्तियों के प्रति होता है, किन्तु निःस्पृही, त्यागी संत, मुनिराज जो अनुकम्पनीय नहीं, अपितु श्रद्धेय अथवा आदरणीय, उपास्य, भक्ति के योग्य होते हैं, उनको दान देना योग्य है या नहीं ? उनको अनुकम्पापूर्वक दान देने वाला व्यक्ति अनुकम्पादान का फल भागी हो सकता है ? वास्तव में इस शंका का समाधान सहज ही हो जाता है कि अनुकम्पादान के योग्य पात्रों को अनुकम्पापूर्वक दान देना उचित है; किन्तु जो अनुकम्पनीय नहीं, अपितु श्रद्धेय हैं, सुपात्र हैं, उन्हें उपास्य या श्रद्धेय हों तो गुरुबुद्धि से दान देना उचित है, किन्तु जो अपने उपास्य या श्रद्धेय न हों उनके तप-त्याग, निःस्पृहता या आचार-विचार का पता न हो अथवा जिनका आचार-विचार दूषित हो, व्यवहार अशुद्ध हो, राजसी ठटबाट से रहते हों, उनके प्रति घृणा तो नहीं होनी चाहिए, किन्तु गुरुबुद्धि से दान देना लाभदायक नहीं होता। ऐसा दान अनुकम्पादान की कोटि में नहीं आता। इसीलिए अभिधान राजेन्द्रकोष में स्पष्ट बताया है १—

१. अनुकम्पाऽनुकम्प्ये स्यात् भक्तिः पात्रे तु संगता।

अन्यथाधीस्तु दातृणामतिचारप्रसंजिका ॥ - अभिधान राजेन्द्रकोष

— अनुकम्पा के योग्य व्यक्ति पर अनुकम्पा करके दान देना चाहिए, जो अनुकम्पनीय नहीं है, किन्तु सुपात्र हैं, उनके प्रति भक्ति करके दान देना समुचित फल देने वाला है। अगर अनुकम्पा के योग्य पात्र को कोई भक्तिपूर्वक दान देता है और जो भक्ति के योग्य हैं, उनके प्रति अनुकम्पा करके दान देता है तो उसका दान अतिचार (दोष) से पूर्ण है।

प्रश्न होता है, क्या श्रावक के लिए संयमी के सिवाय और किसी को अनुकम्पा लाकर दान देना निषिद्ध है? अथवा व्रती के सिवाय और किसी को अनुकम्पापूर्वक दान देने से क्या श्रावक को मिथ्यात्व लग जाता है या उसका सम्यक्त्व भंग हो जाता है? इसके समाधान में जैनशास्त्र एक स्वर से कहते हैं कि इस प्रकार से अनुकम्पा के पात्र व्यक्ति को अनुकम्पा लाकर दान देना कहीं वर्जित नहीं है। अगर ऐसा वर्जित होता तो स्वयं तीर्थंकर भगवान एक वर्ष तक लगातार दान देते हैं, वह क्यों देते? वे स्वयं भी उस कार्य को क्यों करते, जिस कार्य के लिए वे दूसरों को मना करते हैं? क्योंकि श्रेष्ठ पुरुष जो आचरण करता है उसी का अनुसरण उसके अनुगामी करते हैं, यह भगवद्गीता की उक्ति प्रसिद्ध है।

भगवान महावीर ने एक वर्ष तक लगातार दान दिया और उस दान को लेने वाले कोई असंयती अव्रती भी होंगे। क्या सभी श्रावक या साधु ही उस दान के ग्राहक थे? ऐसा नहीं हो सकता। अगर ऐसा होता तो भगवान महावीर दीक्षा लेने के बाद अपने कन्धे पर पड़े हुए देवदूध वस्त्र को आधा फाड़कर दीन-हीन ब्राह्मण को भी न देते। परन्तु तीर्थंकरों ने कभी किसी अनुकम्पनीय के लिए (फिर वह चाहे श्रावक या साधु हो या न हो) अनुकम्पा लाकर दान देने का निषेध नहीं किया है। इसी आशय को निम्नलिखित गाथा स्पष्ट प्रकट करती है —

“सव्वेहिं पि जिणेहिं दुज्जयतियराग दोसमोहेहिं ।

अणुकम्पादाणं सड्ढयाणं न कहिं विपडिसिद्ध ॥”

१. यद् यदाचरति श्रेष्ठस्तत् तदेवेतरो जनः ।

स यत् प्रमाणं कुरुते, लोकस्तदनुवर्तते ॥ — भगवद्गीता

— दुर्जय राग-द्वेष मोह की त्रिपुटी के विजेता समस्त जिनेन्द्र भगवन्तों ने श्रद्धालु श्रावकों के लिए अनुकम्पादान का कहीं निषेध नहीं किया है ।

इसी कारण जैन शास्त्रों में उल्लेख है कि श्रावकों के घर के द्वार दान देने के लिए खुले रहते थे । 'अवंगुय दुवारे' उनके गृहद्वार सदा अर्ध-खुले रहते थे, ऐसा कहा है । अगर श्रावकों के लिए साधु के सिवाय किसी को दान देना वर्जित होता तो वे घर के दरवाजे क्यों खुले रखते ! बल्कि वे भोजन करते समय भी घर के द्वार बन्द करके नहीं बैठते थे । यही बात अभिधान राजेन्द्रकोष में एवं प्रवचनसारोद्धार में स्पष्ट कहीं है —

“नेवदारं पिहावइ, भुजमाणो सुसावओ ।

अणुकम्पा जिणंदेहि सुइढाणं न निवारिआ ॥”

— सुश्रावक भोजन करते समय घर का द्वार कभी बन्द नहीं करता था और न उसे करना ही चाहिए, क्योंकि जिनेन्द्र भगवन्तों ने श्रावकों - श्रमणोंपासकों के लिए अनुकम्पादान कहीं वर्जित नहीं किया । यही कारण है कि भगवान् पार्श्वनाथ के शिष्य श्री केशीश्रमण के सामने जब राजा प्रदेशी के हृदय-परिवर्तन हो जाने पर और उनसे व्रत ग्रहण करके विदा होते समय उसके द्वारा अपनी राज्यश्री के चार भाग करके एक भाग को दीन, दुःखी अनाथों को दान देने के लिए रखने का संकल्प किया तो केशीश्रमण ने प्रदेशी राजा से उसी समय निम्नोक्त उद्गार कहा है, जो राजप्रश्नीयसूत्र में अंकित है —

“माणं तुमं पएसी ! पुर्व्वि रमणिज्जे भविता पच्छ

अरमणिज्जे भविज्जासि ।”

— राजन् प्रदेशी ! तुम पहले रमणीय हो जाने के बाद अरमणीय मत हो जाना । अगर श्रावकव्रती के लिए किसी दीन-दुःखी, अपाहिज, अन्धे, अभावग्रस्त आदि अनुकम्पनीय को दान देना वर्जित होता तो केशीश्रमण यों क्यों कहते ? उन्होंने ऐसा कहकर तो प्रदेशी राजा के दान के संकल्प पर अपनी मुहर-छाप लगा दी है ।

कोई कह सकता है कि यदि अनुकम्पादान का इतना माहात्म्य है तो फिर पात्र, सुपात्र, विशिष्टपात्र, अपात्र और कुपात्र आदि को दान देने से फल में अन्तर क्यों बताया ? फल में अन्तर बताया है, इससे मालुम होता है, अनुकम्पादान

का इतना महत्त्व या फल नहीं है, जितना महत्त्व और फल सुपात्रदान का है।

इसका समाधान यह है कि पात्रादि के भेद से दान के फल में जो अन्तर बताया गया है वह तो व्यवहार दृष्टि से बालजीवों को उच्च कोटि के दान का स्वरूप और महत्त्व समझाने के लिए बताया है, किन्तु अनुकम्पादान आदि का निषेध करने की दृष्टि से नहीं। यह भेद सिर्फ व्यवहारनय की दृष्टि से ही बताया गया है, निश्चयनय की दृष्टि से तो दान के पीछे भावों की विचित्रता ही देखी जाती है, भावों की विविधता के कारण ही फलों की विविधता है।

एक दूसरा सवाल खड़ा होता है कि कोई करुणामूर्ति दयालु सद्गृहस्थ दानशाला, धर्मशाला आदि बनाता है अथवा भोजनशाला खोलता है उसका वह दान क्या अनुकम्पादान नहीं माना जाएगा ? इस पर ग्रन्थकार गहराई में उतरकर जवाब देते हैं —

“पुष्टालम्बनमाश्रित्य दानशालादिकर्म यत् ।

ततु प्रवचनोन्नत्या बीजाधानादि भावतः ॥

बहूनामुपकारेण नानुकम्पानिमित्ताम् ।

अतिक्रामति तेनाऽत्र मुख्यो हेतुः शुभाशयः ॥”

— किसी पुष्ट आलम्बन को लेकर दानशाला आदि जो कर्म हैं, वे प्रवचन प्रभावना के उद्देश्य से सार्वजनिक हित की दृष्टि से बोधिबीज (सम्यक्त्व) प्राप्त कराने के निमित्त से अनेक लोगों के लिए उपकारक होने से अनुकम्पा के निमित्त का उल्लंघन नहीं करते। क्योंकि इन सब में मुख्य हेतु शुभ आशय है।

जैन धर्म शुभ भावों पर ही सारा खेल मानता है, जहाँ भाव शुद्ध होते हैं, वह दान भी अशुभ और संकीर्ण नहीं हो सकता, इसलिए उस दान को अनुकम्पादान की कोटि में ही माना जाएगा।

कुछ लोगों का यह भी कहना है कि अगर दानशाला, धर्मशाला, बावड़ी आदि सार्वजनिक दान हो और अनेक लोगों के उपकार की दृष्टि से बनाई गई हों, किन्तु अगर ये पुण्य का कारण होती तो नन्दन मणिहार ने दानशाला, धर्मशाला, बावड़ी आदि बनवाई थी, किन्तु वह मरकर मेंढक क्यों बना ? क्या अनुकम्पादान का फल तिर्यच योनि है ? नन्दन मणिहार की घटना

का साक्षी ज्ञाताधर्मकथांगसूत्र है। नन्दन ने बहुत उच्च भावना से दानशालादि बनवाई थीं और अनुकम्पादान का फल तिर्यचगति नहीं होता, यह सैद्धान्तिक दृष्टि से स्पष्ट है, तब फिर क्या कारण था कि नन्दन मणिहार का वह दान तिर्यचगति का कारण बना ?

इसके उत्तर में स्वयं शास्त्रकार वहाँ कहते हैं कि नन्दन मणिहार दानशाला, वापी आदि बनाने के कारण मेंढक नहीं बना, किन्तु वापिका आदि में उसकी अत्यन्त आसक्ति (मूर्च्छा), नामना-कामना रह गई, इस कारण उन्हीं दुर्भावों से मरने पर उसे तिर्यचयोनि प्राप्त हुई थी। किन्तु दानशाला आदि बनाने के पीछे तो उसकी भावना बहुत लोगों के उपकार की थी, इस कारण उसे पूर्व-जन्म का बोध होने पर वह स्वयं अपनी पिछले जन्म की भूल को महसूस करता है और उसकी शुद्धि करके पुनः स्वयं श्रावक व्रत ग्रहण कर लेता है, जब भगवान महावीर के पदार्पण की बात सुनता है तो बड़ी उमंग से वह फुदकता-फुदकता उनके दर्शनों के लिए चल पड़ता है। किन्तु रास्ते में ही राजा श्रेणिक के घोड़ों की टाप से कुंचल जाने के कारण उसकी मृत्यु हो जाती है और वह शुभ भावों में मरकर देवलोक में जाता है।

इसलिए सार्वजनिक और सबके लाभ की दृष्टि से खोले गये औषधालय, दानशाला आदि द्वारा दिया जाने वाला दान नामना, कामना, प्रशंसा और प्रसिद्धि की लिप्सा से रहित होने पर अनुकम्पादान की ही कोटि में आता है।

अनुकम्पादान वास्तव में मनुष्य की जीवित मानवता का सूचक है, उसके हृदय की कोमलता और सम्यक्त्व की योग्यता का मापक यंत्र है।

दस प्रकार के दान में तारतम्य :

अनुकम्पादान से लेकर कृतदान तक दान के दस प्रकार मानव की भावना और उद्देश्य के परिचायक हैं। विभिन्न उद्देश्यों और भावनाओं को लेकर ही ये नामकरण किये गये हैं। अनुकम्पादान अनुकम्पा के उद्देश्य से दिया जाता है। संग्रहदान लोकसंग्रह की दृष्टि से दिया जाता है। भयदान भय से, कारुण्यदान शोक से, लज्जादान लज्जा से और गौरवदान गौरव की दृष्टि से दिया जाता है। अधर्मदान अधर्म कार्य के पोषण के लिए दिया जाता है। इसके विपरीत धर्मदान धर्मकार्य का पोषक होता है; करिष्यतिदान आकांक्षा और प्रतिफल की

दृष्टि से दिया जाता है, जबकि कृतदान कृतज्ञता प्रगट करने के उद्देश्य से दिया जाता है ।^१

इन दस प्रकार के दानों में धर्मदान सर्वश्रेष्ठ है । इसके बाद अनुकम्पादान, कृतदान, करिष्यतिदान, संग्रहदान, गौरवदान, भयदान, लज्जादान, कारुण्यदान और अधर्मदान ये उत्तरोत्तर निकृष्ट हैं ।

स्थानांगसूत्र के दशम स्थान में इनका उल्लेख आता है । स्थानांगसूत्र की तरह बौद्धसाहित्य 'अंगुत्तरनिकाय' (८/३१) में भी दान के इसी तरह के आठ प्रकार बताए हैं ।

उक्त दस भेदों के अलावा भी अन्य प्रकार से अन्य भेदों पर भी विचार किया गया है । यहाँ पर हम इस विषय में कुछ विचार करेंगे ।

आचार्य जिनसेन ने महापुराण में विविध दृष्टियों से दान के चार भेद बताए हैं —

(१) दयादत्ति, (२) पात्रदत्ति, (३) समदत्ति, और (४) अन्वयदत्ति ।

दान के उक्त चार प्रकारों का विशेष विवेचन दिगम्बर जैन साहित्य में प्राप्त होता है, श्वेताम्बर आचार्यों ने अन्य रूप में अर्थात् दस भेदों के रूप में उस पर विचार किया है और दिगम्बर आचार्यों ने चार दत्ति के रूप में । वास्तव में तो प्रत्येक कसौटी पर दान-धर्म को कसना उसके उद्देश्य और प्रकार पर विचार करना यही अभीष्ट रहा है ।

१. देखिये दानों का तारतम्य पाराशर स्मृति में—

धर्मार्थं ब्राह्मणे दानं, यशोऽर्थं नटनत्तके ।

भृत्येषु भरणार्थं, वैभवार्थं च राजसु ॥

आहारदान का स्वरूप और महत्त्व

जैन धर्म में दान को अत्यधिक महत्त्व दिया गया है और साधु को दान लेने का अधिकारी बतलाकर वहाँ दान देने का महत्त्व बहुत ही स्पष्ट रूप से बताया गया है। परन्तु गृहस्थ के जीवन में शुद्ध (निश्चय) धर्म को बहुत कम अवकाश होने से गृहस्थ धर्म में दान की प्रधानता है। दान को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है — अलौकिक और लौकिक। अलौकिक दान चार प्रकार का है — आहारदान, औषधदान, ज्ञान (शास्त्र) दान और अभयदान। ये ही चार प्रकार लौकिक दान के हैं। अन्तर इतना ही है, आहारादि चार प्रकार का अलौकिक दान प्रायः साधुओं को दिया जाता है, तो वह उत्कृष्ट फलदायक होता है और जब उन्हीं आहारादि का लौकिक दान समान, अनुकम्पनीय, साधर्मी या करुणापात्र गृहस्थ को दिया जाता है, तब वह इतना उच्च फलदायक नहीं होता। परन्तु इसका मतलब यह नहीं है कि अलौकिक पात्र न मिले तो अवसर आने पर लौकिक पात्र को भी न देना। दान तो किसी भी हालत में निष्फल नहीं जाता। इसीलिए कहा है —

“मात्रके कीर्तिपुष्टाय, स्नेहपुष्टाय बान्धवे ।

सुपात्रे धर्मपुष्टाय, न दानं क्वापि निष्फलम् ॥”

— मात्रक (दीन-दुःखी करुणापात्र) को दान देने से कीर्ति की पुष्टि (वृद्धि) होती है, भाई-बन्धुओं को दान देने से स्नेह की पुष्टि होती है और सुपात्र को दान देने से धर्म की पुष्टि होती है। दान कदापि निष्फल नहीं जाता।

लौकिक और अलौकिक दृष्टि से दान के चार भेद :

जैन धर्म के विविध शास्त्रों और धर्मग्रन्थों में दान के कहीं चार प्रकार, कहीं तीन प्रकार भिन्न भिन्न रूप में वर्णित हैं। पहले हम उन सबके नाममात्र का क्रमशः उल्लेख करते हैं, उसके बाद उन पर पूर्वोक्त दोनों दृष्टियों से विश्लेषण करेंगे।

वास्तव में दान भावना पर निर्भर है और भावना की विविध तरंगें हैं। इसलिए दान भी विविध प्रकार का हो जाता है। परन्तु यहाँ मुख्य-मुख्य

भावनाओं व वस्तुओं की अपेक्षा से दान के भेदों का उल्लेख किया है।

आचार्य कार्तिकेय^१, आचार्य जिनसेन^२, आचार्य सोमदेव^३, आचार्य देवसेन, एवं आचार्य गुणभद्र ने दान के निम्नोक्त चार भेद बताए हैं —

(१) आहारदान, (२) औषधदान, (३) शास्त्र (ज्ञान) दान, और अभयदान।

आचार्य वसुनन्दी^४ ने भी निम्न चार भेद बताए हैं —

(१) करुणादान, (२) भैषज्यदान, (३) शास्त्रदान, और (४) अभयदान।

रत्नकरण्डक श्रावकाचार^५ में आचार्य समन्तभद्र ने दान के चार भेद बताए हैं —

(१) आहारदान, (२) औषधदान, (३) उपकरणदान, और (४) आवासदान।

तत्त्वार्थसूत्र की सर्वार्थसिद्धि टीका में आचार्य पूज्यपाद दान के तीन भेद करते हैं। वह इस प्रकार है —

“त्यागो दानम्। तत् त्रिविधम् - आहारदानमभयदानं ज्ञानदानं चेति।”

— दान त्याग को कहते हैं। वह तीन प्रकार का है — आहारदान, अभयदान और ज्ञानदान। ये ही तीन भेद त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र में एवं धर्मरत्न में बताये गये हैं।^६ आहार की जगह वहाँ धर्मोपकरण है। अब इन सबका क्रमशः विश्लेषण करते हैं —

सर्व प्रथम आहारदान को ही लें। आहारदान को प्रायः सभी आचार्यों ने माना है। आचार्य वसुनन्दी ने आहारदान के बदले वहाँ ‘करुणादान’ शब्द का प्रयोग किया है; किन्तु उनका भाव आहारदान से ही है। आहार जीवन की

१. कार्तिकेयानुप्रेक्षा में

२. महापुराण में

३. नीतिवाक्यामृत में

४. वसुनन्दी-श्रावकाचार में

५. आहारौषधोरप्युकरणावासयोश्चदानेन।

वैयावृत्यं ब्रुवते चतुरात्मत्वेन चतुरस्त्राः ॥११७॥ — परमात्म प्रकाश टीका

६. गृहस्थानामाहारदानादिकमेव परमो धर्मः।

प्राथमिक आवश्यकता है। वस्त्र के बिना तो चल भी सकता है। दिगम्बर मुनि निर्वस्त्र रहते हैं। परन्तु आहार के बिना उनका भी काम नहीं चलता। यहाँ तक कि तीर्थंकर जैसे उच्चतम साधक को भी अन्ततः आहार लिए बिना कोई चारा नहीं है। मुनियों, महाव्रती श्रमणों एवं त्यागियों का आहार गृहस्थ पर ही निर्भर है। इसलिए गृहस्थ के लिए आहारदान आदि को ही परम धर्म माना गया है। आहारदान का महत्त्व समझाते हुए पद्मनन्दि पंचविंशतिका में बताया है —

— समस्त प्राणी सुख चाहते हैं और वह सुख स्पष्टतः मोक्ष में ही है। वह मोक्ष सम्यग्दर्शन आदि रूप रत्नत्रय के होने पर ही सिद्ध होता है। वह रत्नत्रय निर्ग्रन्थ साधु के होता है। उस साधु की स्थिति शरीर के निमित्त से होती है, शरीर भोजन से टिकता है और वह भोजन श्रावकों के द्वारा दिया जाता है। इस प्रकार इस अतिशय क्लेशयुक्त काल में भी मोक्षमार्ग की प्रवृत्ति प्रायः उन सद्गृहस्थ श्रावकों (आहारदानियों) के निमित्त से होती है।^१

साधु को आहार देने वाला एक तरह से धर्म, त्याग, नियम आदि का बल देता है इस बात को आचार्य कार्तिकेय अपने ग्रन्थ कार्तिकेयानुप्रेक्षा में स्पष्ट करते हैं —

— भोजनदान (आहारदान) देने पर समझ लो, पूर्वोक्त तीनों (औषधदान, शास्त्रदान एवं अभयदान) दान दे दिये। क्योंकि प्राणियों को भूख और प्यास रूपी व्याधि प्रतिदिन होती है। भोजन के बल से ही साधु रात-दिन शास्त्र का अभ्यास करता है और भोजनदान देने पर प्राणों की भी रक्षा होती है। तात्पर्य यह है कि साधु को भोजनदान क्या दे दिया, सद्गृहस्थ ने वास्तव में उसे ज्ञान, ध्यान, तप, संयम, धर्म, नियम आदि में पुरुषार्थ करने का बल दे दिया।^२

१. सर्वो वाञ्छति सौख्यमेव तनुभृत्तन्मोक्ष एव स्फुटम् ।

दृष्ट्यादित्रय एव सिद्ध्यति स तन्निर्ग्रन्थ एव स्थितम् ॥

तद्वृत्तिर्वपुषोऽस्य वृत्तिरशनात् तदीयते श्रावकैः ।

काले क्लिष्टतरेऽपि मोक्षपदवी प्रायस्ततो वर्तते ॥ — पद्मनन्दि पंचविंशतिका-७/८

२. भोयणदाणे दिण्णे तिण्णि वि दाणाणि होति दिण्णाणि ।

भुक्ख-तिसाए वाही दिणे-दिणे होति देहीणं ॥

भोयणबलेण साहू सत्थं सेवेदि रत्तिदिवसं पि ।

भोयणदाणे दिण्णे पाणा वि य रक्खिया होति ॥ — कार्तिकेयानुप्रेक्षा ३६३-३६४

यही कारण है कि आहारदान का बहुत बड़ा माहात्म्य बताया गया है, क्योंकि साधु-जीवन का सारा दारोमदार संयम-साधना में पुरुषार्थ पर है और वह पुरुषार्थ आहार किये बिना हो नहीं सकता । आचार्य अमितगति भी अपने श्रावकाचार में इसी बात को प्रतिध्वनित करते हैं —

केवलज्ञान से बढ़कर उत्तम कोई ज्ञान नहीं है, निर्वाण सुख से श्रेष्ठ कोई सुख नहीं है । उसी प्रकार आहारदान से बढ़कर उत्तम अन्य कोई दान नहीं है । इसलिए अन्नदानकर्ता पुरुष संसार की सर्वसुन्दर वस्तुएँ उस दान के फलस्वरूप प्राप्त करता है । अधिक क्या कहें, सर्वज्ञ महापुरुष के बिना अन्य कोई व्यक्ति आहारदान के फल का कथन नहीं कर सकता ।^१

शरीर की तमाम वेदनाओं में सबसे बढ़कर वेदना^२ क्षुधा है । भूखा व्यक्ति धर्म-कर्म सब कुछ भूल जाता है । उसे कुछ नहीं सुहाता ।^३ उस समय वह अधर्म का आचरण करने पर उतारू हो जाता है, लज्जा और मर्यादा को भी ताक में रख देता है । इसलिए नीतिकार ने कहा है —

“बुभुक्षितः किं न करोति पापम् ?”

कौन-सा ऐसा पाप है, जिसे भूख से व्याकुल आदमी नहीं कर बैठता ? इसलिए आहारदान या अन्नदान का बहुत बड़ा महत्त्व बताया है । वेदों में इसीलिए कहा है — “अन्नं वै प्राणाः ।” — अन्न ही वास्तव में प्राण हैं । अन्नदान देना एक अर्थ में प्राणदान देना है । इसीलिए महाभारत में अन्नदान की महिमा बताते हुए वर्णन किया है —

सभी दानों में अन्नदान श्रेष्ठ बताया है । इसलिए अनायास ही धर्मपालन

१. केवलज्ञानतो ज्ञानं, निर्वाणसुखतः सुखम् ।

आहारदानतो दानं नोत्तमं विद्यते परम् ॥

बहुनाऽत्र किमुक्तेन विना सकलवेदिना ।

फलं नाहारदानस्य परः शक्नोति भाषितुम् ॥ — अमित. श्राव. २५, ३१

२. खुहासमा णत्थि सरीस्वेयणा ।

३. बुभुक्षितं न प्रतिभाति किञ्चित् ।

करने के इच्छुक को सर्वप्रथम अन्नदान करना चाहिए।^१ अन्नदान का महत्त्व तो वस्तुतः तब प्रतीत होता है, जब चारों ओर दुष्काल की काली छाया उस प्रदेश पर पड़ी हो। अन्यथा, जिसके पास अन्न का भण्डार है, वह अन्नदान का महत्त्व सहसा नहीं जान सकता।

जैन इतिहास का एक दुर्भाग्यपूर्ण पृष्ठ बताता है कि भगवान महावीर के निर्वाण के बाद भारतवर्ष में बारह वर्षीय दुष्काल पड़ा था। मनुष्य अन्न के दाने-दाने के लिए तरसते थे। सद्गृहस्थ श्रमणोंपासकों की स्थिति भी अत्यन्त दयनीय बनी हुई थी। ऐसे समय में सेरभर मोती के बदले सेरभर जुआर मिलना भी कठिन हो गया था। इसलिए कुछ साधु उत्तर-भारत से विहार करके दक्षिण-भारत में चले गये थे। कहते हैं ७४८ साधुओं ने ऐसे समय निर्दोष आहार मिलने की सम्भावना क्षीण देखकर अनशन करके समाधिपूर्वक देह-त्याग कर दिया था। जो बचे थे, उन्हें भी ऐसे दीर्घकालिन दुर्भिक्ष के समय आहार मिलना दुर्लभ हो गया था। आहार पर्याप्त न मिलने से उनकी स्मृति कुण्ठित होने लगी। वे शास्त्रपाठों को विस्मृत होने लगे।

आचार्य वज्रस्वामी (दशपूर्वधर)ने जब अनशन किया, तब अपने शिष्यों से कहा था — बारहवर्ष का भयंकर दुष्काल पड़ेगा। किन्तु जिस दिन किसी गृहस्थ के यहाँ एक लाख रुपये का अन्न एक हाँडी में पके, समझ लेना उसके दूसरे ही दिन सुकाल हो जाएगा।

सचमुच १२ वर्ष का भयंकर दुष्काल पड़ा। लोग अन्न के दाने-दाने के लिए तरस रहे थे। यातायात के साधन उस समय इतने सुलभ नहीं थे कि बाहर से कहीं से अन्न मँगाया जा सके। अन्न के अभाव में मनुष्य और पशु अकाल में ही मरणशरण हो रहे थे। वज्रस्वामी के शिष्य विहार करते-करते सोपारक (जिसे आज 'सोफरला' कहते हैं) पहुँचे। वहाँ एक व्रतधारी श्रावक परिवार अन्न न मिलने से दुःखी हो रहा था। सोच रहा था — "अन्न के अभाव में हम बारहवें व्रत का पालन कैसे करें, कैसे अपने गुरुओं को दें?" बड़ी मुश्किल से घर का मुखिया कहीं से एक लाख मुद्रा देकर एक हाँडी भर पक

१. सर्वेषामेव दानानामन्नं श्रेष्ठमुदाहृतम्।

पूर्वमन्नं प्रदातव्यमृजुना धर्ममिच्छता ॥ — महाभारत

सके उतना अनाज लाया। परिवार के सब लोगों ने सौचा - "रोज-रोज एक लाख मुद्रा कहाँ से खर्च करेंगे ? और फिर एक लाख मुद्रा देने पर भी अन्न कोई देना नहीं चाहता। अब क्यों नहीं आज ही इस हँडियाँ में विष घोलकर सदा के लिए सो जाएँ।" इस विचार से वह लाख रुपयों के मूल्य के अनाज वाली हँडिया चूल्हे पर चढाई गई। जब अनाज सीझ गया तो वह हँडिया नीचे उतार ली। संयोगवश उसी समय इसी श्रावक के यहाँ वज्रस्वामी के शिष्य मुनिवर भिक्षा के लिए पहुँच गए। उन्हें देखते ही सबने कहा - "भगवन् ! हमारे अहोभाग्य हैं, आप अच्छे समय पर पधार गये।" साधुओं को शंका हुई कि कहीं हमारे आने से इनके भोजन में अड़चन तो नहीं पडी है। पूछताछ करने पर श्रावक परिवार ने शंका का निवारण किया और सारी आपबीती सुनाई। फिर श्रद्धापूर्वक कहा - "गुरुदेव ! आप इस आहार को ग्रहण करें। आपके प्राण बचेंगे तो आपसे ज्ञान-ध्यान, तपसंयम का पालन होगा। हमने अभी तक इस लक्षमुद्रापाकी अन्न में विष नहीं मिलाया है।" यह सुनते ही साधुओं को आचार्य वज्रस्वामी की कही हुई बात याद आ गई। उन्होंने श्रावक परिवार को आश्वासन देते हुए कहा - "आपने तो सारा आहार हमारे पात्र में डाल दिया। परन्तु आपको अब केवल आज ही उपवास करना है, विष न खाएँ। आचार्य वज्रस्वामी की भविष्यवाणी के अनुसार हम आपको विश्वास दिलाते हैं कि कल से ही सुकाल हो जाएगा।" सचमुच दूसरे दिन प्रातःकाल ही विदेश से अनाज से भरे जहाज आ पहुँचे। यही कारण है कि सद्गृहस्थ द्वारा अलौकिक आहारदान का बहुत उत्तम फल 'रयणसार' में बताया गया है -

— जो भव्य जीव मुनिवरों को आहार देने के पश्चात् अवशेष भोजन को प्रसाद समझकर सेवन करता है, वह संसार के सारभूत उत्तम सुखों को पाता है और क्रमशः मोक्ष के श्रेष्ठ सुखों को प्राप्त करता है।

इसी तरह जैनग्रन्थों में बलभद्र मुनि का वर्णन आता है मुनि, मृग और बढई तीनों की उत्कृष्ट भावना एक जैसी होने से तीनों मरकर वहाँ से स्वर्ग में गये।

लौकिक आहारदान का महत्त्व भी कम नहीं है। परन्तु मनि तो अपने नियमानुसार कल्पनीय एवं एषणीय आहार ही लेते हैं। सब जगह मुनियों

का योग नहीं मिलता। तब का क्या उपाय है — आहारदान से सुफल प्राप्त करने का ? यह जैन इतिहास के एक ज्वलन्त उदाहरण द्वारा समझाते हैं —

केवलज्ञान की प्राप्ति के बाद भगवान् ऋषभदेव अष्टापद पर्वत पर पधारे। भरत चक्रवर्ती को ज्ञात होने पर वे भगवान् के दर्शनार्थ तैयार हुए। मुनियों को आहारदान देने की भावना से प्रेरित होकर भरत पकापकाया भोजन गाड़ियों में भरकर अपने साथ ले चले। भगवान् के दर्शनान्तर भरत चक्रवर्ती ने उनसे भोजन ग्रहण करने की प्रार्थना की। किन्तु भगवान् ऋषभदेव ने राजपिंड मुनियों के लिए अकल्पनीय है, कहकर वह भोजन लेना अस्वीकृत कर दिया। इस पर भरत को बहुत ही खिन्नता हुई। निराश भरत को इन्द्र ने आकर समझाया, आश्वस्त किया और कहा — “इस नैमित्तिक भोजन का उपयोग स्वधर्मी गृहस्थों को खिलाकर करेंगे। इन्द्र के कथनानुसार भरत चक्रवर्ती ने उस आहार का उपयोग स्वधर्मी गृहस्थों को भोजन कराने में किया। भरत चक्रवर्ती ने वहाँ एक भोजनशाला का निर्माण करवाया, जिसमें कई धर्मनिष्ठ सद्गृहस्थ भोजन करते थे। इस प्रकार भरत चक्रवर्ती ने भगवान् ऋषभदेव के द्वारा आहार लेने से इन्कार करने पर आहारदान का महत्त्व समझकर धर्मनिष्ठ श्रावकों, माहणों और सद्गृहस्थों के प्रतिदिन भोजन कराने के लिए ही वहाँ भोजनशाला खोली थी।

सचमुच आहारदान देना सर्व दानों में श्रेष्ठ है। दक्षिण-भारत के श्रेष्ठतम् धर्मग्रन्थ कुरुल में बताया है —

“इदं हि धर्म सर्वस्वं शास्तृणां वचने द्वयम् ।

क्षुधातेन समं भुक्तिः, प्राणिनां चैव रक्षणम् ॥”

— क्षुधापीडितों के साथ अपना भोजन बाँटकर खाना और प्राणियों की रक्षा करना यह धर्मों का सर्वस्व है और धर्मोपदेशों के समस्त उपदेशों में श्रेष्ठतम् उपदेश है। आचार्य वसुनन्दी ने भी वसुनन्दी श्रावकाचार ने अलौकिक और लौकिक दोनों दृष्टियों से आहारदान को श्रेष्ठ बताया है —

— अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य इन चारों प्रकार का श्रेष्ठ आहार पूर्वोक्त नवधा भक्ति से तीनों प्रकार के पात्रों को देना चाहिए ।^१

१. असणं पाणं खाइमं साइयमिदि चउविहोवराहारो ।

पुव्वुत्तणवविहाणेहिं तिविहपत्तस्स दायव्वो ॥

इसमें अलौकिक और लौकिक दोनों दृष्टियों से आहारदान का महत्त्व बताया गया है। अलौकिक दृष्टि से आहारदान का महत्त्व बताने के लिए ही उन्होंने तीनों को देने का उल्लेख किया है। लौकिक दृष्टि से आहारदान देने को आचार्य वसुनन्दी ने एक तरह से करुणादान कहा है -

‘अत्यन्त वृद्ध, बालक, मूक, अन्धा, बहरा, परदेशी, रोगी और दरिद्र मनुष्यों को करुणादान दे रहा हूँ’ ऐसा समझकर यथायोग्य आहार आदि देना चाहिए।^१

जब किसी प्रदेश में दुष्काल पड़ गया हो, वह प्रदेश सूखा, बाढ़ या भूकम्प आदि से प्रभावित हो गया हो या किसी महामारी या बीमारी के उपद्रव से पीड़ित हो, विधवा, अनाथ या अपाहिज हो, कमाने के अयोग्य हो, अत्यन्त वृद्ध हो, अत्यन्त निर्धन हो, ऐसे व्यक्ति को करुणा की दृष्टि रखकर आहारादि दान देना लौकिक दृष्टि से भी उत्तम है।

समानदति की दृष्टि से भी आहारादि का दान उचित है। जैसे तो जब तक बस चलता है, कोई भी व्यक्ति किसी से माँगना या किसी के आगे हाथ पसारना अथवा किसी से दान लेना नहीं चाहता। विवशता की परिस्थिति में ही गृहस्थ किसी दूसरे से याचना करता है या दान लेना चाहता है। इसलिए मानवीय कर्तव्य के नाते भी ऐसे समय में आहारादि दान देना साधन-सम्पन्न मानव का कर्तव्य हो जाता है।

तथागत बुद्ध के शब्दों में कहें तो - “जो मनुष्य भोजन देता है, वह लेने वाले को ४ चीजें देता है - वर्ण, सुख, बल और आयु। साथ ही देने वाले को उसका सुफल उसी रूप में मिलता है - दिव्यवर्ण, दिव्यसुख, दिव्यबल और देवायु।”^२

वास्तव में अन्नदानी दयाद्र होता है। उसके कण-कण में क्षुधापीड़ितों के प्रति करुणा होती है, उसका अनुकम्पाशील हृदय भूखों के दुःख को अपना

१. अइवुड्ढ-बाल-भूयंध बहिर-देसंतरीय-रोडाणं ।

जह जोगं दायव्वं करुणां दाणंति भणिरुण ॥

२. अंगुत्तरनिकाय ४/५८

दुःख समझता है।

एक बौद्ध भिक्षु एक भूखे व्यक्ति को दयाधर्म का उपदेश दे रहा था। पर वह व्यक्ति उसकी एक भी बात ध्यानपूर्वक नहीं सुन रहा था। उसकी इस उपेक्षा से क्रुद्ध होकर वह भिक्षु उसे तथागत बुद्ध के पास लेकर पहुँचा। उस भिक्षु की बात सुनकर बुद्ध मुस्कराए और कहने लगे — 'इसे मैं स्वयं उपदेश दूँगा।' म.बुद्ध ने उस भिक्षु से कहा — "इसे ले जाकर पहले पेट भर भोजन कराओ।" उस बुभुक्षित व्यक्ति के पेट में अन्न पहुँचते ही वह जिज्ञासु बनकर बुद्ध के पास बैठ गया। परन्तु भिक्षु को उपदेश की उतावल थी। उसने म. बुद्ध से कहा - "भंते ! आपने इसे उपदेश कहाँ दिया ?" बुद्ध - "उपदेश तभी दिया जाता है, जब पेट में अन्न पड़ा हो।" म. बुद्ध ने आगन्तुक को उपदेश दिया, जिसे बड़ी उत्सुकता से उसने सुना और गद्गद होकर चला गया।

यद्यपि अलौकिक आहार दान में यह अवश्य देखा जाता है कि देय वस्तु न्यायोपार्जित एवं कल्पनीय हो। तत्त्वार्थसूत्र भाष्य में स्पष्ट कहा है —

“न्यायागतानां कल्पनीयनामनपानादीनां द्रव्याणां.... दानम्।”

परन्तु लौकिक आहारदान में भी यह विवेक तो अवश्य करना होगा कि वह अन्न न्यायनीति से प्राप्त हो। किन्तु यह निःसन्देह कहा जा सकता है कि दुष्काल आदि संकट के समय में अगर आवश्यकतानुसार अन्नदान न हो तो उस प्रदेश में लूट, चोरी, अनीति आदि अराजकता फैलने की आशंका रहती है। इसीलिए समाज से धर्मपालन कराने एवं समाज को स्वच्छ व स्वस्थ रखने के लिए 'आहारदान' सर्वप्रथम आवश्यक बताया गया है। इस दृष्टि से अन्नसत्र या सदाव्रत खोलने वाले भी भूखे व्यक्तियों के अन्तर का आशीर्वाद लेकर महान् पुण्य का उपार्जन करते हैं।

औषधदान का स्वरूप

चार प्रकार के दानों में 'आहारदान' का प्रथम नम्बर है, जीवन धारण की दृष्टि से भी वह सर्वप्रथम आवश्यकता है, आहारदान के बाद औषधदान का क्रम आता है। इसमें भी अलौकिक और लौकिक दोनों दृष्टियाँ हैं। यदि मनुष्य बीमार है; किसी रोग से पीड़ित है तो उसे आहार की रुचि भी नहीं होगी, उस समय उसे आहार देना बेकार होगा। उस समय उसे एक मात्र चिकित्सा की आवश्यकता है, जो उसे स्वस्थ एवं रोगमुक्त कर सके। इसलिए औषधदान भी अतीव महत्त्वपूर्ण है।

आचार्य वसुनन्दी ने औषधदान का सुन्दर लक्षण बताते हुए कहा है —

— उपवास, व्याधि, परिश्रम और क्लेश से परिपीड़ित जीव को जानकर अर्थात् देखकर शरीर के योग्य पथ्यरूप औषधदान भी देना चाहिए।^१

किसी श्रमण या श्रमणी अथवा मुनि एवं आर्थिका आदि त्यागी के शरीर में पूर्व के अशुभ कर्मोदय से कोई व्याधि, रोग, पीड़ा या असाता पैदा हो जाय उस समय दयालु एवं श्रद्धाशील श्रावक-श्राविका (सद्गृहस्थ) का कर्तव्य है कि वे उनका यथायोग्य उपचार करावें। उन्हें यथोचित पथ्य के अनुरूप आहार देना, उनका योग्य इलाज कराना, औषध देना या दिलाना, उन्हें चिकित्सक को बताकर योग्य उपचार कराना आदि सब रोग निवारण के उपाय अलौकिक औषधदान के अन्तर्गत आते हैं।

सेवाभावी सद्गृहस्थ या वैद्य, डाक्टर अथवा हकीम सेवाभाव से रुग्ण साधु-साध्वियों का इलाज करता है, उनकी भलीभाँति चिकित्सा द्वारा सेवा करता है, उनके यथोचित पथ्य आदि का प्रबन्ध करता है, वह प्रायः कर्मों की निर्जरा करता है अथवा महान पुण्य का उपार्जन करता है। उसका प्रत्यक्ष फल भी सागारधर्मांमृत में बताया है —

— औषधदान से दाता को आरोग्य मिलता है।

इसी प्रकार आचार्य अमितगति ने अमितगति श्रावकाचार में औषधदान का फल बताते हुए कहा है —

जिस प्रकार सिद्ध-परमात्मा सब प्रकार की व्याधि से मुक्त होते हैं, उनके (अनन्त) सुख का तो कहना ही क्या ? उसी प्रकार औषधदान देने वाले महान् आत्मा को भी जिन्दगीभर किसी प्रकार की शरीर पीड़ाकारी व्याधि नहीं होती, उसे भी सिद्ध के समान सुख प्राप्त होता है । जो औषधदान देता है, वह कान्ति का भण्डार बनता है, यशकीर्तियों का कुलमन्दिर होता है और लावण्यों (सौन्दर्यों) का समुद्र होता है ।^१

औषधदान के महाफल के सम्बन्ध में भगवान् ऋषभदेव के पूर्व-जन्म की एक घटना सुनिए —

सम्यक्त्व-प्राप्ति होने के बाद के ग्यारहवें भव में ऋषभदेव वज्रनाभ चक्रवर्ती के रूप में हुए थे । इनके पिता वज्रसेन राजा राजपाट छोड़कर मुनि बने और केवलज्ञान प्राप्तकर तीर्थंकर बने थे । उन्हीं वज्रसेन राजा के पाँच पुत्र थे — बाहु-सुबाहु, पीठ, महापीठ और वज्रनाभ तथा इनके सारथी का नाम सुयशा था । ये छहों परस्पर गाढ़ मित्र थे । तेरहवें भव में वज्रनाभ का जीव वैद्य हुआ और बाकी के चारों मित्र बने । एक दिन ये चारो मित्र कहीं जा रहे थे कि रास्ते में एक साधु को भिक्षा के लिए जाते देखा, जिनके शरीर में प्रबल रोग था । उसी रोग के कारण वे लडखड़ाते हुए चल रहे थे । चारों ही मित्रों ने इन रोगग्रस्त मुनि की चिकित्सा कराने का निश्चय किया और उसी वैद्य के यहाँ पहुँचे । उन्होंने वैद्य से कहा — “यहाँ से अभी-अभी एक साधु गुजरे हैं, आपने देखा नहीं, उनके शरीर में कितना भयंकर रोग था । आपने उनका इलाज क्यों नहीं किया ?”

वैद्य बोला — “मैंने उन्हें देखते ही उनके रोग का तो निदान कर लिया था, परन्तु उस रोग के उपचार के लिए मेरे पास और औषध तो हैं; किन्तु बावनाचन्दन और रत्नकम्बल मेरे पास नहीं हैं । इस रोग के निवारण के लिए ये दोनों वस्तुएँ अत्यन्त आवश्यक हैं । यदि आप लोग ये दोनों चीजें मुझे ला दें तो मैं उन मुनि की चिकित्सा करके बिल्कुल स्वस्थ कर दूँगा ।”

१. आजन्म जायते यस्य न व्याधिस्तनुतापकः ।

किं सुखं कथ्यते तस्व सिद्धस्यैव महात्मनः ॥

विधानमेष कान्तीनां, कीर्तीनां कुलमन्दिरम् ।

लावण्यानां नदीनाथो, भैषज्य येन दीयते ॥

उसी नगर के एक पंसारी के यहाँ ये दोनों चीजें मिलती थी। अतः चारों ही मित्र उस पंसारी के यहाँ पहुँचे और रत्नकम्बल और बावनाचन्दन के बारे में पूछा तथा दोनों की जो भी कीमत हो, हमसे ले लीजिए। इन युवकों के मुँह से इतनी बहुमूल्य चीजों के खरीदने की बात सुनकर पंसारी को कुछ शक हुआ। उसने पूछा - “क्यों भैया! आपको ये दोनों चीजें किसलिए चाहिए?”

चारों ने उत्तर दिया - “एक मुनिराज के शरीर में भयंकर रोग है, उसके निवारण करने और मुनि को स्वस्थ करने के लिए हमें ये दोनों चीजें चाहिए। उनके शरीर में कीड़े पड़ गए हैं, जिससे उन्हें भयंकर असाता उत्पन्न हो गई है।”

पंसारी ने सोचा - “मैं इतना बड़ा धनाढ्य हूँ। मेरा व्यापार काफी अच्छा चलता है। फिर भी मैं एक मुनिराज की चिकित्सा के लिए कीमत लेकर इन चीजों को दूँ, यह मेरे जैसे सम्पन्न व्यक्ति के लिए उचित नहीं है। जब ये चारों लड़के इस छोटी-सी उम्र में मुनिराज की सेवा करने की इतनी भावना रखते हैं और मुझसे ये बहुमूल्य वस्तुएँ खरीदना चाहते हैं तो मैं ही औषधदान के रूप में इस सेवा का लाभ क्यों न लूँ। इसलिए अपने दिल की बात युवकों के सामने प्रगट की कि “मेरी इच्छा है कि यह रत्नकम्बल और बावना-चन्दन मेरी ओर से काम में लाया जाए। सभी ने उनकी बात सहर्ष स्वीकार की। पंसारी और चारों युवक वैद्य के पास पहुँचे। वैद्य ने अपने औषधालय से लक्षपाक तेल लिया और इस प्रकार ये छहों व्यक्ति रुग्ण मुनि के पास पहुँचे।

वैद्य ने मुनि के शरीर पर लक्षपाक तेल लगाया और वह रत्नकम्बल उन्हें ओढ़ा दिया, जिससे थोड़ी ही देर में तेल की गर्मी पाकर कीड़े बाहर निकलने लगे और पास ही रत्नकम्बल (जो ठंडी थी) में आकर जमा होने लगे। इस प्रकार तीन बार लक्षपाक तेल लगाया और रत्नकम्बल ओढ़ाया गया। इससे सारे के सारे कीड़े उस कम्बल में एकत्रित हो गए। उसके बाद बावनाचन्दन घिसकर उसका लेप मुनि के शरीर पर कर दिया। फलस्वरूप मुनि का शरीर पूर्णतः स्वस्थ हो गया। अन्त में छहों व्यक्तियों ने मुनिवर से क्षमायाचना की - “भंते! आपके ज्ञानध्यान में हमने विघ्न डाला, इसके लिए क्षमा चाहते हैं।”

इसके बाद पंसारी वैद्य और ये चारों युवक परस्पर मित्र बन गए। आगे

कथा बताती है कि वैद्य का जीव पुण्डरीकिणी नगरी में वज्रनाभ चक्रवर्ती बना और शेष चारों मित्र बने वज्रनाभि के चारों भाई तथा पंसारी सेठ-का जीव वज्रनाभ चक्रवर्ती का सारथी सुयशा बना ।

एक बार वज्रसेन तीर्थकर पुण्डरीकिणी नगरी में पधारे । छहों ने उनका उपदेश सुना और विरक्त होकर उनसे मुनिदीक्षा ले ली । वज्रनाभ ने बीस स्थानक की सम्यक् आराधना के फलस्वरूप तीर्थकर गोत्र का उपाजन किया । बाहुमुनि ने ५०० साधुओं को प्रतिदिन आहार-पानी लाकर देने की प्रतिज्ञा की, सुबाहु मुनि उन ५०० साधुओं की सेवा-शुश्रूषा करने लगा । पीठ-महापीठ मुनि अपने ज्ञान-ध्यान और तप में लीन रहते थे । फलतः वज्रनाभ मुनि तीर्थकर ऋषभदेव बने, बाहु-सुबाहु उनके पुत्र भरत-बाहुबली बने और पीठ-महापीठ उनकी पुत्री के रूप में ब्राह्मी और सुन्दरी बनी ।

इस प्रकार अलौकिक औषधदान का उत्तम फल प्राप्त हुआ । औषध दान भी तभी दिया जाता है, जब रुग्ण व्यक्ति के प्रति दाता के मन में महाकरुणा हो उत्तम पात्र हों तो, उनके प्रति श्रद्धाभाव हो, उन्हें साता पहुँचाने की भावना हो ।

श्रमण भगवान महावीर पर एक बार गोशालक (क्षपणक) ने द्वेषवश तेजोलेश्या फेन्की, परन्तु उस तेजोलेश्या का उनके आयुष्यबल पर तो कोई प्रभाव नहीं पड़ा, किन्तु उनके शरीर पर अवश्य ही प्रभाव पड़ा । उन्हें रक्तातिसार हो गया । यह देखकर उनके शिष्य बहुत चिन्तित हो उठे और उन्हें औषध सेवन का अनुरोध करने लगे । भगवान महावीर ने अपने शिष्यों के मनस्तोष के लिए कहा- “तुम्हारी ऐसी ही इच्छा है तो तुम रेवती नाम की सदगृहस्थ श्राविका के यहाँ जाओ और उसके यहाँ जो कुष्माण्डपाक बनाया हुआ है, उसमें से दो फाँके ले आओ ! वह औषध मेरे इस रोग के निवारण के लिए बहुत ही अनुकूल होगी ।” मुनि बहुत ही श्रद्धापूर्वक रेवती श्राविका के यहाँ पहुँचे । रेवती ने मुनियों को अपने यहाँ आते देख बहुत ही श्रद्धापूर्वक स्वागत किया और उनसे भगवान महावीर की अस्वस्थता के समाचार जानकर अपने यहाँ जो अनेक मूल्यवान औषधियाँ डालकर कुष्माण्डपाक बनाया हुआ था, उसमें से बहुत-सा देने लगी, परन्तु मुनियों ने कहा - “हमें सिर्फ इसके दो ही टुकड़े चाहिए, अधिक नहीं, क्योंकि शायद प्रभु के लिए फिर इसी दवा को लेने के लिए कई

दिनों तक आना पड़े।" रेवती श्राविका ने मुनियों के कथनानुसार उस औषध के दो टुकड़े दिये। उनके सेवन करते ही प्रभु महावीर के शरीर में शान्ति होने लगी। कुछ ही दिनों में तो वे एकदम स्वस्थ हो गए।

रेवती श्राविका द्वारा दिये गये इस औषधदान का सुफल उसे अवश्य मिला। तात्कालिक फल तो यह मिला कि वह सारे जैन जगत् में प्रसिद्ध हो गई। भगवती सूत्र के पन्नों पर उसका नाम अंकित हो गया। भगवान महावीर को सुखसाता पहुँचाकर उसने उनके द्वारा जगत् के जीवों को महालाभ दिलाया।

यह तो हुआ अलौकिक औषधदान का सुफल एवं महत्त्व! लौकिक औषधदान का भी महत्त्व कम नहीं है। दीन-हीन किसी रोग, व्याधि या पीड़ा से पीड़ित व्यक्ति किसी वैद्य या चिकित्सक के इलाज से स्वस्थ और रोगमुक्त हो जाते हैं तो हजार-हजार मूक आशिष बरसाते हैं। ऐसा औषधदान महान् पूण्य का उपार्जन तो करता ही है, उत्कृष्ट भावरसायन आ जाने पर निर्जरा (कर्मक्षय) भी कर लेता है। औषधदान करने वाले व्यक्ति के मन में करुणा का झरना बहता रहता है। इस प्रकार के औषधदान को सिर्फ औषधदान ही नहीं, एक प्रकार से जीवनदान समझना चाहिए।

बहुत से आचार्य, जिन्होंने दान के तीन भेद किये हैं, वे औषधदान को आहारदान में ही गतार्थ कर लेते हैं। उनकी दृष्टि से औषधदान एक प्रकार का आहारदान ही है अथवा कई आचार्यों ने औषधदान को अभयदान में समाविष्ट कर लिया है।

ज्ञानदान का महत्त्व

औषधदान का वर्णन पिछले प्रकरण में किया जा चुका है। मनुष्य के भौतिक शरीर की रक्षा के लिए औषध का जितना महत्त्व है उससे भी अधिक महत्त्व है चेतन शरीर की रक्षा, संपुष्टि और उन्नयन के लिए ज्ञान का। ज्ञान भी एक प्रकार का आध्यात्मिक औषध है, बिना उसके चेतन शरीर की रक्षा सम्भव नहीं है अतः दान के क्रम में औषधदान के बाद अब हम 'ज्ञानदान' पर भी विचार करेंगे।

ज्ञानदान को कई आचार्य शास्त्रदान भी कहते हैं। शास्त्रज्ञान की अपेक्षा 'ज्ञानदान' व्यापक शब्द है। वास्तव में ज्ञानदान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और सर्वश्रेष्ठ वस्तु है। एक व्यक्ति किसी को एक समय के लिए भोजन खिला देता है, कोई किसी व्यक्ति को एकाध कपड़ा दे देता है, इससे थोड़ी देर के लिये उसे राहत मिल जाती है, लेकिन कोई उदारचेता महानुभाव भोजन और कपड़ा प्राप्त करने का ज्ञान दे देता है, वह उसके लिए जिन्दगीभर की राहत है। हालांकि यह ज्ञान लौकिक होता है, परन्तु वह भी सामान्य गृहस्थ के लिये बहुत उपकारक होता है। जैनशास्त्र में यत्र-तत्र ज्ञान का बहुत बड़ा महत्त्व है —

“नाणस्स सव्वस्स पगासणाय, अनाणमोहस्स विवज्जणाय।”

— 'समस्त वस्तुओं के यथार्थ प्रकाश' (वस्तु स्वरूप के ज्ञान) के लिये और अज्ञान एवं मोह को मिटाने के लिये ज्ञान से बढ़कर कोई महत्त्वपूर्ण वस्तु संसार में नहीं है।

भगवद्गीता में भी ज्ञान की महिमा बताते हुए कहा है —

‘नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।

सर्वकर्माऽखिलं पार्थ ! ज्ञाने परिसमाप्यते ॥

‘ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुतेऽर्जन !’

‘ज्ञानवान्मा प्रपद्यते !’

— इस संसार में ज्ञान के समान कोई भी पवित्र वस्तु नहीं है। ज्ञान सर्वोत्कृष्ट पदार्थ है। सारे के सारे कर्म (क्रियाएँ) ज्ञान में परिसमाप्त होते हैं। हे अर्जुन ! ज्ञानरूपी अग्नि समस्त कर्मों को भस्म कर डालती है। परमात्मा को ज्ञानवान ही प्राप्त कर सकता है।

वास्तव में आत्मा स्वयं ज्ञानमय है। आचारांगसूत्र में ज्ञान और आत्मा को एकरूप बताया है।^१ आत्मा पर अज्ञान का जब आवरण आ जाता है, तो उसका ज्ञान उतने अंशों में ढक जाता है। उसी आच्छादित ज्ञान को प्रगट करने के लिए ज्ञानदान की आवश्यकता होती है।

अज्ञान और मोह का पर्दा जब व्यक्ति के शुद्ध ज्ञान पर छा जाता है तो उसे वस्तुस्वरूप का यथार्थ ज्ञान और भान न होने के कारण दुःखी होता है, चिन्तित और व्यथित होता है, अपनी मानी हुई इष्ट वस्तु के वियोग और अनिष्ट के संयोग में दुःखी होता है, आर्तध्यान-रौद्रध्यान करता है, निमित्तों को कोसता है अथवा इष्ट वस्तु का संयोग और अनिष्ट का वियोग होने पर हर्षित होता है, फूला नहीं समाता, निमित्तों की प्रशंसा करता है। मोह और अज्ञान के कारण ही व्यक्ति नाना प्रकार के पाप कर्म करता है, अनेक दुर्गुणों, दुर्व्यसनों और बुराइयों को अपना लेता है। इन सबसे दूर रहने के लिए ज्ञानदान की अति आवश्यकता होती है। ज्ञान प्राप्त होने पर अथवा आत्मा में ज्ञान का प्रकाश होने पर अज्ञान एवं मोह के कारण जो विविध प्रकार के भय, खतरे और आशंकाएँ दिमाग में जमे हुए थे, वे सब सूर्य के प्रकाश में रात्रि के अन्धकार दूर होने की तरह दूर हो जाते हैं। इसलिए एक विद्वान ने कहा है - “Knowledge is Light.” ज्ञान प्रकाश है। आत्मा में जब ज्ञान का प्रकाश हो जाता है तो अज्ञानवश जो मन में वैर-विरोध, द्वेष-घृणा, मोह-ममता आदि दुर्गुण घर किये हुए थे, वे सब दूर हो जाते हैं और उनके बदले मैत्री-समता-सरलता, क्षमा, दया आदि सदगुण स्थान जमा लेते हैं। इसलिए सुकरात कहता था “Knowledge is virtue.” ज्ञान एक सदगुण है। ज्ञान का सदगुण जिसमें होता है, वह शास्त्रस्वाध्याय, प्रवचन-श्रवण, उपदेश-श्रवण, महापुरुषों के वचनों पर चिन्तन-मनन के द्वारा ज्ञानरस में तन्मय होकर खाने-पीने तक को भूल जाता है। वह एक वैज्ञानिक की तरह ज्ञान की

१. जे आया से विन्नाया, जे विन्नाया से आया। — आचारांगसूत्र १/५/५/१०४

प्रयोगशाला में रात-दिन ज्ञान के उपयोग में रत रहकर आनन्द की मस्ती में डूब जाता है। उसे अपने जीवन में ज्ञानरस की मस्ती में किसी भी सांसारिक इष्ट वस्तु का अभाव या वियोग दुःखित नहीं करता और न ही अनिष्ट वस्तु का संयोग या सद्भाव पीडित करता है। इसीलिए अंधी, गूँगी, और बहरी हेलेन केलर ने ज्ञान की व्याख्या की है - "Knowledge is Happiness." ज्ञान आनन्दमय है। इसीलिए ज्ञान को आत्मा की विशेष शक्ति माना गया है। जिस शक्ति के प्रभाव से सारे अज्ञानजनित कर्म, क्लेश, वासनाएँ, राग-द्वेष, मोह आदि भस्म हो जाते हैं। इसीलिए एक अंग्रेज विद्वान ने कहा - "Knowledge is Power." - ज्ञान एक शक्ति है। आत्मा का महान् बल ज्ञान के द्वारा ही प्रगट होता है। इस ज्ञानबल के द्वारा ही व्यक्ति बड़े से बड़े भय को मिटाकर कर्मों से, दुर्व्यसनों और दुर्गुणों से जूझ पडता है, निर्भय होकर हर खतरे को उठाने के लिए तैयार हो जाता है।

क्या लौकिक और क्या लोकोत्तर सभी उन्नतियों का मूल ज्ञान है। "सम्यग्ज्ञानपूर्विका सर्वपुरुषार्थ सिद्धिः।" - समस्त पुरुषार्थों में सिद्धि या सफलता पहले सम्यग्ज्ञान होने पर ही मिलती है। सम्यग्ज्ञान होने पर व्यक्ति शरीर पर मोह-भ्रमत्व न करके शरीर और आत्मा का भेदविज्ञान अनायास ही कर लेता है। आत्मा के सम्पूर्णज्ञान द्वारा ब्रह्माण्ड की जर्ने-जर्ने की बात आँखों से देखे या कानों से सुने बिना ही एक जगह बैठे-बैठे जान लेना ज्ञान की शक्ति का ही तो चमत्कार है।

ज्ञानदान देने वाला व्यक्ति आदाता के कोटि-कोटि जन्मों के पाप-तापों को दूर करने में सहायक बनता है, वह एक जन्म के ही नहीं, अनेकानेक जन्म के दुःखों के निवारण में सहायता करता है। क्योंकि जैनागमों के अनुसार प्राप्त किया हुआ ज्ञान केवल इस जन्म तक ही नहीं, अगले अनेकानेक जन्मों तक साथ रहता है। एक व्यक्ति को दिया गया अन्नदान, औषधदान या अभयदान तो केवल एक जन्म के एक शरीर की ही रक्षा करता है, लेकिन ज्ञानदान तो अनेक जन्मों के शरीर और खासकर आत्मा की रक्षा करता है। इससे अन्दाजा लगाया जा सकता है कि ज्ञानदान प्रत्येक प्राणी के लिए कितना अधिक उपयोगी, अनिवार्य एवं कष्ट निवारक है। अन्नदान, औषधदान आदि तो व्यक्ति को किसी-किसी

अवसर पर ही अपेक्षित होते हैं, लेकिन ज्ञानदान तो प्रत्येक प्रवृत्ति, प्रत्येक अवसर और हर क्रिया में उपयोगी, अनिवार्य एवं सुखवर्द्धक होने से प्रतिक्षण अपेक्षित होता है। अलौकिक ज्ञानदान तो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ही है, लौकिक, ज्ञानदान भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है।

अलौकिक ज्ञानदानदाता प्रायः साधु-साध्वी, श्रमण-श्रमणी होते हैं। उनके निमित्त से अनेक भव्य जीवों को प्रतिबोध मिलता है। क्योंकि वे ही अध्यात्म ज्ञान प्राप्त करते हैं और दूसरों को प्रतिबोध देते हैं। सामान्य गृहस्थ इतना उच्च कोटि का ज्ञानवान् विरला ही मिलता है। हत्यारे एवं पापी बने हुए अर्जुनमालि की जब भगवान् महावीर ने आत्मज्ञान दिया तो उसकी सोई हुई आत्मा जाग उठी और वह मुनि बनकर तप-त्याग और संयम की साधना में अपने आपको झूँक देता है। कितनी पीड़ा होती है, जब वह राजगृह नगर में आहार के लिए जाता है और उसे सन्मानपूर्वक आहार के बदले गालियाँ, मुक्के, लाठियों एवं ढेलों का प्रहार मिलता है। आहार-पानी भी पर्याप्त नहीं मिलता। परन्तु भगवान् महावीर के द्वारा दिये हुए आत्मा और शरीर के भेदविज्ञान के बलपर अर्जुन मुनि समभाव में स्थिर रहकर अपने समस्त कर्मों को केवल छह महिनों में काट देता है और केवल ज्ञान प्राप्त कर सिद्ध, बुद्ध, मुक्त हो जाता है। इसी प्रकार चिलातीपुत्र को, दृढ़प्रहारी को एवं अनेक हत्यारों तथा पापात्माओं को आत्मज्ञानी मुनिवरों से ज्ञान प्राप्त हुआ और उन्होंने अपनी आत्मा का कल्याण कर लिया, साध्य को प्राप्त कर लिया। महात्मा बुद्ध ने अंगुलिमाल डाकू को ज्ञानदान देकर उसका जीवन बदल दिया, अंगुलिमाल डाकू से भिक्षु बन गया। इसी प्रकार कई वेश्याएँ भी स्थूलिभद्र जैसे मुनिवरों से ज्ञान प्राप्त करके अपना-आत्म-कल्याण कर सकी। ईसामसीह के द्वारा भी जेकसन जैसे अनेक पतित व्यक्ति बोध पाकर सुधर गए।

जैनदर्शन के उद्भट विद्वान एवं समदर्शी आचार्य हरिभद्र चितौड़ के राजपुरोहित थे। विद्वत्ता का अत्यन्त अभिमान था। उनकी यह प्रतिज्ञा थी कि “जो मुझे ऐसे श्लोक का अर्थ बताए जिसका अर्थ मुझे न आता हो, मैं उसका शिष्य बन जाऊँगा।” एक बार वे जैन साध्वियों के उपाश्रय के पास से गुजर रहे थे कि अचानक उनके कानों में एक प्राकृत गाथा पड़ी, बहुत प्रयत्न करने पर भी

वे इसका अर्थ समझ न पाए। अतः वे उपाश्रय में पहुँचे और गुरुणी श्री याकिनी महत्तरा के सामने हाथ जोड़कर खड़े हो गए, बोले - “माताजी ! अभी अभी आप जिस गाथा का उच्चारण कर रही थीं, वह गाथा और उसका अर्थ मेरी समझ में नहीं आया, सुनाने की कृपा करिए।” साध्वी जी ने गाथा का उच्चारण किया और उसका अर्थ बताया।^१ अर्थ सुनकर हरिभद्रजी का गर्व उतर गया। वे तुरन्त ही साध्वीजी को नमस्कार करके बोले - “माताजी ! आज से आप मेरी गुरुणी हैं, मुझे अपना शिष्य बना लीजिए।” साध्वीजी बोली - “आपको शिष्य तो हमारे गुरु महाराज ही बना सकते हैं। उनके पास मैं आपको ले चलती हूँ।” बस, हरिभद्र गुरुजी के पास दीक्षित हो गए। जैन दर्शन के अद्वितीय विद्वान् आचार्य हुए। दशवैकालिक आदि पर वृत्ति लिखी। किन्तु ज्ञानदानदात्री अपनी उपकारिणी गुरुणी को भूले नहीं। हर ग्रन्थ की समाप्ति पर अपने आपका परिचय धर्ममाता ‘याकिनी महत्तरासूनु’ (याकिनी महत्तरा का धर्मपुत्र) से दिया।

इस प्रकार के ज्ञानदान के अनेक उदाहरण संसार के इतिहास में मिलते हैं, जिनके ज्ञानदान से ही सृष्टि का कायापलट हुआ है, अनेकों आत्माओं ने प्रतिबोध पाया है और संसार-सागर से तर गए हैं।

यहाँ कुछ उदाहरण हम प्रस्तुत करेंगे -

जैन जगत् के ज्योतिर्धर आचार्यश्री सिद्धसेन दिवाकर को अपनी विद्वत्ता का गर्व था। उनके पांडित्य पर मुग्ध होकर उज्जैन के राजा ने उनके सम्मान के लिए पालकी और उसके उठाने वाले कहार अपनी ओर से दिये। सिद्धसेन आचार्य ने सोचा - “क्या बुरा है, राजा सहज भाव से देता है तो ! उन्होंने साधु जीवन की मर्यादा का कोई विचार नहीं किया।” अब वे पालकी में बैठकर ही भ्रमण करने लगे। ऐसे समर्थ आचार्य को कौन रोकता ? उनके गुरुदेव आचार्य श्री वृद्धवादी को जब यह पता लगा कि सिद्धसेन पालकी में बैठकर भ्रमण करता है तो उन्हें बड़ा दुःख हुआ। कैसे समझाया जाय, विद्वान शिष्य को ? एक दिन पालकी उठानेवाला एक कहार अनुपस्थित था, यह देखकर वृद्धवादी सामान्य मजदूर के वेष में उन कहारों से जा मिले और कहा - “आज मुझे भी पालकी

१. चक्की दुग्गं हरिपणगं पणगं चक्कीण केसवो चक्की ।

केसव चक्की केसव दुचक्की केसी अ चक्की अ ॥

उठाने देना !” उन्होंने स्वीकार कर लिया । पालकी के चार पायों में से अगले दाहिने पाये के नीचे उन्होंने अपना कन्धा लगा दिया । कुछ ही दूर चले होंगे कि आचार्य सिद्धसेन ने इन्हें वृद्ध देखकर विश्राम देने के लिहाज से कहा — “स्कन्धस्ते यदि बाधति..... !” - अगर तुम्हारा कन्धा दुःखता ही तो.... वृद्धवादी आचार्य तुरन्त बोले —

“स्कन्धो मे नहि बाधते, किन्तु बाधति तव बाधते ।” — “मेरा कन्धा नहीं दुःखता, किन्तु तुम्हारा ‘बाधति’ प्रयोग अशुद्ध होने से वह पीड़ा दे रहा है ।” यह सुनते ही सिद्धसेन विचार में पड़े कि ऐसी गलती निकालने वाले गुरुदेव के सिवाय और कौन हो सकते हैं ? उन्होंने नीचे झुककर वृद्धवादी के चेहरे की ओर देखा तो तुरन्त पहचान गये और पालकी रुकवाकर नीचे उतरे और गुरुचरणों में गिरे । बोले - “गुरुदेव ! क्षमा करें, मैंने आपको इतनी तकलीफ दी ।” “वत्स ! मुझे तो कोई बात नहीं, पर इन बेचारे कहारों को कितनी पीड़ा होती होगी, जिनके कन्धों पर बैठकर तू रोज चलता है ? चाहे ये कहते न हो, परन्तु अहिंसक साधु का यह कर्तव्य नहीं है ।” सिद्धसेन को तुरन्त प्रतिबोध लग गया और उन्होंने उसी समय पालकी सदा के लिए छोड़ दी और कहारों को छुट्टी दे दी । गुरुदेव के द्वारा दिये हुए ज्ञानदान के लिए सिद्धसेन ने अत्यन्त आभार माना ।

इसी प्रकार आचार्य हरिभद्रसूरि को भी एक वृद्ध आर्या ने ज्ञान देकर १,४४४ बौद्धों को कड़ाह में होमने के हिंसामय संकल्प का प्रायश्चित्त करने के लिए प्रेरित किया ।

गोस्वामी तुलसीदासजी को उनकी पत्नी रत्नावली ने ऐसा अद्भुत ज्ञानदान दिया कि उनका स्त्री शरीर पर मोह बिलकुल शान्त हो गया, वे उस बोध से प्रेरित होकर सन्त बन गये और जगत् को ‘रामचरितमानस’ जैसा अनुपम भक्ति-प्रेधान ग्रन्थ दे गये ।

इसके अलावा अलौकिक ज्ञानदान का एक पहलू यह भी है कि प्राचीनकाल में जब हस्तलिखित पत्राकार ग्रन्थ या तो ताड़पत्र या भोजपत्र पर लिखे जाते थे, इस कारण शास्त्र - जो सम्यग्ज्ञान के अनुपम साधन थे, सर्वत्र उपलब्ध नहीं थे । उन्हें प्राप्त करने के लिए साधु-साध्वी दूर-सुदूर भ्रमण किया

करते थे। लिखने वाले भी बहुत कम थे और श्रद्धालु सम्पन्न श्रावक ही उन्हें लिखाते थे और श्रमण-श्रमणियों या मुनि-आर्यिकों को अत्यन्त श्रद्धा से देते थे। इसीलिए शास्त्रदान के रूप में ज्ञानदान का लक्षण आचार्य वसुनन्दी ने किया है -

— जो आगम, शास्त्र आदि लेहियों (लिपिकारों) से लिखवाकर यथायोग्य पात्रों को दिये जाते हैं, उसे शास्त्रदान जानना चाहिए तथा जिनवाणी का अध्ययन कराना-पढ़ाना भी शास्त्रदान है।^१ शास्त्रदान ज्ञानदान का ही एक महत्त्वपूर्ण अंग है। जिस युग में ताड़पत्र या भोजपत्र पर लिखित शास्त्र या आगम बहुत ही कम उपलब्ध होते थे, तब कोई भी श्रद्धालु श्रावक अपने श्रद्धेय गुरुजनों को लेखकों से लिखाए हुए शास्त्र इसलिये देते थे कि हमारे गुरुवर इस शास्त्र का अध्ययन, मनन, चिन्तन करके तत्त्वों का यथार्थ स्वरूप जानेंगे, दूसरों को व्याख्यान, उपदेश आदि द्वारा वस्तु का यथार्थस्वरूप समझायेंगे। इसलिये शास्त्रदान देने वाला बहुत ही पुण्योपाजन तथा कर्म निर्जरा कर लेता था। ज्ञान और खासकर शास्त्रज्ञान के बिना साधु का जीवन अँधेरे में रहता है, वह स्वयं संशय और मोह में पड़ा रहता है। इसीलिए आचार्य कुन्दकुन्दाचार्य ने प्रवचनसार में बताया है - “आगमचक्रू साहू।” - साधु का नेत्र आगम होता है। शास्त्रज्ञान पाकर ही वह तत्त्व निर्णय कर पाता है। इसलिये शास्त्रदान ज्ञानदान का एक विशेष रूप है। क्योंकि शास्त्र भी ज्ञान को प्रादुर्भूत करने का एक विशिष्ट साधन है।

गृहस्थ में ज्ञानदान, शास्त्रज्ञान देनेवाले विरले व्यक्ति होते हैं ऐसा विरल व्यक्तित्व जिनका भाग्य से मुझे सान्निध्य मिला हुआ है उनका नाम है अहमदाबाद के पूज्य सुनंदाबहेन वोहोरा। वे स्वयं शास्त्रज्ञ हैं और शास्त्र लेखक भी। वे कई वर्षों से निःस्मृह भाव से ज्ञानदान दे रहे हैं। करीबन २० वर्ष तक उन्होंने विदेशों में जाकर वहाँ पर बसनेवाले लोगों को धर्मशास्त्र तथा धर्मग्रन्थों (नवतत्त्व, तत्त्वार्थ, कर्मग्रन्थ आदि) का अध्ययन कराया। काफ़ी धर्मग्रन्थों तथा धर्मशास्त्रों का सरल भाषा में गुजराती अनुवाद किया। ८० से ऊपर किताबें लिखकर जनता को शास्त्रज्ञान दे रहे हैं। अहमदाबाद में तत्त्वज्ञान के लिए धार्मिक वर्ग

१. आगम-सत्याई लिहाविऊण दिज्जति जं जहाजोगं।

तं जाण सत्थदाणं जिणवयणज्जावणं च तहा ॥२३७ - वसुनन्दी श्रावकाचार

चलाते हैं जिसमें आज ९० वर्ष की उम्र में भी उनकी शास्त्रीय एवं धार्मिक साहित्य सरिता सबेरे ९ बजे से रात ९ बजे तक अनेक आत्माओं को पवित्र करती रहती है। ऐसा ज्ञानदान कोटि-कोटि जन्मों के पाप-तापों को दूर करने में सहायक बनता है, वह एक जन्म के ही नहीं, अनेकानेक जन्म के दुःखों के निवारण में सहायता करता है।

सचमुच यह ज्ञानदान की प्याऊ है जहाँ अनेक ज्ञान पिपासु आत्माएँ अपनी ज्ञान पिपासा मिटाती हैं।

यही कारण है कि ऐसे शास्त्रदानी-ज्ञानदानी द्वारा प्रदत्त शास्त्रदान का आचार्य अमितगति ने महान् फल बताया है —

शास्त्रदान दाता को ज्ञानावरणीय कर्म का सर्वथा क्षय हो जाने पर चराचर विश्व को जाननेवाला केवलज्ञान प्राप्त होता है, उसकी तुलना में दूसरे ज्ञान प्राप्त होने का तो कहना ही क्या ? शास्त्रदान देने वाला सज्जनों या सन्तों में पूजनीय आदरणीय होता है, मनीषी उसकी सेवा करते हैं। वह वादियों को जीतने वाला, सभा का रंजनकर्ता, वक्ता, नवीन ग्रन्थ रचयिता कवि और माननीय होता है : उसकी शिक्षाएँ (उपदेश) विख्यात हो जाती है।^१

यह है शास्त्रदानी या ज्ञानदानी का माहात्म्य ! इसी बात को पद्मनंदिपंचविंशतिका में स्पष्ट किया है —

— उन्नत बुद्धि के धनी भव्य जीवों को पढ़ने के लिए भक्ति से जो पुस्तक दान दिया जाता है अथवा उन्हीं के लिए तत्त्व का व्याख्यान किया जाता है, इसे विद्वान् लोग श्रुताश्रित दान (शास्त्रदान या ज्ञानदान) कहते हैं। इस ज्ञानदान के सिद्ध (परिपक्व) होने पर कुछ ही भवों (जन्मों) में मनुष्य उस केवलज्ञान को प्राप्त कर लेते हैं, जिसके द्वारा सम्पूर्ण विश्व साक्षात् देखा जाता है

१. लभ्यते केवलज्ञानं यतो विश्वावभासकम् ।

अपरज्ञानलाभेषु कीदृशी तस्य वर्णना ॥

शास्त्रदायी सतां पूज्यः सेवनीयो मनीषिणाम् ।

वादी चाग्नी कविर्मान्यः ख्यातशिक्षः प्रजायते ॥५०॥ — अमितगति श्रावकाचार

तथा जिसके प्रकट होने पर तीनों लोकों के प्राणी उत्सव की शोभा मनाते हैं ।^१

केवलज्ञान तो दूर की बात है, श्रुतदान = शास्त्रज्ञान देने पर श्रुतकेवली तो साक्षात् हो जाता है । जैसा कि सागारधर्मामृत में कहा है — “श्रुतात्स्यात् श्रुतकेवली ।” — शास्त्रदान (ज्ञानदान) देने से दाता श्रुतकेवली हो जाता है ।

यह है अलौकिक ज्ञानदान का लेखा-जोखा जो साधु-साध्वियों द्वारा साधु-साध्वियों को अथवा सद्गृहस्थ विद्वानों, शास्त्रज्ञों या श्रद्धाशील शास्त्रदानियों द्वारा दिया जाता है और जो महाफलदायी है ।

ज्ञानदान के एक मुख्य पहलू अलौकिक ज्ञान अर्थात् आत्मज्ञान, (आध्यात्मिक ज्ञानदान) पर अपन ने विचार किया । वास्तव में ज्ञान स्वयं ही एक अलौकिक वस्तु है, किन्तु पात्र और विषयभेद के कारण उसके दो पहलू हो गये हैं । जिस ज्ञान द्वारा सीधा आत्म-दर्शन अथवा आत्म-दृष्टि प्राप्त होती है वह अलौकिक ज्ञान है और जिस ज्ञान द्वारा व्यावहारिक बुद्धि का विकास एवं विस्तार होता है और फिर हिताहित का भान होता हो वह लौकिक ज्ञान है । अब हम ज्ञानदान के दूसरे पक्ष-लौकिक ज्ञानदान पर विचार करेंगे । यद्यपि इसका क्षेत्र भी काफी व्यापक है और जीवन में लौकिक ज्ञानदान भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है ।

लौकिक ज्ञानदान के भी अलौकिक ज्ञानदान की तरह तीन मुख्य पहलू हैं —

- (१) किसी विद्वान या तत्त्वज्ञ द्वारा कोई ऐसी मार्मिक बात कह देना, जिससे उस व्यक्ति को एकदम प्रेरणा मिल जाये और वह एकदम बदल जाये ।
- (२) शास्त्र, जिनवचन या धर्मग्रन्थ का वाचन करके ज्ञानदान देना या धार्मिक ज्ञान सिखाना-पढ़ाना ।
- (३) व्यावहारिक ज्ञान में दक्ष बनाना या पाठशाला, विद्यालय, छात्रालय^१ या उच्चतम विद्यालय खोलना-खुलवाना, विद्यादान देना-दिलाना, जिससे

१. व्याख्याता पुस्तकदानमुन्नतधियां पाठाय भव्यात्मनां ।

भक्त्या यत्क्रियते श्रुताश्रयमिदं दानं तदाहुर्बुधाः ॥

सिद्धेऽस्मिन् जननान्तरेषु कतिपु त्रैलोक्यलोकोत्सव-

श्री कारिप्रकटीकृताखिलजगत् कैवल्यभाजो जनाः ॥७/१०॥ - प.प.

व्यक्ति धार्मिक ज्ञान भी साथ में ले सके ।

ये तीनों ज्ञानदान के पहलू हैं, जिनमें एक या दूसरो प्रकार से ज्ञान प्राप्त होता है । पहले पहलू में व्यक्ति सीधा ही किसी को ज्ञान देने नहीं बैठता, न कोई उद्देश्य ही होता है, परन्तु तात्कालिक प्रसंग पर कोई ऐसी चुभती बात कह डालता है, जिससे सुनने वाले को सहसा ज्ञानदान मिल जाता है अथवा वह वाक्य उसकी आत्मा को झकझोरकर जगा देता है । ऐसे दान की महिमा सभी दोनों से बढ़कर बताई है —

— जल, अन्न, गाय, पृथ्वी, निवास, तिल, सोना और घी इन सबके दान की अपेक्षा ज्ञानदान विशिष्ट (बढ़कर) है ।^१

ऐसे समय में जब मनुष्य किसी उलझन या पेशोपेश में संशयग्रस्त हो, भ्रान्त हो अथवा विपरीत मार्ग पर चला जा रहा हो, कोई भी अच्छी सलाह, परामर्श, सुझाव या उचित मार्गदर्शन ज्ञानदान का काम करता है ।

ज्ञानदान का पहला पहलू सीधा जीवनस्पर्शी है । जैनशास्त्र में कई ऐसे उदाहरण दिये गये हैं, जिनमें खासकर यह बताया गया है कि महापुरुष के एकवचन से उक्त श्रोता को संसार से विरक्ति हो गई अथवा उसने अपने गृहस्थ जीवन में भी परिवर्तन कर लिया । सुबाहुकुमार, आनन्द श्रमणोंपासक, कामदेव आदि के उदाहरण मौजूद हैं, इसकी साक्षी के रूप में राजा प्रदेशी को तो केशी श्रमण मुनि के वचन सुनते ही हृदय में जागृति आ गई । राजा प्रदेशी, जो एक दिन क्रूर, अधार्मिक और खूंखार बना हुआ था, मुनि के उपदेश सुनते ही एकदम बदल गया । वह शान्त, दयालु, धार्मिक और दानी बन गया । केशी श्रमण का ज्ञानदान सफल हुआ ।

यही तो ज्ञानदान है, जिससे व्यक्ति के जीवन में हिताहित का भान हो, जीव-अजीव आदि तत्त्वों का बोध हो और पाप या अधर्म कार्य से व्यक्ति विरत हो । आचार्य हेमचन्द्र ने ज्ञानदान का यही लक्षण किया है —

— वास्तव में ज्ञानदान प्राप्त होते ही मनुष्य को अपने हिताहित का बोध

१. सर्वेषामेव दानानां ब्रह्मदानं विशिष्यते ।

वार्यन्न-गो-मही-वास्तितलकांचन-सर्पिषाम् ॥ — मनुस्मृति ४/२३३

हो जाता है और वह अहित या अकर्तव्य से दूर हट जाता है ।^१

मारवाड़ का एक राजा शिकारी के वेष में शिकार खेलने जा रहा था । एक चारण जो फल तोड़ने के लिए एक पेड़ पर चढ़ा हुआ था, उसने राजा को किसी हिरन के पीछे घोड़ा दौड़ाते हुए देखा तो उसका हृदय व्यथित हो गया । वह चाहता था कि राजा को वह उपदेश दे, किन्तु ऐसे समय में राजा उपदेश सुनने के मूढ़ में नहीं था । जंगल का रास्ता जनशून्य होने के कारण आगे जाकर एक पगडण्डी के रूप में परिणत हो गया, कुछ दूर और चलने पर तो वह पगडण्डी भी बन्द हो गई । राजा पशोपेश में पड़कर इधर-उधर देखने लगा । ऊपर देखा तो एक व्यक्ति फलदार पेड़ पर चढ़ा हुआ दिखाई दिया । राजा ने उससे पूछा — “फलां गाँव की बाट (रास्ता) कौन-सी है ?” चारण ने अच्छा अवसर देखकर निम्नोक्त दोहे में उत्तर दिया —

“जीव मारतां नरक है जीव वचातां सग्न ।

हूँ जाणूँ दोई वाटडी, जिण भावे तिण लग्न ॥”

राजा सुनते ही चौंक पड़ा । चिन्तन मन्थन होने लगा हृदय में । चारण की बात उसके हृदय में सीधी उतर गई । उसी दिन से उसने शिकार खेलना छोड़ दिया । दयालु बन गया ।

इसी प्रकार जैन इतिहास की एक प्रसिद्ध घटना है — महाकवि धनपाल जैन श्रावक थे । वे बड़े ही दयालु और शान्त थे । महाराजा भोज के दरबार के नवरत्नों में से वे भी एक थे । एक दिन राजा भोज बड़े आग्रह के साथ शिकार खेलने के लिए धनपाल कवि को साथ ले गया । राजा ने एक भागते हुए हिरन को बाण से बाँध डाला और वह भूमि पर गिरकर प्राणान्त वेदना से छटपटाने लगा । इस प्रसंग पर साथ के दूसरे कवियों ने राजा की प्रशंसा में कविताएँ पढ़ीं । महाकवि धनपाल चुपचाप खड़े रहे । आखिर राजा ने स्वयं प्रसंगोचित वर्णन के लिए धनपाल कवि से कहा । महाकवि ने राजा को बोध देने की दृष्टि से तत्कालीन प्रसंग का निर्भयतापूर्वक उपयोग करते हुए कहा —

१. ज्ञानदानेन जानाति जन्तुः स्वस्थ हिताहितम् ।

वेत्ति जीवादि तत्त्वानि, विरति च समश्नुते ॥ — त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित

“रसातलं यातु तदन्न पौरुषं, कुनीतिरेषा शरणोत्यदोषान् ।
निहन्यते यद् बलिनाऽतिदुर्बलो, हहा महाकष्टमराजकं जगत् ॥”

— ऐसा पौरुष (वीरत्व) पाताल में जाये । निर्दोष प्राणियों को मारना कुनीति है । संसार में यह अराजकता छाई हुई है कि एक बलवान अत्यन्त दुर्बल को मार डालता है । हाय ! इसे देखकर बड़ा कष्ट होता है ।

राजा भोज ने जब अपनी भर्त्सना सुनी तो वे तिलमिला उठे । उन्होंने नम्रता के स्वर में कहा — “कविराज ! यह क्या कहते हो ? तुमने तो उलटा ही राग छेड़ दिया ।” धनपाल कवि ने दृढ़ता के स्वर में कहा —

“वैरिणोऽपि हि मुच्यन्ते प्राणान्ते तृणभक्षणात् ।
तृणाहाराः सदैवैते हन्यन्ते पशवः कथम् ॥”

— देहान्त के समय अगर शत्रु भी मुँह में तिनका दबाकर शरण में आ जाते हैं, तो वे भी छोड़ दिये जाते हैं किन्तु ये प्राणी तो बेचारे सदैव मुँह में तिनका दबाए रहते हैं, तृणाहारी हैं, इन पशुओं को क्यों मारा जाता है ?

राजा भोज के हृदय पर ठीक समय पर इस सत्योपदेश की करारी चोट पड़ी । राजा के मन में दयाभाव जाग्रत हुआ और उन्होंने शिकार खेलने का त्याग कर दिया ।

यह था ज्ञानदान का प्रभाव, जिसने राजा का जीवन ही बदल दिया । अब लौकिक ज्ञानदान के दूसरे पहलू पर विचार करें ।

महात्मा गांधी जी एक बार ईसाई पादरियों तथा गृहस्थों के सम्पर्क में आकर तथा उनके द्वारा प्रत्यक्ष रुग्णसेवा आदि देखकर ईसाई धर्म से प्रभावित हो गए थे । वे ईसाई धर्म स्वीकार करने को आतुर थे, तभी उनके मन में एक स्फुरणा आई कि “ईसाई बनने से पहले क्यों न एक बार अपनी शंकाओं का समाधान गुजरात के विद्वान् विचारक श्री राजचन्द्र भाई कवि से कर लिया जाये ।” फलतः महात्मा गांधीजी ने उन्हें २७ प्रश्न लिख भेजे, जिनका समुचित समाधान पाकर गांधीजी का ईसाई बनने का विचार बदल गया । क्या श्रीमद् राजचन्द्रजी द्वारा दिया गया यह ज्ञानदान कम महत्त्वपूर्ण था ? इस ज्ञानदान ने महात्मा गांधी जी का जीवन ही बदल दिया ।

कई बार कई व्यक्ति शास्त्र के उपदेश से या सामान्य व्याख्यान से नहीं मानते, उनका परिवर्तन युक्तियों से हो सकता है। ऐसी युक्ति से सन्त ही ज्ञानदान देकर कुरूडिग्रस्त या किसी कुप्रथा के गुलाम बने हुए व्यक्ति को बदल सकते हैं।

गुजरात के सिंहासन पर कुमारपाल सम्राट आरूढ थे। आचार्य हेमचन्द्राचार्य के वे परम भक्त बने हुए थे। कुमारपाल राजा को अहिंसा की प्रेरणा आचार्य हेमचन्द्राचार्य के निमित्त से मिली थी। परन्तु कुमारपाल राजा के सामने एक समस्या आ खड़ी हुई। गुजरात के चौलुक्य वंशीय क्षत्रियों की कुलदेवी के सामने प्रति वर्ष नवरात्रि के दिनों में सप्तमी, अष्टमी और नवमी को सैकड़ों पशुओं की बलि दी जाती थी। यह हिंसक कुप्रथा वर्षों से चली आ रही थी। चौलुक्य क्षत्रिय माताजी की प्रसन्नता से जितने निर्भय थे, उतने ही उसके कोप से वे भयभीत थे। उनकी दृढ़ मान्यता थी कि माता कुपित होगी तो चौलुक्यवंश नष्ट हो जायेगा, पाटण पर-चक्र के आक्रमण से ध्वस्त हो जायेगा। ज्यों-ज्यों उत्सव के दिन निकट आते गये, त्यों-त्यों क्षत्रियों के दिलों पर भय की घटा छाने लगी। अहिंसक कुमारपाल के सामने धर्म संकट था कि “यह बकरों और पाड़ों की हिंसा कैसे बन्द हो और बन्द हो तो कहीं देवी का कोप न उतर पड़े।”

राजा कुमारपाल को आचार्य हेमचन्द्राचार्य के मार्गदर्शन पर पूर्ण विश्वास था। आचार्य हेमचन्द्र को आसोज सुदी ६ के दिन होने वाली सामन्तों की सभा में मार्गदर्शन के लिए आमंत्रित किया गया। ठीक समय पर सभा जुड़ी। आचार्य हेमचन्द्राचार्य पधारे। सभी ने खड़े होकर उनका सम्मान किया। सभी पूर्वोक्त समस्या को हल करने के लिए उत्सुक थे और आचार्य के मुखमण्डल पर दृष्टि गड़ाये हुए थे। तभी आचार्यश्री की पवित्र वाणी स्फुरित हुई — “सज्जनों ! माताजी को भोग देना ही होगा। बलि दिये बिना कैसे काम चलेगा ? पशुओं के साथ-साथ इस वर्ष माताजी को मिठाई भी अधिक चढ़ानी होगी। कुलदेवी को प्रसन्न रखना है। माताजी का कोप कैसे सहन होगा। अतः बलि अवश्य दें।” माँसभक्षी पुजारियों के हृदय प्रसन्नता से भर आये। अहिंसोपासक आचार्य की हिंसा के क्रम में सम्मति ! परन्तु आचार्यश्री के मार्गदर्शन पर सबको विश्वास था। उन्होंने आगे कहा — “बलि दो, पर हाथ रक्त से रँगकर नहीं। जिन जीवों को

चढ़ाना हो, उन्हें जीते जी माताजी के चरणों में चढ़ा दो। मन्दिर के द्वार बन्द कर दो। माताजी को अपनी इच्छानुसार भोग लेने दो। आज तक तुमने मुर्दों का भोग चढ़ाया है, अब जीवितों का भोग चढ़ाओ। पशुओं के अक्षत देह को माता के चरणों में चढ़ाओगे तो वह विशेष प्रसन्न होगी।" बात उचित थी, प्रयोग सुन्दर था। इसी दिन रात को माताजी के मंदिर में जीवित पशुओं को भर दिया गया। सभी दरवाजे बन्द कर दिये गये। मंदिर के बाहर सभी भक्तजन भजन करते हुए रात्रि जागरण करने लगे। सप्तमी का सुनहला प्रभात! सूर्य का प्रतिबिम्ब माताजी के मंदिर के स्वर्ण-कलश पर पड रहा था। मंदिर के द्वार पर जनता खचाखच भरी हुई थी। सभी यह देखने को उत्सुक थे कि रात को बलि चढ़ाये हुए पशुओं का क्या हुआ। गुर्जरेश्वर की आज्ञा होते ही मंदिर के द्वार खोले गये। मंदिर की दमघोंट हवा में घबराये हुए पशु बें-बें करते हुए बाहर निकल पड़े। पूर्ण प्रेम-भक्तिपूर्वक माता को नमन करके कुमारपाल ने कहा -- "प्रजाजनों! बलि की किसको जरूरत है? माता को या पुजारियों को? माँ तो माँ है, यह अपने निर्दोष और मूक बालकों के प्राण ले सकती है, भला? माँसलोलुप मनुष्य माता के नाम से क्रूर हिंसा करके बलि चढ़ाता है और स्वयं खा जाता है। देवी दयालु है, वह पशुबलि नहीं चाहती। अतः आज से माताजी के आगे पशुबलि बन्द।" प्रजा के नेत्रों में कुमारपाल राजा की अहिंसापूत वाणी सुनकर प्रसन्न थी, पुजारियों के मुख पर खिन्नता थी।

यह हेमचन्द्राचार्य के द्वारा ज्ञानदान का चमत्कार था, जिससे वर्षों से चली आई हुई हिंसक कुप्रथा को बन्द करा दिया।

अब हमें लौकिक ज्ञान के तीसरे पहलू पर गहराई से विचार करना है। यद्यपि व्यावहारिक शिक्षण, अध्यापन या विद्या का दान जिस ज्ञान से जीवन-परिवर्तन हो जाये या जो शास्त्रीय ज्ञान आत्मा-अनात्मा तथा तत्त्वों का यथार्थ बोध करा दे, ऐसे सम्यग्ज्ञान की बराबरी तो नहीं कर सकता। फिर भी व्यावहारिक ज्ञान के साधनों में विद्यालय, विद्यालय की सारी व्यवस्था, स्वयं पढ़ना, दूसरों से अध्ययन कराना, छात्रवृत्तिदेना, विद्यार्थियों में चरित्र-निर्माण तथा धर्मश्रद्धावृद्धि का ध्यान रखना आदि सब व्यवस्थाएँ अपेक्षित होती हैं। गृहस्थ भी इस प्रकार का व्यावहारिक ज्ञान पाकर धार्मिक और आध्यात्मिक ज्ञान

की ओर मुड़ता है। यदि उसे व्यावहारिक ज्ञान नहीं होता और अन्धश्रद्धावश बिना ज्ञान के कोई भी धर्मक्रिया करता है तो उसका फल वह सम्यक् नहीं प्राप्त कर सकता। इसीलिए कहा है —

“पढमं नाणं तओ दया ।”

— पहले ज्ञान हो, तब दया शोभा देती है और वह दया विवेकपूर्वक होती है। जब अन्तर में जागृति आ जाती है तो मनुष्य ज्ञान के सिवाय और कुछ नहीं माँगता।

रामकृष्ण मिशन ने जब सबसे पहले जिला मुर्शिदाबाद में संकट-निवारण का कार्य प्रारम्भ किया, तब स्वामी विवेकानन्द ने स्वामी श्रद्धानन्द जी को एक पत्र में लिखा — “सिर्फ कुछ गरीबों को चावल दे देने से काम नहीं चलेगा। चिरकाल से हमारे यहाँ दान दिया जाता है, तो भी सहायता माँगने वालों की भारत में कमी नहीं। आप सहायता के साथ कुछ शिक्षा भी देते हैं या नहीं? जब तक कमाने की शक्ति आने से पहले लोगों का विवाह होता रहेगा, तब तक इन भुखमरों के नंगे बच्चे की शिक्षा नहीं होगी। इसके सिवा लुच्चे-लफंगे भी अपने को गरीब बताकर ले जाते हैं। इसलिए खासतौर पर सावधानी रखकर सहायता देना चाहिए।”

इसीलिए विद्यादान ही हमारा पहला मुख्य कार्य है। सच है, अन्नदान से तो सिर्फ एक दिन का संकट दूर होता है, पर विद्यादान से जिन्दगी भर का दुःख टलता है।^१

यही कारण था कि विद्यादान में संलग्न पं. मदनमोहन मालवीयजी ने विद्या के लिए एक सुन्दर योजना जनता को अन्न-त्याग करने की सलाह देकर बनाई थी।

जब महामना पं. मदनमोहन मालवीय हिन्दू विश्वविद्यालय के लिए प्रयत्न कर रहे थे। उसी दौरान बहुत से योजनादक्ष लोगों ने एक योजना बनाई थी कि प्रत्येक एकादशी का व्रत रखे और उस दिन के भोजन का जितना अन्न

१. अन्नदानात्परं नास्ति, विद्यादानं ततोऽधिकम् ।
एकेन क्षणिका तृप्तिर्यावज्जीवं तु विद्यया ॥

बचे, उसे विद्या के निमित्त दान कर दें। उस समय २८ करोड़ हिन्दू थे। प्रति व्यक्ति प्रतिमास ८ आने दे तो १४ करोड़ रुपये मासिक आय हो सकती थी। इतनी अर्थराशि से तो कितने ही विश्वविद्यालय चल सकते थे।

इसलिए जो निर्धन, असहाय, अनाथ एवं पराश्रित बालकों को विद्यादान देता है दिलाता है, वह वास्तव में उस बालक को भविष्य की रोटी-रोजी का साधन देता है। इतना ही नहीं, प्रकारान्तर से वह उस बालक के जीवन में सुसंस्कारों तथा चरित्र-निर्माण का दान करता है।

भगवद्गीता में कहा है —

“ज्ञानवान् मां प्रपद्यते।” जो ज्ञानवान है, वही प्रभु को प्राप्त करता है। ज्ञान के लिए विद्यादान उत्तम उपाय है।

सचमुच, विद्यादान पाये हुए व्यक्ति के द्वारा विद्यादान में व्यय करना एक तरह से प्रतिदान है। ऋणमुक्ति का प्रकार है।

स्वीडन के इंजीनियर डॉ. एल्फ्रेड नोबेल की मृत्यु के पश्चात् अब भी उनके द्वारा छोड़ी हुई समर्पित सम्पत्ति से प्रति वर्ष विश्व के महान् कलाकारों, लेखकों, और आविष्कारकों को इनाम मिलता रहता है और मिलता रहेगा। यह भी विद्यादान का एक महत्त्वपूर्ण अंग है। इसी प्रकार अमेरिका के विश्वविख्यात तेल व्यवसायी जॉन डी. रोकफेलर नामक सर्वश्रेष्ठ धनी ने २ अरब रुपयों से अधिक शिक्षा प्रचार, चिकित्सा आदि में दान दिये। काफी लोग गुप्तदान के रूप में भी दान करते हैं।

इस प्रकार देश-विदेश में हजारों व्यक्ति ऐसे हैं, जो विद्या जैसे पवित्र कार्य में लाखों रुपये दान में देते हैं। दानवीर एण्ड्रयूज कार्नीगी स्वयं निर्धन अवस्था में कई पुस्तकालयों से पुस्तक ला-लाकर पढ़ते थे। किन्तु जब वे पढ़-लिखकर विद्वान हुए और अपने पुरुषार्थ के बल पर करोड़ों रुपयों की सम्पत्ति के मालिक बने तो उन्होंने अपनी सम्पत्ति का अधिकांश भाग जगह-जगह पुस्तकालयों के निर्माण में विद्यादान के रूप में व्यय किया। यह भी विद्यादान का एक महत्त्वपूर्ण अंग है।

सचमुच लौकिक ज्ञानदान का भी अद्भुत महत्त्व है। लौकिक ज्ञानदान भी परम्परा से मुक्ति का कारण बन जाता है।

अभयदान की महिमा

दान का चौथा भेद अभयदान है। संसार का इतिहास बताता है कि प्रत्येक युग में निर्बलों पर सबलों द्वारा अत्याचार होते रहे हैं, उनके प्राणों को अपने अहंकार पोषण या अपने मनोरंजन अथवा ईर्ष्या-द्वेषवश लूटा गया है, जिन्दगी के साथ खिलावड़ की गई है। अपनी किसी कुप्रथा के पालन या स्वार्थ-साधना या निहित स्वार्थ को पूर्ण करने के लिए निर्दोष निर्बल प्राणियों का वध किया गया है, अपने से विरोधी विचारधारा वाले व्यक्तियों को अधिकार के बल पर कुचला गया है ऐसी दशा में समस्त मनुष्यों को ही नहीं, सारे प्राणियों को भी अभयदान की जरूरत है। हिरोशिमा और नागाशाकी पर गिराये हुए अणु बमों ने जो तबाही मचाई है, उससे तो छोटे-बड़े सभी देशों को अभयदान की आवश्यकता महसूस होने लगी है। क्योंकि सभी राष्ट्रों को भय है कि अणु-युद्ध छिड़ जाने पर लाखों मनुष्य एवं पशु जान से मारे जायेंगे और जो बाकी बचेंगे, वे भी अंगविकल और मरणासन होकर जीयेंगे।

आहारदान, औषधदान और ज्ञानदान की अपेक्षा अभयदान का मूल्य अधिक है। आहारदान (अन्नदान) से मनुष्य की क्षणिक तृप्ति हो सकती है, औषधदान से एक बार रोग मिट सकता है और ज्ञानदान से व्यक्ति का जीवन अच्छा बन सकता है, किन्तु ये सब दे देने पर भी मनुष्य के सामने प्राणों का संकट आ पड़ा हो तो उस समय वह इन्हें छोड़कर प्राणों को चाहेगा, वह चाहेगा कि ये चाहे न मिले, परन्तु प्राण मिल जायें, वे बच जायें, इसीलिए महाभारत में कहा है —

— भूमिदान, स्वर्णदान, गोदान या अन्नदान आदि उतने महत्त्वपूर्ण नहीं हैं, जितना अभयदान को समस्त दानों में महत्त्वपूर्ण दान कहा जाता है।^१

१. न भूप्रदानं, न सुवर्णदानं, न गोप्रदानं, न तथान्नदानम् ।

यथा वदन्तीह महाप्रदानं सर्वेषु दानेष्वभयप्रदानम् ॥ — महाभारत

सचमुच इस दुनियाँ में जमीन, सेना, अन्न और गायों का दान देनेवाले तो आसानी से मिल सकते हैं, लेकिन भयभीत प्राणियों की प्राणरक्षा करके उन्हें अभयदान देने वाले व्यक्ति किरले ही मिलते हैं ।^१

— दूसरे दोनों से मनुष्य या प्राणी अस्थायी संतोष पा जाता है या कुछ देर के लिए उसका लाभ उठा सकता है, परन्तु अभयदान तो जिन्दगी का दान है ।^२

बड़े-बड़े दानों का फल समय बीतने पर क्षीण हो जाता है, लेकिन भयभीत प्राणियों को अभयदान का फल कभी क्षीण नहीं होता । वह तो सारी जिन्दगी भर चलता है और सब दानों को मनुष्य या प्राणी भूल जाते हैं, लेकिन अभयदान को नहीं भूलते । अन्न, भूमि, स्वर्ण, गाय या विद्या आदि दान तो सिर्फ मनुष्य के ही काम आते हैं, मगर अभयदान तो मनुष्य ही नहीं, संसार के सभी प्राणियों के काम आता है । हीरा, मोती, भूमि या सोना अगर सिंह, सर्प आदि प्राणी को दे तो उसके वे किस काम के ? ये सब चीजें, यहाँ तक कि अन्न भी और कीमती दवाइयाँ भी उसके लिए बेकार हैं । सिंह आदि क्रूर प्राणियों के प्राण संकट में हों, उन्हें प्राणों का भय हो, उस समय प्राणरक्षा करके अभयदान को वे समझते हैं, वे उसे भूलते नहीं हैं और अपने-उपकारी के वश में होकर प्रत्युपकार करने को तैयार हो जाते हैं । इसीलिए सूत्रकृतांगसूत्र में कहा है —

“दाणाण सेट्टं अभयप्पयाणं ।”

— सब दानों में अभयदान श्रेष्ठ है ।

महाभारत का एक सुनहरा पृष्ठ है । एक बार द्वारिका नगरी के एक मुहल्ले में एक साँप निकला । साँप को देखते ही लोग इकट्ठे हो गये । कुछ लोग दूर खड़े-खड़े साँप पर डेला मारने लगे । साँप बहुत ही भयभीत हो रहा था । इतने में एक विश्वबन्धु एवं अभयदानी वीर वहाँ आ गया । उसने जब लोगों की

१. हेमधेनु धरादीनां दातारः सुलभा भुवि ।

दुर्लभः पुरुषो लोके यः प्राणिष्वभयप्रदः ॥ — मार्कण्डेयपुराण

२. महतामपि दानानां कालेन क्षीयते फलम् ।

भीताभय-प्रदानस्य क्षय एव न विद्यते ॥ — धर्मरत्न ५३

यह हरकत देखी तो उन्हें ऐसा करने से रोका । इस पर कुछ लोग क्रुद्ध होकर बोले — “ऐसे दयालु हो तो ले जाओ इसे अपने घर, सेवा करो इसकी ।” लोगों के गुस्से पर ध्यान देकर दयालु अभयदानी ने अपना अंचल पसारा और उस पर धीरे से साँप को ले लिया । सर्प भी अपने उपकारी अपकारी को पहचान लेता है । जब उसने देखा कि यह मुझे जरा भी दुःख नहीं देगा, उसने दयालु को जरा भी नहीं काटा । सर्प को अंचल में लेकर उसे एक बाड़े में छोड़ आया । जब वह वापस अपने घर की ओर लौट रहा था तो उसे एक धनाढ्य ने कहा — “भाई ! इस सर्प के बचाने का जो पुण्य हो उसे मुझे दे दो और उसके बदले में तुम जितना धन चाहो, दे दूँगा ।” वह वीर दयालु प्रामाणिक था । उसे कम-ज्यादा, देना-लेना पसन्द न था । अतः उसने कहा — “हम दोनों ही इस बारे में अनभिज्ञ हैं, इसलिए दोनों यह सौदा नहीं कर सकते । किसी एक विशिष्ट अनुभवी एवं निष्पक्ष पुरुष के पास चलें, वही इस विषय में निर्णय दे सकता है ।” वे दोनों धर्मराज युधिष्ठिर के पास गये और उनसे निर्णय मांगा । उन्होंने निर्णय देने में अपनी असमर्थता बताई । तदनन्तर वे श्री कृष्ण के पास आये । उनसे भी यही प्रश्न पूछा तो श्रीकृष्णने कहा — “धन और धर्म दोनों भिन्न वस्तु हैं । धर्म अन्तर की वस्तु है, धन बाहर की; दोनों में तुलना कैसे हो सकती है ?” फिर भी धनाढ्य ने अपना आग्रह जारी रखा कि किसी तरह आप मूल्यांकन कर दीजिए । निरुपाय होकर श्री कृष्णने कहा —

युधिष्ठिर ! अगर कोई सोने का बना मेरुपर्वत किसी को दे दे अथवा सारी पृथ्वी दे दे और दूसरा एक ही प्राणी को जीवनदान दे तो भी अभयदान के बराबर नहीं हो सकते । अथवा हे युधिष्ठिर ! कोई व्यक्ति ब्राह्मणों को हजारों गायें दान देता है, वह भी उसकी समता नहीं कर सकता, जो एक प्राणी को जीवन देता है ।^१

सचमुच प्राण या जीवन के दान की तुलना किसी भी नाशवान पदार्थ या संसार की दृष्टि में बहुमूल्य समझे जाने वाले पदार्थ से नहीं हो सकती ।

१. यो दधात् कांचनं मेरुं, कृत्स्नानां चैव वसुन्धराम् ।

एकस्य जीवितं दधात्, न च तुल्यं युधिष्ठिर ।

कपिलानां सहस्राणि, यो विप्रेभ्यः प्रयच्छति ।

एकस्य जीवितं दधात्, न च तुल्यं युधिष्ठिर ! — महाभारत

धर्मरत्न ग्रन्थ में अभयदान का महत्त्व बताते हुए कहा है —

— अन्य वस्तुओं का दिया हुआ दान, की हुई तपस्या, तीर्थ-सेवा, शास्त्र-श्रवण, ये सब अभयदान की सोलहवीं कला को प्राप्त नहीं कर सकते। एक ओर सारे यज्ञ हों और सारी श्रेष्ठ दक्षिणा हो तथा दूसरी ओर किसी भयभीत प्राणी के प्राणों की रक्षा हो, तो भी वे इसकी बराबरी नहीं कर सकते। सभी वेद, सभी यज्ञ और समस्त तीर्थाभिषेक जो कार्य नहीं कर सकते, वह कार्य प्राणियों की दया कर सकती है। भयभीत प्राणियों को जो अभयदान दिया जाता है, उनसे बढ़कर अन्य कोई इस भूमण्डल में नहीं है।^१

निष्कर्ष यह है कि इन सब पदार्थों की अपेक्षा संसार में प्राणी को अभयदान देना अधिक महत्त्वपूर्ण है।

इसीलिए आचार्य बट्टेकर ने मूलाचार में अभयदान को सब दानों में उत्तम बताया है —

मरणभय से भयभीत समस्त जीवों को जो अभयदान दिया जाता है, वही सब दानों में उत्तम है और समस्त आचरणों में वही दान मूल आचरण है।^२

यद्यपि आहारदान, औषधदान और ज्ञानदान का अपने-अपने स्थान पर महत्त्व है, परन्तु ये तीनों दान हों और अभयदान न हो तो ये तीनों दान बेकार हैं। इसी बात को पद्मनन्दी ने पंचविंशतिका में स्पष्ट बताया है —

— करुणाशील पुरुषों के द्वारा जो सब प्राणियों को अभयदान दिया

१. दत्तमिष्टं तपस्तप्तं तीर्थसेवा तथा श्रुतम् ।

सर्वाण्यभयदानस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम् ॥५४॥

एकतः क्रतवः सर्वे, समग्रवरदक्षिणाः ।

एकतो भयभीतस्य प्राणिनः प्राणरक्षणम् ॥५५॥

सर्वेवेदा न तत्कुर्युः सर्वे यज्ञा यथोदिताः ।

सर्वे तीर्थाभिषेकाश्च यत्कुर्यात् प्राणिनां दया ॥५६॥

नहि भूयस्तमो धर्मस्तस्मादन्योऽस्ति भूतले ।

प्राणिनां भयभीतानामभयं यत्प्रदीयते ॥५७॥ — धर्मरत्न

२. मरणभीरुआर्षं अभयं जो देदि सब्वजीवाणं ।

दाणाणवि तं दाण, पुण जोगेसु मूलजोगं पि ॥ ९३९ - मूलाचार

जाता है, वह अभयदान कहलाता है। उससे रहित पूर्वोक्त तीन प्रकार का दान व्यर्थ होता है। चूँकि आहार, औषध और शास्त्र के दान की विधि से क्रमशः क्षुधा, रोग और अज्ञानता का भय नष्ट होता है। इसलिए अभयदान ही एकमात्रश्रेष्ठ है।^१

अभयदान का लक्षण

अभयदान का सरल अर्थ होता है — सब प्रकार के भयों से मुक्त करना। जैसा कि गच्छचार पड़ना में उद्धृत एक गाथा में बताया है —

स्वभाव से ही सुख के अभिलाषी एवं दुःखों से भयभीत प्राणियों को जो अभय दिया जाता है, वह अभयदान कहलाता है।^२

इस लक्षण के अनुसार अभयदान के लिए सर्वप्रथम सात भयों से प्राणी को मुक्त करना आवश्यक है।

जैनशास्त्र में वे सात भय स्थान (कारण) इस प्रकार बताये हैं —

- (१) इहलोकभय : इस लोक में अपनी ही जाति के प्राणी से डरना; अर्थात् मनुष्य का मनुष्य से, नारकी का नारकी से, देव का देव से और तिर्यच का तिर्यच से डरना, आशंकित और त्रस्त रहना इहलोकभय है।
- (२) परलोकभय : दूसरी जाति वाले से डरना; यानी मनुष्य का देव या तिर्यच से, तिर्यच का मनुष्य या देव से, देव का तिर्यच या मनुष्य से भयभीत होना परलोकभय है।
- (३) आदान (अत्राण) भय : धन, शरीर आदि की सुरक्षा को अपहरण का या चोर का खतरा जानकर डरना।
- (४) अकस्मात्भय : बिना किसी बाह्य कारण के अकस्मात् (दुर्घटना) की शंका से डरना। वेदनाभय भी इसका नाम है। जिसका अर्थ है - किसी

१. सर्वधामभयं प्रबुद्धकरुणैर्यद् दीयते प्राणिनाम् ।

दानं स्यादभयादि, तेन रहितं दानत्रयं निष्कलम् ॥

आहारोषधशास्त्रदानविधिभिः क्षुद्रोगजाड्याद् भयं ।

यत्तत्प्राणने विनश्यति ततो दानं तदेकं परम् ॥ — पद्मनन्दी पंचविंशतिका

२. यः स्वभावात्सुखैषिभ्यो भूतेभ्योदीयते सदा ।

अभयं दुःखभीतेभ्योऽभयदानं तदुच्यते ॥ — गच्छ. २ अधिकां

पीड़ा से डरना ।

- (५) आजीविकाभय : अपनी आजीविका छूट जाने से डरना ।
 (६) अपयशभय : अपनी अपकीर्ति (बदनामी) हो जाने की शंका से डरना ।
 (७) मरणभय : मृत्यु का या किसी के द्वारा पिटाई या मारपीट की आशंका से डरना ।

वर्तमान में मानव समाज या समस्त प्राणियों को सात भयों से मुक्त करना कराना अभयदान है ।

अतः अभयदान की सीधी-सादी व्याख्या है - "सब प्रकार के संकटों से प्राणी को मुक्त करना, खतरों के, संकटों एवं विपदाओं के निवारण में सहायक बनना, आश्वासन देना, प्राणदान या जीवनदान देकर प्राण जाने के खतरे से बचना, सुरक्षा के लिए शरण में आये हुए प्राणी की रक्षा करना, जिससे प्राणी को खतरा पैदा हो, उस कुप्रथा को बन्द करने-कराने के लिए हर सम्भव प्रयत्न करना अभय दान है । वसुनन्दी श्रावकाचार में अभयदान का लक्षण इस प्रकार बताया गया है -

"जं कीरइ परिक्र्वा णिच्चं मरणभय भीरुजीवाणं ।

तं जाण अभयदाणं सिहामणिं सव्वदाणाणं ॥"

— मरण से भयभीत जीवों का जो नित्य परिरक्षण किया जाता है, उसे सब दानों का शिखामणि रूप अभयदान समझना चाहिए ।

उपर्युक्त लक्षण में मरण के भय को मुख्यता दी गई है, किन्तु अभयदान का दायरा बहुत ही विस्तृत है । वैसे मरणभय सब भयों में मुख्य है, इसलिए इस भय से मुक्त करने को अभयदान का चिन्ह समझ लेना चाहिए ।

किन्तु 'गच्छचारपइन्ना' में उक्त अभयदान के लक्षणानुसार निम्नलिखित बातें अभयदान के अन्तर्गत आ जाती हैं -

- (१) सब प्रकार के भयों और दुःखों से आक्रान्त प्राणियों को भय से मुक्त करना ।
 (२) आफत के समय निर्भयता का संचार करना ।
 (३) मृत्यु से भयभीत प्राणी की रक्षा करना ।

- (४) कष्टों, दुःखों, रोगों या संकटों आदि में पड़े हुए मानवों या प्राणियों को उस अवस्था से मुक्त कराकर उन्हें सुरक्षा का आश्वासन प्राप्त करना ।
- (५) भयभीत या अपराध के कारण या श्राप आदि के भय से डरे हुए प्राणी को क्षमादान करना ।
- (६) शरणागत प्राणी की प्राण देकर भी रक्षा करना ।
- (७) ऐसा प्राणसंहारक, बलिदान आदि कुप्रथा या कुरूपद्वि को दयापूर्वक दूर कर या कराकर प्राणियों में शान्ति एवं सुरक्षा की भावना पैदा करना ।
- (८) राष्ट्र, समाज या विश्व की दृष्टि से अनेकों की रक्षा के लिए अपना प्राणदान देना ।
- (९) विपत्ति के निवारण के लिए योगदान देना ।

ये और इस प्रकार के अन्य जो भी पहलू हैं, वे सब अभयदान के दायरे में आ जाते हैं ।

अब हम क्रमशः इन सब पहलुओं पर विचार करेंगे —

जैन इतिहास का एक स्वर्णिम पृष्ठ है — मगध सम्राट श्रेणिक के पुत्र मेघकुमार का । मेघकुमार के रूप में जन्म लेने का मुख्य कारण तो उसके पूर्व-जन्म में हाथी के रूप में किये हुए अभयदान के कार्य का परिणाम था । बात यह थी कि वे पूर्व जन्म में एक बुद्धिमान हाथी थे, यूथपति थे । एक गहन जंगल में विचरण करते और गजसमूह के साथ जीवनयापन करते थे । एक बार इस जंगल में भयंकर आग लगी । आग की लपटें दूर-दूर तक फैलती जा रही थीं । जहाँ पेड़-पौधे और वनस्पति थी, वहाँ तो इस आग से बचने का कोई उपाय न था । वन्य जीव अपने प्राण बचाने के लिए इधर-उधर बेहताशा भागने लगे । वे संकटग्रस्त एवं भयभीत प्राणी कहीं न कहीं निरापद एवं सुरक्षित स्थान में आश्रय चाहते थे । इस यूथपति हाथी को एक बात सूझी कि क्यों न मैं अपने सब हाथियों की मदद से पेड़-पौधे से मुक्त और खुली जमीन का बड़ा-सा मण्डल बना हूँ, जिसमें आकर बेचारे भयभीत एवं संकटग्रस्त जीव आश्रय ले लेंगे और अपने प्राणों की रक्षा कर लेंगे । उसने प्राणी-करुणा से प्रेरित होकर सब हाथियों के सहयोग से शीघ्र ही कार्य शुरू किया । आग अभी बहुत दूर थी, तब तक तो

उस हाथी ने एक विशाल घेरे में पेड़-पौधे, घास आदि उखाड़कर साफ कर दिये और वहाँ समतल भूमि बना दी। आग से बचने और प्राण रक्षा करने के लिए निरापद स्थान की खोज में भागते-भागते जंगल के पशु-पक्षी दबादब आकर इस मण्डल में जमा होने लगे। हाथी सबको उदारता से इस मण्डल में आश्रय लेने देता था। कुछ ही देर में तो वह सारा सुरक्षित मण्डल वन्य जीवों से खन्नाखच भर गया था। सहसा इस हाथी ने अपने शरीर को खुजलाने के लिए एक पैर ऊँचा उठाया तभी एक खरगोश आया, जिसे मण्डल में कहीं जगह न मिलने से इस हाथी के उठाये हुए पैर के नीचे दुबककर बैठ गया। ज्यों ही हाथी पैर नीचे रखने लगा, त्यों ही उसके पैर को इस खरगोश का कोमल स्पर्श हुआ। हाथी ने देखा कि एक खरगोश उसके पैर की खाली जगह में बैठा है। अगर वह पैर नीचे रखेगा तो बेचारा यह खरगोश कुचलकर मर जायेगा। मृत्यु के भय से बचने के लिए ही तो बेचारा इस सुरक्षित स्थान में उसकी शरण में आया है। इस हाथी का हृदय करुणा से भर आया। उसने २० पहर तक यानी ढाई दिन तक अपना पैर ऊँचा रहने दिया, नीचे न रखा। तीसरे दिन दावानल शान्त हो गया पशु-पक्षी सभी अपने-अपने मनोनीत स्थलों को रवाना हो गये। मण्डल खाली देखकर यह हाथी ज्यों ही अपना पैर नीचे रखने लगा, त्यों ही धड़ाम से भूमि पर गिर पड़ा, क्योंकि तीन दिन तक पैरों से खड़े रहने के कारण उसके पैरों में खून जम गया था। उसी समय हाथी ने करुणापूर्ण शुभ भावों से अपना शरीर छोड़ा और मरकर मनुष्य जन्म में श्रेणिक राजा के यहाँ राजकुमार मेघ के रूप में जन्म लिया।

यह है अभयदान के प्रथम पहलू का ज्वलन्त उदाहरण। इसी अभयदान के फलस्वरूप मेघकुमार की आत्मा पशु योनि से मुक्त होकर एक राजकुमार के रूप में अवतरित हुई।

इसके अतिरिक्त अभयदान का दूसरा पहलू है - अनेकों को प्राण-संकट से मुक्त कराकर अभय का संचार करना। वास्तव में ऐसे अभयदाता बहुत ही कम मिलते हैं। फिर भी यह बहुरत्ना वसुन्धरा है, इसमें ऐसे लोग भी हैं जो प्राणमोह का त्याग करके अनेकों को प्राण-संकट के भय से मुक्त कर देते हैं।

अभयदान का तीसरा पहलू है - मृत्यु से भयभीत प्राणी की रक्षा

करना। यह तो स्पष्ट है कि मृत्यु कोई भी प्राणी नहीं चाहता, सभी प्राणी जीना चाहते हैं। इसीलिए दशवैकालिकसूत्र में स्पष्ट कहा है —

“सर्वे जीवा वि इच्छन्ति जीविउं न मरिज्जिउं।”

— सभी जीव (सुख से) जीना चाहते हैं, मरना कोई भी नहीं चाहता। आचारांगसूत्र में तो अन्तरात्मा की एकता के आधार पर इस बात को साफ-साफ बताया है — “तू जिसको मारना चाहता है, वह और कोई नहीं, तू ही है। तू ही वह है, जिसे तू सताना चाहता है। तू ही वह है, जिसे गुलाम बनाकर बंधन में जकड़ना चाहता है। तू वही है, जिसे तू भयभीत करना चाहता है।” ये सब अभयदान के प्रेरणास्रोत हैं। अभयदानी दूसरे प्राणी की पीड़ा को अपनी पीड़ा जानता है, दूसरे के दुःख और भय को अपना दुःख और भय समझता है।

राजगृह में महाराज बिम्बसार^१ के महल के विशाल मैदान में यज्ञवेदी लगी हुई थी, जिसके चारों ओर ब्राह्मण जोर-जोर से वेद-मन्त्रों का उच्चारण कर रहे थे। पास में ही ऋत्विज् चमकती हुई छुरी हाथ में लिए खड़ा था। निर्दोष मेंढा थरथर काँप रहा था। महाराज बिम्बसार दोनों हाथ जोड़े खड़े थे और आहुति की घड़ी की प्रतीक्षा कर रहे थे। ज्यों ही ऋत्विज् का छुरा पकड़ा हुआ दाहिना हाथ ऊँचा उठता है, त्यों ही मेंढे के मुँह से चीख निकलती है। इतने में ही तथागत बुद्ध दौड़कर आते हैं और चादर में मेंढे को छिपाते हुए कहते हैं — “पुरोहित ! ठहर पुरोहित !” सुडौल कान्तिमान शरीरवाले कुमार को देखते ही सब आश्चर्यमग्न होकर स्तब्ध हो जाते हैं। ऋत्विज् के हाथ से छुरा छूटकर नीचे गिर जाता है। कुछ देर बाद राजा बिम्बसार ने रोष भरे स्वर से कहा — “परम्परा से प्रचलित मगध राजकुल की प्रथा के विरुद्ध उँगली उठाने वाले मानव ! बता तू कौन है ? मगधेश्वर की उपस्थिति में साहस करने वाले नादान से मैं उत्तर चाहता हूँ। कितने प्रयत्नों से निकाले हुए शुभ मुहूर्त में दी जाने वाली आहुति की शुभ घड़ी को टालकर तूने कितना गम्भीर अपराध किया है ? इसका कुछ भान है तुझे ? इस अपराध की सजा क्या हो सकती है, यह तो जानता है न ?” बुद्ध — “जानता हूँ राजन्। इसका लेखा-जोखा मैंने पहले से कर लिया है। हजारों

१. ऐसे यज्ञ करके पशुओं की बलि देते थे, तब तक महाराजा बिम्बसार जैन धर्मावलम्बी नहीं थे।

निर्दोष प्राणियों का उद्धार करने की मेरी हार्दिक पुकार के बदले में आप मेरा मस्तक माँगते हैं न ? अभी उतार देता हूँ, राजन् ! इन बेचारे मूक प्राणियों के अन्तर का आर्तनाद सुनकर तो आकाश में बैठे हुए देवों ने भी मुँह फिरा लिया है। मैं तो एक सामान्य मानव हूँ। इन बेचारे निर्दोष प्राणियों की अपेक्षा मेरा यह छोटा-सा मस्तक कोई कीमती नहीं है।” बिम्बसार (उच्च स्वर से) - “क्या कहा तूने ? क्या इस यज्ञ को देखकर देवों ने भी मुँह फिरा लिया ? जिन्हें प्रसन्न करने के लिए मैंने यह यज्ञ रचा, क्या वे देव भी मेरे इस धर्मकार्य से संतुष्ट नहीं हुए ?”

बुद्ध - “नहीं, राजन् ! जरा सोचिये तों सही ! इन सब पशुओं का करुण आर्तनाद सुनकर मेरे जैसे साधारण मनुष्य भी काँप उठते हैं तो दयासागर देव कैसे प्रसन्न हो सकते हैं ?”

बिम्बसार - “तो क्या यह धर्मकार्य नहीं है ! अनेक वर्षों पुरानी यह प्रथा क्या निष्फल है ?

बुद्ध - “आपकी यह प्रथा अत्यन्त निकम्मी और हानिकारक भी सिद्ध हुई है।”

बिम्बसार - “कैसे ?”

बुद्ध - “राजन् ! इतना तो आप जानते हैं न ?” जैसी आत्मा आपके अन्दर विराजमान है, वैसी ही मेरे अन्दर है और वैसी ही आत्मा इस मेमने में है। मानवमात्र में ही नहीं, दूर-सुदूर धरती पर बसने वाले सभी प्राणियों में वह आत्मा व्याप्त है। इस निर्दोष मेमने को मारने से आपकी आत्मा का भी तो हनन होगा। जो बात मैं कह रहा हूँ, उसे निर्दोष मेमना भी पुकारता है। जिह्वा से नहीं, नेत्रों से उठती हुई इसकी पुकार आपने कभी सुनी है, राजन् !”

बिम्बसार (खड़े होकर कुमार को नमन करते हुए) - “इतनी छोटी-सी उम्र में प्राणिमात्र में विराजमान आत्मा के नवदर्शन कराने वाले आप जैसे सन्त के चरणों में अपना मस्तक झुकाता हूँ और आपको गुणुपद पर स्थापित करता हूँ, देव ! आज से मैं अपनी रिद्धि-सिद्धि आपके चरणों में अर्पित करता हूँ। आज से आप मगध के राजकुल के गुरु बने हैं। आज आपने जैसे मेरा जीवनपथ आलोकित किया है; वैसे मगध की प्रजा को भी आपके उपदेश का

लाभ देने की कृपा कीजिए।”

बुद्ध — “अभी तो मैं सत्य की खोज में निकला हुआ एक सामान्य पथिक हूँ। यदि राजकुल में मुझे पड़े रहना होता तो मैं कपिलवस्तु की राजगद्दी क्यों छोड़ता ?”

बिम्बसार (आश्चर्य से) — “हैं ! तो क्या आप स्वयं कपिलवस्तु के राज्य के उत्तराधिकारी थे ? क्या शाक्यकुल के भावी राजकुमार आप स्वयं ही हैं ?”

बुद्ध — “था..... एक दिन। पर आज तो पर-पीड़ा को मिटाते हुए मैं अपने अन्तर की पीड़ा का निवारण करने हेतु किसी सत्य की खोज में निकला हुआ एक सामान्य मनुष्य हूँ। ऐसी कोई शक्ति प्राप्त करके सत्य के दर्शन पाऊँगा, तब एक दिन अवश्य मैं आपके यहाँ आऊँगा। सभी में बसी हुई इस विराट् आत्मा के दर्शन पाऊँगा तो मैं सबको कराऊँगा। आज तो मैं जा रहा हूँ, राजन् ! अहिंसा धर्म को भूलना मत !”

बिम्बसार — “अच्छा तो देव ! जायेंगे। यह लीजिए आज से ही आपके सामने यह घोर हिंसक यज्ञ बन्द करता हूँ। मेरे जीवन का परिवर्तन करके आपने मेरा उद्धार किया। आपके पुनीत चरणों से मगध की धरती धन्य हो उठी। आपके द्वारा प्रतिबोधित अहिंसा धर्म को मैं कभी नहीं भूलूँगा।”

बुद्ध — “आपका यह निर्णय कल्याणकारी हो। आपके शुभ प्रयत्न श्रेयस्कर हों। आपको इन विराट् मूक आत्माओं का आशीर्वाद मिले।”

यों कहकर बुद्ध वहाँ से प्रस्थान कर देते हैं।

यह वह अभयदान है, जिसमें मृत्यु से भयभीत हजारों-लाखों प्राणियों की रक्षा का स्वर है। इस प्रकार के अनेक अभयदान प्राचीन आचार्यों ने, विशिष्ट प्रभावशाली सन्तों ने राजाओं, महाराजाओं, ठाकुरों, सामन्तों, रावतों एवं राजपूतों को उपदेश, प्रेरणा, प्रवचन आदि द्वारा करवाया है। मरते हुए या मारे जाने वाले पशु-पक्षियों को उनके पंजे से छुड़वाकर महान् पुण्य उपार्जन किया है। जैनाचार्यों ने कई हिंसक लोगों को हिंसा छुड़वाई है; उन्हें अहिंसा के उज्ज्वल पथ पर मोड़ा है।

प्राचीनकाल में श्री हेमचन्द्राचार्य ने कुमारपाल राजा को, श्री हीरविजयसूरि जी ने अकबर बादशाह को प्रतिबोध देकर कई बार 'अमारिपटह' की उद्घोषणा करवाई थी। कई जगह अमुक पर्व, तिथि या दिन को अगते पलाये जाते थे। यानी उन दिनों में कोई भी व्यक्ति किसी जीव का कत्ल नहीं कर सकता था और न शिकार कर सकता था। उन दिनों में माँस की दुकानें भी बन्द रखी जाती थीं।

आचार्य श्री हीरविजयसूरिजी की प्रेरणा से अकबर बादशाह ने पर्युषण पर्व के दिनों में १२ दिन तक अमारिघोषणा के गुजरात देश, मालव देश, अजमेर, दिल्ली, फतेहपुरसीकरी और लाहौर देश इन पाँच राज्यों सम्बन्धी तथा एक सर्व साधारण यों ६ फरमान जारी किये थे।

एकबार आचार्यश्री का उपदेश सुनकर अकबर बादशाह को अपने आप पर बहुत पश्चात्ताप हुआ, उसने संसार सागर से तरने का उपाय पूछा तो आचार्यश्री ने तीन उपाय बताये — (१) सब जीवों पर दया करना, (२) सब जीवों पर क्षमा रखना, (३) सबकी सेवा करना। फिर बादशाह ने जब पापों से छुटकारे का उपाय पूछा तो उन्होंने कहा — (१) किसी भी जीव को बेड़ी में डालने आदि का बन्धन न करना। (२) नदी, सरोवर आदि में जाल डलवाकर मछलियों वगैरह को न पकड़वाना। (३) चिडियों की जीभ न खाना आदि। बादशाह ने ये बातें मंजूर की।

इस प्रकार मरते हुए या मारे जानेवाले प्राणियों की रक्षा करके अनेक जैन-मुनियों, आचार्यों आदि ने अभयदान का महान् कार्य किया।

अभयदान का चौथा पहलू है — संकट, दुःख, रोग या आफत में पड़े हुए प्राणी को उस अवस्था से मुक्त कराकर उन्हें सुरक्षा का आश्रय देना-दिलाना। वास्तव में अभयदान के इस लक्षण पर जब हम विचार करते हैं तो ऐसा अभयदाता अपने प्राणों की भी परवाह नहीं करता और न ही किसी प्रकार के सुखों की चिन्ता करता है।

इससे आगे अभयदान का पहलू है — अपराध या श्राप आदि किसी कारण से शंक्ति, भयभीत प्राणी को क्षमादान करना। क्षमादान भी अभयदान का एक प्रकार है, जो प्राणी जीवन के लिए बहुत अनिवार्य है। किसी जबर्दस्त

और प्रभावशाली व्यक्ति से भयभीत व्यक्ति (चाहे वह श्राप दे देने, मार डालने या उसको सम्पत्ति लूट लेने के डर से भयभीत हुआ हो) को क्षमादान देना भी जीवनदान देने के समान है ।

अभयदान का अगला पहलू है - शरणागत की रक्षा प्राणप्रण से करना ।

जैन इतिहास में मेघरथ राजा का और वैदिक इतिहास में शिवि और मेघवाहन राजा का शरण में आये हुए बाज को कबूतर के बराबर अपने अंग का माँस, यहाँ तक कि जब कबूतर का वजन बढ़ गया तो अपने सारे अंग देने को उद्यत होने का उदाहरण प्रसिद्ध है ।

शरणागत रक्षा के लिये मर-मिटनेवाले एक बालक का उदाहरण तो आश्चर्य में डालने वाला है । एक बार इंग्लैण्ड के राजा जेम्स द्वितीय के पुत्र चार्ल्स प्रथम जार्ज के सेनापति से परास्त होकर प्राण बचाने हेतु स्कॉटलैण्ड की पहाड़ियों में जा छिपे । चार्ल्स का सिर काटकर लाने वाले को ४ लाख रुपये इनाम देने की घोषणा की गई । चारों ओर खोज शुरू हुई । कुछ समय बाद चार्ल्स को ढूँढने वाले एक कैप्टिन ने एक बालक से पूछा - “क्या तुमने प्रिंस चार्ल्स को देखा है ?” बालक बोला - “हाँ, जाते हुए तो देखा है, लेकिन यह नहीं बताऊँगा कि कब और किस रास्ते से जाते हुए देखा है ।” कैप्टिन ने तलवार निकाली और बालक को डराया । इस पर भी जब वह भेद बताने को तैयार न हुआ तो उस पर तलवार का प्रहार भी किया गया । बालक का करुण क्रन्दन हुआ, लेकिन बालक ने कहा- “मैं मैकफ़रसन का पुत्र हूँ, इसलिए तलवार से डरने वाला नहीं । मुझे आप कितना ही कष्ट दीजिए, मैं संकट के समय शरण में आये हुए राजा को शत्रु के हाथों में फँसाने में सहायक नहीं बनूँगा । मैं अपने प्रण से विचलित नहीं होऊँगा ।” कैप्टिन उस वीर बालक की वीरता, साहस एवं दृढ़ता से प्रभावित हुआ और प्रसन्न होकर चाँदी का क्रॉस भेंट दिया ।

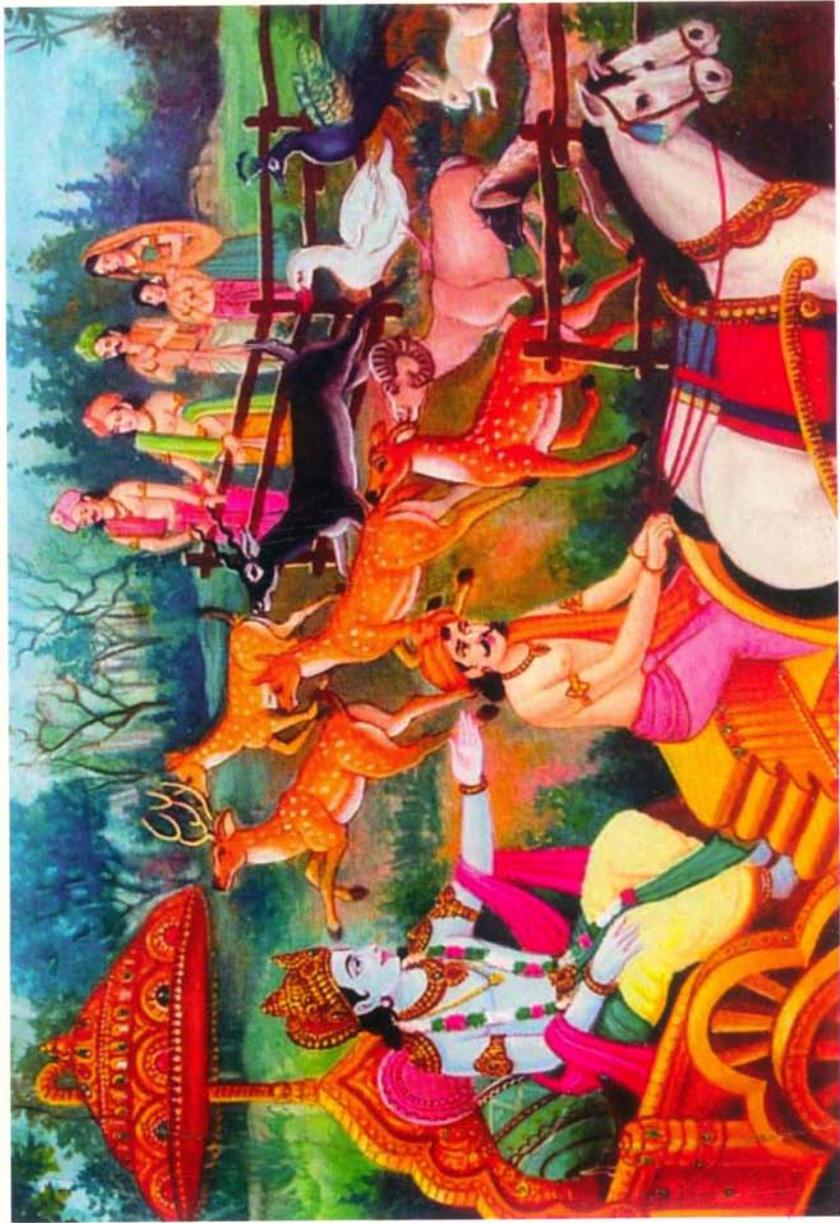
शरणागत की रक्षा करके उसे अभयदान देनेवाला अपने प्राणों को भी संकट में डाल देता है ।

इसके पश्चात् अभयदान के एक विशिष्ट पहलू की ओर ध्यान खींचना चाहते हैं । वह है - “किसी प्राणघातक बलिदान माँस भोज आदि कुप्रथा का

निवारण कराकर प्राणियों में शान्ति एवं सुरक्षा की भावना पैदा करना ।” कई जगह जनरंजन के निमित्त पशुबलि या नरबलि की अथवा विवाह आदि प्रसंगों पर समाज में या जाति में प्राणियों के माँस का भोज देने की कुप्रथा है । इस कुप्रथा को जब तक समाप्त नहीं कर दिया जाता, तब तक बेचारे बध्य पशु-पक्षियों या मानवों के हृदय में भीति और आतंक फैला रहता है । जो दयालु अपने प्राणों की बाजी लगाकर उस कुप्रथा को समूल मिटाता है या मिटाने का सफल प्रयत्न करता है, उसका वह कार्य भी अभयदान की कोटि में ही आता है । गुजरात में कंठेश्वरी देवी के आगे नवरात्रि में दी जाने वाली पशुबलि की प्रथा को आचार्य हेमचन्द्राचार्य ने कुमारपाल राजा एवं प्रजा को युक्ति से समझाकर बन्द करवाई । भगवान महावीर एवं तथागत बुद्ध के युग में यज्ञों में होने वाली पशुबलि प्रथा का निवारण दोनों महापुरुषों ने तथा उनके श्रमणों ने बन्द करवाने का प्रयत्न किया है । पशुबलि प्रथा बन्द कराने में उन्हें अनेक संकटों का परिचय देना पड़ा है ।

भगवान अरिष्टनेमि के युग में यादवों में वैवाहिक प्रीतिभोज के अवसर पर बरातियों को माँस खिलाने की भयंकर कुप्रथा थी । लेकिन करुणासागर भगवान अरिष्टनेमि ने दुलहा बनकर रथारूढ होकर विवाह के लिए जाते समय एक बाड़े में बन्ध पशु-पक्षियों को देखा, उनका आर्तनाद सुनकर नेमिकुमार का हृदय करुणा से द्रवित हो गया । सारथी से पूछने पर उन्हें पता लगा कि ये पशु-पक्षी उनके साथ आये हुए बरातियों को भोजन कराने के लिए बन्द किए गए हैं । तब तो वे और भी अधिक दुःखित होकर सारथी से कहने लगे - “खोल दो बेचारे इन पशु-पक्षियों को । मेरे निमित्त से यह संहार श्रेयस्कर नहीं है ।” और समस्त प्राणियों को अभयदान दिलवाकर वे तोरण पर पहुँचे बिना ही वापस लौटने लगे । बरातियों में खलबली मच गई । कारण पूछने पर सारथी ने पूर्वोक्त वृत्तान्त सुनाया । यादव लोग नेमिनाथ से सुनने को उत्सुक थे । उन्होंने उपयुक्त अवसर जानकर यादवों को इस कुप्रथा का परित्याग करने को कहा । तब से यादव जाति में माँसाहार बन्द हो गया । अभयदान का कितना ज्वलन्त उदाहरण है यह ।

इसी प्रकार रोम में होने वाली नरबलि प्रथा को वहाँ के एक सन्त



पशुना पोकारथी पाछा वळ्या, निर्दोष प्राणीओनी आवी रे दया,
कुमळा सुमन दिलनी केवी रे वेदना, संसार सुखने त्यजी आत्मसुखने पाय्या.

टैलीमैक्स ने अपना बलिदान देकर बन्द करा दी। बंगाल में भयंकर रूप से प्रचलित सती-प्रथा में पति के मरने के बाद उसके पीछे उसकी पत्नी को जीते जी उसकी चिता के साथ जबरन जल मरना पड़ता था अथवा यों कहिए कि समाज के क्रूर लोगों द्वारा जबरन उसे जला दिया जाता था। राजाराममोहन राय ने इस भयंकर कुप्रथा के विरुद्ध जेहाद छेड़ा और ब्रिटिश सरकार की सहायता से कानून बनवाकर इस कुप्रथा को बन्द कराया। इसी प्रकार काली देवी के आगे गर्भवती सुन्दरियों की जीते जी बलि दी जाने की भयंकर कुप्रथा थी, जिसका अन्त 'वारेन हेस्टिंग्स' ने अपने शासनकाल में करा दिया।

इसी प्रकार की अनेक कुप्रथाओं का अन्त विभिन्न दयालु अभयदानियों ने अपना आत्मयोग देकर कराया है। यह भी उत्तम कोटि का अभयदान है।

इससे आगे अभयदान की एक कोटि है — समाज, राष्ट्र या विश्व की दृष्टि से अनेक प्राणियों की रक्षा के लिए अपना बलिदान कर देना, विशिष्ट त्याग करना अथवा समर्पण कर देना। इस प्रकार के अभयदान में व्यक्ति को बहुत कुछ त्याग करना होता है। वास्तव में अभयदान में जो कुछ तप या त्याग करना होता है, उसकी तुलना में बाह्य तप या त्याग का इतना महत्त्व नहीं है। ज्ञानसार में इसी बात को स्पष्ट बताया है —

“किं न तप्तं तपस्तेन, किं न दत्तं महात्मना ।

वित्तीर्णमभयं येन प्रीतिमालम्ब्य देहिनाम् ॥”

— जिस महापुरुष ने जीवों को प्रीति का आश्रय देकर अभयदान दिया, उस महान् आत्मा ने कौन-सा तप नहीं किया और कौन-सा दान नहीं दिया ?

उस महात्मा ने समस्त तप एवं दान दिया है, क्योंकि अभयदान में सभी तप और दान समाविष्ट हो जाते हैं।

इसी प्रकार देश, राष्ट्र एवं समाज की रक्षा के लिए अपने प्राणों को खतरे में डालकर भी जनता की सुरक्षा के लिए अपने प्राणार्पण दिये, अपना सर्वस्व होमा है।

अभयदान की दो कोटियाँ :

अभयदान के उपयुक्त विवेचन से यह तो स्पष्ट हो जाता है कि अभयदान

सब दानों में श्रेष्ठदान है। अभयदान देने वाला दूसरे पदार्थों के दाताओं की अपेक्षा अधिक त्याग करता है, उत्सर्ग करता है और अपने जीवन को दया और करुणा की भावना से ओतप्रोत करके कार्य करता है। परन्तु सभी अभयदानी एक सरीखे नहीं होते। कई अभयदानी अपने जीवन में एक या दो प्रसंगों पर ही अभयदान दे पाते हैं, ऐसे लोग प्रायः गृहस्थ होते हैं, वे सभी इतनी उच्च कोटि का त्याग या उत्सर्ग कर नहीं सकते। कुछ गृहस्थ जीवों को अभयदान प्रत्यक्ष नहीं दे सकते, परन्तु परोक्ष रूप से दूसरों को पैसा देकर अभयदान दिला सकते हैं। हालाँकि उन्हें भी अभयदानी कहा जा सकता है, परन्तु वे इतनी उच्च कोटि के अभयदानी नहीं माने जा सकते। इसलिए हम अभयदान को दो कोटियों में विभाजित कर देते हैं —

(१) पूर्ण अभयदान, (२) प्रासंगिक अभयदान।

पूर्ण अभयदान वह है, जिसमें अभयदाता वही हो सकता है, जो आजीवन अभयदाता बनकर किसी भी जीव को न तो स्वयं पीड़ा पहुँचाता है और न दूसरों से पीड़ा दिलाता है और न ही पीड़ा देने वालों का समर्थन करता है। साथ ही वह जिदगी भर के लिए ऐसे अभयदान के प्रसंगों के लिए उत्तरदायी रहता है। पूर्ण अभयदानी बनने के लिए स्वयं निर्भय होना और दूसरों को भयमुक्त करना आवश्यक है। स्वयं निर्भय होने के लिए व्यक्ति में अहिंसा, सत्य, आत्म-बल और आत्म-विश्वास पर्याप्त मात्रा में होना आवश्यक है। साथ ही परमात्मा में उसकी पूर्ण आस्था होनी चाहिए। दूसरों को भयमुक्त बनाने के लिए व्यक्ति को शस्त्रास्त्र, अन्याय, अत्याचार, शोषण, निर्दयता, ज्यादती आदि भयवर्द्धक बातों का त्याग करना आवश्यक है। पूर्ण अभयदानी को छोटे से छोटे जन्तु के प्रति भी आत्मीयता होनी चाहिए। भगवद्गीता में अभयदानी भक्त का लक्षण बताते हुए यही बात कही है —

“यस्मान्नोद्विजते लोको, लोकान्नोद्विजते च यः।

हर्षामिर्षभयोद्वेगैर्मुक्तौ यः स च मे प्रियः ॥”

— जिससे जगत् भय न पाता हो, साथ ही जो स्वयं जगत् से भय न खाता हो तथा जो हर्ष, क्रोध और भय के उद्वेगों से मुक्त हो, वही भक्त मुझे प्रिय है।

जो व्यक्ति ऐसे प्रसंगों पर अपने आपको संतुलित रख सकता हो, परिणामों में किसी प्रकार की चंचलता न लाता हो, वही पूर्ण अभयदानी बन सकता है। संत तुकाराम के जीवन का एक प्रसंग है —

एक बार वे विठोबा की यात्रा को जा रहे थे। रास्ते में एक चौक में कबूतरों का बड़ा दल बिखरे हुए जुआर के दाने चुग रहा था। ज्यों ही तुकाराम वहाँ से गुजरे तो सभी कबूतर एक साथ उड़ गए। तुकाराम के मन में विचार हुआ कि मेरे से इन्हें भय लगा इससे ये उड़ गए। मेरे अन्दर भय लगने जैसा कुछ है, इसीलिए ये कबूतर घबराते हैं, डरते हैं। सचमुच मैं अभी पूरा भक्त नहीं। गीता में 'यस्मान्नोद्विजतेलोको.....' कहा है, पर मेरे से भय पाते हैं। यद्यपि दिखने में मैं मनुष्य हूँ। अपने को भक्त मानता हूँ, पर मेरे से भय उत्पन्न करने वाली पाशवी वृत्ति-पापवृत्ति अभी तक भरी हुई है, जिससे इन कबूतरों को मुझ पर प्रीति न हुई। ये मुझसे डर गए। मेरे रोम में अभी तक जहर भरा है। इस विचार से संत तुकाराम की आत्मा तिलमिलाने लगी। उन्होंने संकल्प किया — "कबूतरों को मुझ पर विश्वास आए और वे निःशंक होकर मेरे कंधे पर बैठें, तभी मुझे यहाँ से आगे कदम बढ़ाना है और तब तक खाना भी हराम है।" बस, ऐसा संकल्प करके तुकाराम खड़े हो गए। उन्होंने अन्तर का मैल दूर करने का प्रयास शुरु किया। उनके हृदय से प्रेम और करुणा के झरने बहने लगे। अन्धकार के आवरण दूर होने लगे, प्रकाश चारों ओर फैलने लगा। 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' की अखण्ड धुन चलने लगी। एक प्रहर, दो प्रहर, एक रात, दो रात, यों करते-करते तीन रातें बीत गई। तीन दिन तक वे प्रायः खड़े रहे। उनके पैर स्तम्भ की तरह जड़वत् हो गए थे। तीसरे दिन कबूतर आकर तुकाराम के कंधे पर बैठने लगे। यहाँ तक कि तुकाराम उन्हें उड़ाते, पकड़ते, फिर भी कबूतरों को उनसे कोई भय नहीं होता था। संत तुकाराम ने कबूतरों का विश्वास जीत लिया। अहिंसा और अभयदान की शक्ति गजब की होती है। वीतराग प्ररूपित मार्ग पर चलने वाले समस्त साधु-साध्वी निर्भय और निःशस्त्र होकर दूसरों को किसी प्रकार का भय न देते हुए इस भूमण्डल पर विचरण करते हैं। शक्रस्तव में तीर्थंकर प्रभु की स्तुति करते हुए उन वीतराग महापुरुष के लिए एक विशेषण प्रयुक्त किया गया है — अभयदयाणं उसका अर्थ होता है — जगत् के समस्त

प्राणियों को अभयदान देने वाले ।

अभयदाता में जो निर्भयता कूट कूटकर भरी होती है, उसमें से वह भयभीत प्राणियों को निर्भयता प्रदान कर देता है, जिससे वे भी अभय हो जाते हैं ।

अमितगति श्रावकाचार में आचार्य अमितगति ने पूर्ण अभयदान का माहात्म्य बताते हुए उसे उत्तम फल से युक्त बताया है —

“शरीरं ध्रियते येन, समतेव महाव्रतम् ।

कस्तस्याऽभयदानस्यं फलं शक्नोति भाषितुम् ॥”

— जैसे समभाव महाव्रत का धारण-पोषण करता है, वैसे ही अभयदान से जीवों के शरीर का पोषण होता है, उस अभयदान के फल को कौन कह सकता है । अर्थात् उस (पूर्ण) अभयदान का फल अनिर्वचनीय है ।

पूर्ण रूप से अभयदान में निश्चयनय और व्यवहारनय दोनों से अभयदान होता है । परमात्म प्रकाश में इस विषय को अधिक स्पष्ट कर दिया है —

“निश्चयेन वीतरागनिर्विकल्प-स्वसंवेदनपरिणामरूपमभयप्रदानम् स्वकीय जीवस्य, व्यवहारेण प्राणरक्षारूपमभयप्रदानं परजीवानाम् ।”

— निश्चयनय से वीतराग, निर्विकल्प स्वसंवेदन-परिणामरूप जो निज आत्म-भावों का अभयदान है, वह अपनी आत्मा की रक्षारूप है, जबकि व्यवहारनय से पर-प्राणियों के प्राणों की रक्षारूप अभयदान है, इस प्रकार अभयदान स्वदया परदया स्वरूप होता है ।

अभयदान में मन, वचन, काया तीनों की संशुद्धि आवश्यक है । चारित्रसार में स्पष्ट कहा है —

“दयादत्तिरनुकम्पयाऽनुग्राह्येभ्यः प्राणिभ्यस्त्रिशुद्धिभिरभयदानम् ।”

— जिन पर अनुकम्पापूर्वक अनुग्रह करना है, उन प्राणियों को मन, वचन, काया की शुद्धता से अभयदान देना दयादत्ति है । यही कारण है कि अभयदान में पारंगत पुरुष के पास प्राणी निर्भयतापूर्वक विचरण करता है ।

उत्तराध्ययनसूत्र में संयतीराजर्षि के जीवन की घटना इस सम्बन्ध में सुन्दर प्रकाश डालती है —

राजा संयती अपनी मंडली को लेकर वन में निर्दोष वन्य पशुओं का शिकार करने गया। उसने एक हिरन को निर्दयतापूर्वक खींचकर तीर मारा। हिरन घायल होकर गिर पड़ा। अभी उस पर मौत का खतरा सवार था। अतः वह वहाँ से भयभीत होकर अपने प्राण बचाने के लिए भागा और ध्यानस्थ गर्दभिल्ल मुनि के पास जाकर बैठ गया। मुनियों की गोद तो सबको शरण देने और निर्भर बनाने वाली होती है, यह वन्य पशु भी समझते थे।

संयमी राजा ने दूर से ही जब अपने शिकारमृग को एक शान्त निर्भीक मुनि के पास बैठे देखा तो वह जरा सहम गया। तेजस्वी और प्रभावशाली व्यक्ति के सामने हिंसक, क्रूर और पापी व्यक्ति भी लज्जावश झुक जाता है और अपने दुष्कृत्य को उस समय तो बन्द कर देता है। संयती राजा भी शिकार बन्द करके अपने साथियों सहित गर्दभिल्ल मुनि के पास पहुँचा, जहाँ हिरन बैठा था। राजा मन में भयभीत हो रहा था कि शायद यह मृग मुनि का होगा। मैंने मुनि के इस मृग को सताया और मारने का सोचा, इसलिए ये कहीं कोई श्राप न दे बैठें। वैसे तो समंभावी मुनि के लिए सभी प्राणी अपने ही होते हैं। उनका वात्सल्यभाव सब पर होता है। वे निरपराध प्राणी को सताने वाले के प्रति भी वात्सल्य बरसाकर उसकी बुरी या हिंसक वृत्ति को छुड़ा देते हैं।

संयती राजा हाथ जोड़कर मुनि से अभय और क्षमा की याचना करने लगा। मुनि ध्यान खोलते ही सारी परिस्थिति समझ गए। उन्होंने संयती राजा को समझाते हुए कहा —

“अभओ पत्थिवा तुज्झ, अभयदाया भवाहि य।”

— हे राजन् ! तुम्हें मेरी ओर से अभय है (किसी प्रकार का भय नहीं है) परन्तु तुम (आज से) इन निर्दोष प्राणियों के अभयदाता बनो। ये बचारे घास-पात खाकर, मुँह में तिनका दबाकर तुम्हारी शरण में आते हैं तो तुम्हें उन्हें अभय बनाना चाहिए।

बस, उन गर्दभिल्ल मुनि का संयती राजा पर इतना जबर्दस्त प्रभाव पड़ा कि वह महामुनि के चरणों में दीक्षित होकर सदा के लिए सब प्राणियों के लिए पूर्ण अभयदाता बन गया।

इसलिए पूर्ण अभयदाता तो प्रायः साधु-साध्वी या सन्यासी, भक्त या

महात्मा हो सकते हैं किन्तु सामान्य रूप से एक दूसरे का न्यूनाधिक रूप से अभयदान को हम प्रासंगिक अभयदान कहते हैं । ऐसा अभयदान तो प्रायः सभी मनुष्य एक-दूसरे को दे सकते हैं ।

इसलिए अलौकिक अभयदान वह हो सकता है, जिसमें किसी प्रकार की लौकिक आकांक्षा या आसक्ति न हो । जिस अभयदान के पीछे किसी प्रकार की नामना-कामना, प्रसिद्धि अथवा यशकीर्ति की लालसा न हो अथवा किसी प्रकार का स्वार्थ, पक्षपात या संकीर्णता न हो, वह अलौकिक अभयदान कहलाता है । जिस अभयदान का दायरा किसी अमुक जाति-विशेष, प्रान्त-विशेष या राष्ट्र-विशेष के व्यक्तियों तक सीमित कर दिया जाता है अथवा जिसकी सीमा अमुक जाति, प्रान्त या राष्ट्र में आबद्ध हो, वह लौकिक अभयदान है ।

चूँकि लौकिक अभयदान अमुक सीमा में ही आबद्ध होता है, इसलिए उसमें कुछ न कुछ राग, आसक्ति, पक्षपात या आकांक्षा का अंश रहता ही है ।

अलौकिक अभयदान में ऐसी बात नहीं होती । वह असीम भावना को लेकर दिया जाता है । उस अलौकिक अभयदान का द्वार किसी जाति, धर्म, सम्प्रदाय, प्रान्त या राष्ट्र में ही बन्द न होकर सारे संसार के प्राणियों के लिए, समस्त मानवों के लिए खुला रहता है । यह बात दूसरी है कि वह समग्र विश्व के, समस्त प्राणियों तक अपने एक शरीर से पहुँच न पाता हो, परन्तु वह अपने सामने आये हुए प्रसंगों पर इस प्रकार की सीमा या संकीर्णता नहीं लाता । उसके मन में सारा विश्व होता है, उसकी दृष्टि में प्रत्यक्ष प्रसंग होता है और उसके व्यवहार में सामने जो अवसर आ जाता है, वही अभयदान की प्रवृत्ति होती है ।

इस प्रकार दान के चारों भेदों पर विवेचन अलौकिक और लौकिक दोनों दृष्टियों से किया गया है ।

दान के अन्य भेद

प्राचीन जैन मनीषियों ने दान के सम्बन्ध में बड़ा ही सूक्ष्म और सार्वदेशिक चिन्तन किया है ।

दान के पूर्वोक्त चार भेद (या तीन भेदों में समाविष्ट चार भेद) अलौकिक और लौकिक दोनों दृष्टियों से होते हैं । परन्तु कुछ आचार्यों ने दान के अन्य भेद भी बताए हैं ।

जैसे उपदेशमाला और दानप्रदीप में दान के ८ भेद इस प्रकार किये हैं - (१) वसतिदान, (२) शयनदान, (३) आसनदान (४) भक्त (भोजन)दान, (५) पानीयदान, (६) भैषजदान, (७) वस्त्रदान, और (८) पात्रदान ।

वसतिदान से मतलब है - ऐसा स्थान या मकान साधु-साध्वियों या महाव्रतियों के निवास के लिए देना, जो उनके लिए कल्पनीय हो ।

शयनदान से तात्पर्य है - सोने, बैठने के लिए तख्त, पट्टा आदि तथा चटाई आदि साधु-साध्वियों या उत्तम पात्रों को देना । ये भी कल्पनीय, निर्दोष तथा जीव-जन्तु से रहित हों, संयम साधनापोषक हों; उन्हें देना ही शयनदान है ।

आसनदान का अर्थ है - बैठने के लिए चौकी, मेज, स्टूल या अन्य लकड़ी आदि की वस्तु देना ।

भक्तदान से मतलब है - साधु-साध्वियों को न्यायगत, कल्पनीय शुद्ध एषणीय आहार देना । जिस वस्तु से धर्मवृद्धि हो, संयम-साधना निराबाध हो सके; वैसी खाद्य-वस्तुएँ देना ही भक्तदान है ।

पानीयदान का अर्थ है - साधु-साध्वियों को प्रासुक, कल्पनीय, भिक्षा के दोषों से रहित निर्दोष जल देना ।

भैषज्यदान का अर्थ है - साधु-साध्वियों को किसी प्रकार रोग या शरीर में असाता पैदा होने पर किसी प्रकार पीड़ा, व्यथा या व्याधि होने पर औषध भैषज्य (दवा-पथ्यपरहेज) आदि देना दिलाना ।

वस्त्रदान का अर्थ है - शुद्ध कल्पनीय वस्त्र साधु-साध्वियों को उनकी आवश्यकतानुसार देना-दिलाना ।

पात्रदान का अर्थ है - महाव्रतियों या साधु-साध्वियों को उनके लिए

कल्पनीय और आहार-पानी आदि के लिए आवश्यकतानुसार काष्ठ आदि के पात्र देना ।

आवश्यकचूर्ण में भी दान के १० भेद बताए गए हैं । वे इस प्रकार हैं—

(१) यथाप्रवृत्तदान, (२) अन्नदान, (३) पात्रदान, (४) वस्त्रदान, (५) औषधदान, (६) भैषज्यदान, (७) पीठदान, (८) फलकदान (९) शय्यादान, और (१०) संस्तारकदान ।

इसके अतिरिक्त आवश्यकसूत्र, उपासकदशांगसूत्र^१, सूत्रकृतांगसूत्र^२ एवं भगवतीसूत्र^३ आदि में दान के उत्तम पात्रों को देने की दृष्टि से १४ भेद बताये हैं — (१) अशन, (२) पान, (३) खादिम, (४) स्वादिम, (५) वस्त्र, (६) पात्र, (७) कम्बल, (८) पादप्रौंछन, (९) पीठ, (१०) फलक, (११) शय्या, (१२) संस्तारक, (१३) औषध और (१४) भैषज्य ।

ये १४ प्रकार की धर्मपालन के लिए आवश्यक कल्पनीय, उचित निर्दोष एषणीय वस्तु साधु-साध्वियों को देना दान है ।

इन सब पूर्वोक्त दानों के अतिरिक्त कुछ दान और हैं, जिनका उल्लेख विविध धर्मग्रन्थों में मिलता है -

क्षायिकदान :

दिगम्बर जैन ग्रन्थों में क्षायिकदान की चर्चा आती है । क्षायिकदान वास्तव में दानान्तराय आदि के अत्यन्त क्षय होने से होता है और दानान्तराय आदि का सर्वथा क्षय अर्हन्तों और वीतरागों - केवलज्ञानियों के ही होता है, जो १२वें, १३वें गुणस्थान पर पहुँच जाते हैं । परन्तु एक सवाल उठता है कि ऐसे उच्च गुणस्थानवर्ती महापुरुष तो यथाख्यातचारित्री, क्षीणमोहनीय या सयोगीकेवली होते हैं, उनके पास उस समय देने को क्या होता है ? न तो वे धन दे सकते हैं, न अन्न ही और न अन्य कोई वस्तु ही दे सकते हैं । तब वे दान किस बात का

१. उपासक १/५८

२. सूत्रकृतांग २/२/३९

३. भगवती २/५

करते हैं ? इसका समाधान करते हुए आवश्यकनिर्युक्ति (११०३) में कहा है —

“जं तेहिं दायव्वं तं दिन्नं जिणवरोहिं सव्वेहिं ।

दंसण-नाण-चरित्तस्स, एस तिविहस्स उवएसो ॥”

— तीर्थंकरों ने जो कुछ देने योग्य था सब दे दिया है । वह समग्रदान है — दर्शन, ज्ञान और चारित्र का उपदेश ।

वास्तव में तीर्थंकर और केवलज्ञानी जब तक सिद्ध नहीं होते, उससे पहले-पहले शरीर से जितना भी उपकार संसारी जीवों का कर सकते हैं, करते हैं । परन्तु वे धन, खाद्य पदार्थ, वस्त्र या अन्य कोई चीज स्वयं रखते नहीं, वे स्वयं आहारादि जिस वस्तु का उपयोग करते हैं, वह भी संग्रह करके रखते नहीं और वह भी गृहस्थ से याचना करके लेते हैं, इसलिए याचित वस्तु का दान वे कैसे कर सकते हैं ? जो जिस वस्तु का याचक है, वह उस वस्तु का दाता कैसे बन सकता है ? इसीलिए तीर्थंकरों के पास जो वस्तुएँ हैं — ज्ञान, धर्म, अभय, बोधि आदि उसी का वे दान कर सकते हैं और करते हैं । इसीलिए शक्रस्तव (नमोत्थुणं) के पाठ में अभयदयाणं, चक्रुदयाणं, मग्गदयाणं, बोहिदयाणं, धम्मदयाणं अभयदानदाता, चक्षु (ज्ञान) ज्ञानदाता (मार्ग के दाता) (राहबर-पथ-प्रदर्शक), बोधि (सम्यक्त्व या सम्यग् दर्शन) के दाता, धर्म (सूत्र-चारित्ररूप धर्म) के दाता उन्हें कहा गया है । यही कारण है कि तत्त्वार्थसूत्र की सर्वार्थसिद्धि टीका (२/४/१५४/४) में आचार्य पूज्यपाद ने तथा राजवार्तिक (२/४/२/१०५/२८) में क्षायिकदान का लक्षण इस प्रकार किया है —

“दानान्तरायस्यात्यन्तक्षयादनन्त प्राणिगणानुग्रहकरं क्षायिकमभयदानम् ।”

— दानान्तराय कर्म के अत्यन्त क्षय से अनन्त प्राणिगणों का उपकार करनेवाला अभयदान रूप क्षायिकदान होता है ।

एक प्रश्न इस सम्बन्ध में फिर उठाया जाता है कि अरिहंतों के दानान्तराय कर्म का तो सर्वथा क्षय हो गया है, फिर वे सभी जीवों को इच्छित अर्थ क्यों नहीं दे देते ? माना कि वे अपने पास धन आदि पदार्थ नहीं रखते,

१. अरहंता खीणदाणंतराइया सव्वेसि जीवाणं मिच्छित्थे किण्ण देति ?

ण, तेसि जीवाणं लाहंतराइयभावादे । — धवला १४/५, ६; १८/१७/१

किन्तु वे दूसरों को उपदेश देकर या कहकर तो दिला ही सकते हैं। इसका उत्तर षट्खण्डागम की धवला टीका में दिया गया है — उन जीवों को अरिहंत न तो बाह्य पदार्थों का दान दे सकते हैं और न ही दिला सकते हैं, क्योंकि उनके अभी लाभान्तराय कर्म का उदय है, इसलिए बाह्य पदार्थों का लाभ (प्राप्ति) उन्हें नहीं हो सकता।

क्षायिकदान के सम्बन्ध में एक और प्रश्न उठाया गया है कि 'क्षायिकदान जैसे अरिहंतों में होता है, वैसे सिद्धों में भी होना सम्भव है, क्योंकि वे भी दानान्तराय आदि सभी कर्मों का सर्वथा क्षय कर चुके हैं, फिर वे संसारी जीवों को अभयदानादि क्यों नहीं देते ? इस प्रकार की शंका सर्वार्थसिद्धि (टीका) में उठाई गई है, जिसका समाधान वहाँ किया गया है कि सिद्धों में क्षायिकदानादि होते हुए भी अभयदानादि का प्रसंग प्राप्त नहीं होता, क्योंकि अभयदानादि के होने में शरीर नामकर्म और तीर्थकर नामकर्म के उदय की अपेक्षा रहती है, मगर सिद्धों के शरीर नामकर्म और तीर्थकर नामकर्म नहीं होते, अतः उनमें अभयदानादि प्राप्त नहीं होते।

बौद्धशास्त्रों में वर्णित दो दान :

यद्यपि बौद्धसाहित्य में विविध दृष्टियों से दान के अनेक भेद बताए हैं, किन्तु अंगुत्तरनिकाय (२/१३/१) में महात्मा बुद्ध ने मुख्यतया दो प्रकार के दान बताए हैं —

भिक्षुओ ! दो दान हैं — भौतिकदान और धर्मदान (आमिसदानं च धम्मदानं च)। इन दोनों में धर्मदान श्रेष्ठ है। धर्मदान की महिमा बताते हुए धम्मपद (२५/२१) में कहा गया है —

“सर्व्वं दानं धम्मदानं जिनाति
सर्व्वं रसं धम्म रसो जिनाति।”

— धर्मदान सब दानों से बढ़कर है। धर्म का रस सब रसों से श्रेष्ठ है।

धर्मदान के तीन रूप हैं — अभयदान, संयति (सुपात्र) दान और

१. यदि क्षायिकदानादिभावकृतमभयदानादि, सिद्धेष्वपि, तत्प्रसंगः।

नैष दोषः, शरीरनामतीर्थकरनाम कर्मोदयाद्यपेक्षत्वात् तेषां तदभावे तदप्रसंगः ॥

ज्ञानदान । भौतिक (आमिष) दान वह है, जो इन्द्रियों के विषयों से सम्बन्धित हो । वस्तुतः जो दान वस्तुनिष्ठ हो, वह आमिसदान कहलाता है, परन्तु जो दान भावनिष्ठ हो, वह धर्मदान कहलाता है । भाव या अभय का दान अधिक लाभदायक, आत्मा के लिए वस्तु की अपेक्षा विचार, ज्ञान, हितकारक और जीवन निर्माणकारी होता है ।

धर्मदान की सर्वश्रेष्ठता तो सभी धर्मों में बताई गई है । पिछले पृष्ठों में हम बता चुके हैं कि धर्मदान श्रेष्ठदान है । क्योंकि जिसे अभयदान दिया जाता है वह भौतिक पदार्थों की अपेक्षा अपने जीवन को अधिक चाहता है, जीवन सबको प्यारा है । एक और सोने चाँदी या रत्नों का ढेर हो और दूसरी ओर केवल अभय हो या ज्ञान अथवा विचार हो तो प्रत्येक प्राणी खासतौर से मनुष्य तो जिन्दगी को ही अधिक चाहता है ।

वर्तमान में प्रचलित दान :

वर्तमान युग में जो दान प्रचलित है उनका हम संक्षेप में उल्लेख मात्र करते हैं —

भूदान, सम्पत्तिदान, साधनदान, श्रमदान, बुद्धिदान, समयदान, ग्रामदान, जीवनदान, रक्तदान, किडनीदान, चक्षुदान, चमड़ीदान, शरीरदान इत्यादि ।

उक्त दानों में पवित्रता बनाये रखने के लिए यह आवश्यक है कि ये सभी दान निःस्वार्थ भाव से अथवा मानवीय दृष्टि से हों । अगर इनमें स्वार्थ, प्रदर्शन और नेतागिरी की भावना आ गई तो फिर उन दानों से कोई भी पुण्य या लाभ नहीं होने वाला है ।

दान के ये और इस तरह के सभी प्रकारों का वर्णन हमने किया है । वास्तव में देखा जाये तो दान भावना पर निर्भर होने से उसके अनेक प्रकार हो सकते हैं, वस्तु की अपेक्षा से, पात्र की अपेक्षा से, आवश्यकता की अपेक्षा से और जीवन-निर्माण की अपेक्षा से । अतः इनका वर्गीकरण करके पूर्व पृष्ठों में यत्र-तत्र धर्मशास्त्रों, ग्रन्थों एवं महान् व्यक्तियों द्वारा निर्दिष्ट एवं प्रचलित दानों का उल्लेख एवं उन पर सांगोपांग विवेचन प्रस्तुत करने का प्रयास किया है ।

दान से पुण्य : एक विश्लेषण

दान के बारे में इतना विवेचन करने के बाद सहज ही प्रश्न उठता है कि क्या दान में एकान्त धर्म ही होता है या जहाँ धर्म नहीं, वहाँ पुण्य भी हो सकता है ? इसके बारे में हमारे ऋषि महर्षियों के तथा आगमों में क्या विचार है ? हम संक्षेप में इस पर विचार करते हैं ।

भारतीय संस्कृति के सभी चिन्तकों ने पुण्य-पाप के सम्बन्ध में विस्तार से चिन्तन किया है । मीमांसक दर्शन ने पुण्य-साधन पर अत्यधिक बल दिया है । उनका अभिमत है कि पुण्य से स्वर्ग के अनुपम सुख प्राप्त होते हैं । उन स्वर्गीय सुखों का उपभोग करना ही जीवन का अन्तिम लक्ष्य है, पर जैन दर्शन के अनुसार आत्मा का अन्तिम लक्ष्य मोक्ष है । मोक्ष का अर्थ है — पुण्य-पाप रूप समस्त कर्मों से मुक्ति पाना ।^१ यह देहातीत या संसारातीत अवस्था है । जब तक प्राणी संसार में रहता है, देह धारण किया हुए हैं; तब तक उसे संसार व्यवहार चलाना पड़ता है । पाप कर्म से प्राणी दुःखी होता है, पुण्य कर्म से सुखी । प्रत्येक प्राणी सुख चाहता है, स्वस्थ शरीर, दीर्घ आयुष्य, धन-वैभव, परिवार, यश-प्रतिष्ठा आदि की कामना प्राणी मात्र की है ! सुख की कामना करने से सुख नहीं मिलता, किन्तु सुख प्राप्ति के कार्य सत्कर्म (धर्माचरण) करने से ही सुख मिलता है । उस सत्कर्म को ही शुभ योग कहते हैं । आचार्य उमास्वाति ने कहा है —

“योगः शुद्धः पुण्यास्तवस्तु पापस्य तद्विपर्यासः ।”^२

— शुद्ध योग पुण्य का आश्रय (आगमन) करता है और अशुद्ध योग पाप का ।

शुभयोग शुभ भाव अथवा शुभ परिणाम तथा सत्कर्म प्रायः एक ही अर्थ रखते हैं । केवल शब्द व्यवहार का अन्तर है ।

मतलब यह हुआ कि सुख चाहने वाले को शुभ योग का आश्रय लेना

१. कुत्सकर्म वियोग लक्षणो मोक्षः । — तत्त्वार्थ. १/४८ (सर्वार्थसिद्धि)

२. उमास्वातीय नवतत्त्व प्रकरणं (आश्रवतत्त्व प्रकरण)

होगा। शुभ योग से ही पुण्यबंध होता है। एक बार कालोदायी श्रमण ने भगवान महावीर से पूछा कि “जीवों को सुख रूप शुभ फल (पुण्य) की प्राप्ति कैसे होती है?”

उत्तर में भगवान महावीर ने बताया —

“कालोदाई ! जीवाणं कल्लाणाकम्मा कल्लाणफलविवाग
संजुत्ता कज्जंती ।”^१

— कालोदायी ! जीवों द्वारा किये गये शुभ कर्म ही उनके लिए शुभ फल देने वाले होते हैं।

वास्तव में धर्म क्रिया द्वारा, शुभ प्रवृत्ति द्वारा दो कार्य निष्पन्न होते हैं — अशुभ कर्म की निर्जरा और शुभ कर्म का बंध। अर्थात् पाप का क्षय और पुण्य का बंध। पाप-क्षय से आत्मा उज्ज्वल होती है और पुण्यबंध से जीव को सुख की प्राप्ति होती है। पुण्य की परिभाषा ही यही है —

“सुहहेउ कम्मपगइ पुनं ।”^२

— सुख की हेतु भूत कर्म प्रकृति पुण्य है।

पुण्य के सम्बन्ध में पहली एक सर्वसम्मत मान्यता तो यह है कि पुण्य भी बंध है, कर्म संग्रह है और मोक्षकामी जीव के लिए वह बंधन रूप होने से त्याज्य ही है। पाप लोहे की बेड़ी है और पुण्य सोने की बेड़ी है। बेड़ी टूटने से ही मुक्ति होगी चाहे सोने की हो या लोहे की। किन्तु यह भी सभी आचार्यों ने माना है कि पहले लोहे की बेड़ी तोड़ने का प्रयत्न करना चाहिए अर्थात् पापनाश के लिए ही पुरुषार्थ करना चाहिए। पुण्य-क्षय के लिए कोई भी समझदार व्यक्ति प्रयत्न नहीं करता और न यह उचित ही है। क्योंकि पुण्य का भोग ही पुण्य का स्वतः क्षय करता है अतः मुक्तिकामी को पुण्यबंध के हेतु भूत-शुभ कर्मों का आचरण करना चाहिए।

दूसरी एक मान्यता है जिसमें दो मत हैं। एक परम्परा है — जो शुभ कर्म, धर्माचरण, दान, सेवा, दया, उपकार आदि कार्य से धर्म भी मानती है और

१. भगवतीसूत्र ७/१०

२. श्री देवेन्द्रसूरि कृत नवतत्त्व प्रकरण, गाथा २८

पुण्य भी । जैसे व्रती, संयती आदि को दान देना, उनकी सेवा करना धर्म है, इससे संवर तथा निर्जरा रूप धर्म की वृद्धि होती है । अशुभ कर्म का निरोध होना संवर है, बँधे हुए अशुभ कर्मों का क्षय होना निर्जरा है और नये शुभ कर्म का बँधना पुण्य है । इसीलिए संयती आदि को दान वगैरह देने से संवर-निर्जरा रूप धर्म भी होता है और शुभ कर्मबंध रूप पुण्य भी होता है । किन्तु जो पूर्ण व्रती नहीं हैं, संयतासंयति या असंयति हैं फिर भी दान या सेवा के पात्र हैं, तो उनको दान देने से, उन पर अनुकम्पा करने से, उनकी सेवा करने से भले ही संवर रूप धर्म न हों, किन्तु पुण्य का बंध अवश्य होता है । उस सेवा-दान-अनुकम्पा आदि के फलस्वरूप जीव को पुण्य की प्राप्ति होती है । जैसा कि आचार्य उमास्वाति ने बताया है —

भूत अनुकम्पा, व्रती अनुकम्पा, दान, सराग-संयम, शांति और शौच - ये छह साता वेदनीय कर्म (सुख) के हेतु हैं ।^१

दूसरी मान्यता के अनुसार जिस प्रवृत्ति में धर्म नहीं उसमें पुण्य भी नहीं ।^२

यह मान्यता सिर्फ एक सम्प्रदाय की है, जैन जगत् के प्रायः मूर्धन्य विचारकों और विद्वानों ने इस धारणा का खण्डन किया है । क्योंकि इससे दान सेवा आदि का क्षेत्र बहुत ही संकुचित हो जाता है ।

आगमों में बताया है — तीर्थंकर देव दीक्षा लेने से पहले वर्षादान देते हैं ?^३ यह दान कौन लेते हैं ? क्या त्यागी श्रमण, संयती यह दान लेने जाते हैं ? नहीं ! यह दान लेने जाते हैं — कृपण, दीन, भिक्षुक, अनाथ आदि ऐसे व्यक्ति जिन्हें स्वर्ण-मणि आदि की आवश्यकता या कामना है ? और वे तो स्पष्ट ही अव्रती या श्रावक की कोटि में ही आयेंगे । तो क्या उन लोगों को दान देने में तीर्थंकर देव को संवर रूप धर्म होता है ? नहीं, इस दान को पुण्य हेतुक माना है और वास्तव में ही वह पुण्य है । अगर पुण्य नहीं होता तो तीर्थंकर भगवान महावीर आदि दीक्षा लेने से पूर्व इतना बड़ा पाप कृत्य क्यों करते ? इधर तो

१. तत्त्वार्थसूत्र ६/१२

२. आचार्य भिक्षुकृत नव पदार्थ (पुण्य पदार्थ, गा. ५४-५६)

३. आचारांगसूत्र, द्वितीय श्रुतस्कन्ध

करोड़ों, अरबों-खरबों स्वर्ण-मुद्राओं का दान और उधर पाप का बंधन । अतः इस एक उदाहरण से ही यह स्पष्ट हो जाता है कि जिस कार्य में धर्म नहीं हो, उसमें भी पुण्य हो सकता है । बहुत से कृत्य धर्मवर्द्धक नहीं हैं, किन्तु पुण्यकारक हैं, जैसे तीर्थकरों का वर्षीदान ।

रायप्रसेणीसूत्र में राजा प्रदेशी का जीवनवृत्त है । वह जब केशीकुमार श्रमण से श्रावकधर्म अंगीकार करता है तब अपने राज्यकोष को चार भागों में बाँटता है । जिसके एक भाग में वह अपने राज्य में दानशालाएँ, भोजनशालाएँ, औषधालय, कुएँ, अनाथाश्रम आदि खुलवाता है जहाँ हजारों अनाथ, रुग्ण, भिक्षुक आदि आकर आश्रय लेते हैं, अपनी क्षुधा पिपासा शांत करते हैं और औषध आदि प्राप्त कर स्वाध्याय लाभ लेते हैं । अगर इन प्रवृत्तियों में पुण्य नहीं होता तो केशीकुमार श्रवण अपने श्रावक राजा प्रदेशी को स्पष्ट ही कह देते-यह कार्य पुण्य का नहीं है, अतः करने से क्या लाभ है और फिर श्रावक व्रतधारी चतुर राजा भी यह सब आयोजन क्यों करता ? अतः आगम की इस घटना से भी स्पष्ट सूचित होता है कि बहुत से अनुकम्पापूर्ण कार्यों में धर्म भले ही न हो, किन्तु पुण्यबंध तो होता ही है और इसी पुण्य हेतु व्यक्ति शुभ आचरण करता है । ताकि दीन-अनाथ अनुकम्पा पात्र व्यक्तियों को सुखसाता पहुँचे । स्थानांगसूत्र में पुण्य के नौ स्थान (कारण) बताये हैं जैसे^१-

(१) अन्नपुण्ये (२) पान पुण्ये (३) वत्थ पुण्ये (४) लयण पुण्ये (५) सयण पुण्ये (६) मण पुण्ये (७) वयण पुण्ये (८) काय पुण्ये (९) नमोक्कार पुण्ये

यहाँ पुण्य का अर्थ है पुण्य कर्म की उत्पत्ति के हेतु कार्य । अन्न, पान (पानी) स्थान, शयन (बिछोना) वस्त्र आदि के दान से तथा मन, वचन, काया आदि की शुभ (परोपकार प्रधान) प्रवृत्ति से एवं योग्य गुणी को नमस्कार करने से पुण्य प्रकृति का बंध होता है । ये पुण्य के कारण हैं, कारण में कार्य का उपचार कर इन कारणों को पुण्य की संज्ञा दी गई है । अर्थात् अन्नदान से अन्नपुण्य, पान (जल) दान से पान पुण्य इसी प्रकार अमुक कारण से जो पुण्य होगा उसे वही संज्ञा दी गई है ।

१. स्थानांगसूत्र ९/३/६७६

टीकाकार अभयदेवसूरि लिखते हैं —

“पात्रायान्नदानाद् यस्तीर्थकर नामादि पुण्यप्रकृतिबन्ध
स्तदन्नपुण्यमेवं..... सर्वत्र..... ।”^१

— पात्र को दान देने से तीर्थकर नामकर्म आदि पुण्य प्रकृतियों का बंध होता है। अतः अन्नदान को अन्नपुण्य कहा है। वैसे ही पानदान को पान पुण्य जानना चाहिए।

जैनदर्शन अनेकान्तवादी है, वह प्रत्येक प्रश्न पर अनेकान्त दृष्टि से विचार करता है। पात्र के भी कई भेद हैं — सुपात्र, पात्र, अपात्र, कुपात्र।

सुपात्र को देने से महान् फल की प्राप्ति होती है। प्राचीन आचार्यों के अनुसार तीर्थकर, गणधर, आचार्य, स्थविर, मुनि आदि पंच महाव्रतधारी सुपात्र हैं।^२ देशविरत गृहस्थ तथा सम्यग्दृष्टि पात्र है। दीन, करुणापात्र, अंगोपांग से हीन व्यक्ति भी पात्र है।^३

तीर्थकर पुण्य प्रकृति का बंध सुपात्र को देने से ही होता है। किन्तु यह भी कोई नियम नहीं है। जब त्रिकरण शुद्धि के साथ दाता को उत्कृष्ट भावना आती है, अर्थात् भावधारा अत्यन्त शुद्ध उच्चतम श्रेणी पर चढ़ती है तभी उस दान के महाफल रूप तीर्थकर नाम प्रकृति का बंध होता है। सामान्य भावस्थिति में शुभ कर्मों का बंध होता है जिसमें शुभ दीर्घ आयुष्य का बंध भी होता है^४ तथा शुभ मनुष्य आयु का भी बंध होता है।^५

इसलिए सुपात्र के सिवाय जब सामान्य पात्र (सम्यग्दृष्टि गृहस्थ या करुणा पात्र दीन व्यक्ति) को अनुकम्पा, वत्सलता, उपकार आदि कोमल भावना से प्रेरित होकर अन्न आदि का दान किया जाता है, तब वह भले ही संयम वृद्धिकारक न हो, किन्तु पुण्य वृद्धिकारक तो है ही क्योंकि हृदय में जब

१. स्थानांगसूत्र, टीका ९

२. श्री नवतत्त्व प्रकरण (सुमंगला टीका, पृ. ४८)

३. वही पृष्ठ ४९

४. (क) स्थानांगसूत्र ३/१/१२५ (ख) भगवतीसूत्र ५/६

५. देखिए सुखविपाक; सुबाहुकुमार का प्रकरण

कौमलता, उदारता, अनुकंपा आदि भावों की धारा उमड़ती है, तो आत्मप्रदेशों में निश्चित ही स्पन्दन होता है, शुभ योग की वृद्धि होती है और तब शुभ योग से पुण्यबंध भी होता है। अगर सुपात्र (संयमी) के सिवाय अन्न आदि देना पुण्यकारक न होता तो भरत चक्रवर्ती श्रावकों के लिए भोजनालय क्यों चलाते और क्यों प्रदेशी राजा राज्य में दानशालाएँ खुलवाते। आगमों के प्राचीन उदाहरण इस बात को स्पष्ट रूप में स्वीकार करते हैं कि अनुकंपा आदि शुभ भाव के साथ दिया गया अन्नदान, पानदान, वस्त्रदान - अन्नपुण्य, पानपुण्य-वस्त्रपुण्य की कोटि में आता है।

इसलिए नौ प्रकार के पुण्य तो सर्वसाधारण योग्य पात्र को सार्वजनिक रूप में या व्यक्तिगत रूप में दान करने से उपार्जित हो सकते हैं, होते हैं, हुए हैं।

इस अर्थ से प्रत्येक व्यक्ति, चाहे वह किसी भी धर्म-सम्प्रदाय, जाति-कौम या देश-कुल का हो, अपने स्थान या क्षेत्र में रहकर भी पुण्य उपार्जित कर सकता है। शास्त्र में जैसे पापोपार्जन के १८ प्रकार बताए हैं, वैसे ही पुण्योपार्जन के ये ९ भेद बताये हैं। इन्हीं ९ प्रकारों में संसार के सभी प्रमुख पदार्थ आ जाते हैं, जिनसे पुण्योपार्जन किया जाता है, बशर्ते कि ये ९ पदार्थ तद्योग्य पात्र को परिस्थिति देखकर दिये जाएँ इसी कारण हमने दान के प्रकारों में इन नवविध पुण्योत्पादक दानों का उल्लेख और विश्लेषण किया है।

अष्टम अध्याय

दान की विशेषता

१. दान की विधि :

मनुष्य का लक्षण ही यह है —

“मत्वा कार्याणि सीव्यतीति मनुष्यः ।”

— जो मनन करके, विचार करके कार्य में प्रवृत्त होता है, वह मनुष्य है। इस दृष्टि से दान की क्रिया को करने से पहले भी वह यह अवश्य सोचता है कि यह दान लाभदायक होगा कि नहीं ? किस विधि से या किस प्रकार से अथवा किस रूप में, किस द्रव्य को, किसको देने से दान से अधिक लाभ हो सकता है ? इस प्रकार दान की कला और लाभ के विचार से सम्पन्न व्यक्ति उसी तरीके से दान देता है, जिससे उसके दान से अधिकाधिक लाभ हो। किसी समय वैसा सुपात्र न मिले तो अनुकम्पापात्र को भी वह दान देता है, परन्तु उसमें भी अविधि से होने वाले अलाभ से बचकर देता है, ताकि वह विधिपूर्वक दान से लाभ उठा सके।

दान कभी व्यर्थ तो नहीं जाता, उसका फल यहाँ भी मिलता है, वहाँ भी, लेकिन देखना यह है कि सत्कारपूर्वक विशिष्ट भावना से विशिष्ट द्रव्य का उतना ही दान देकर एक दानकला का विशेषज्ञ उस व्यक्ति से विशेष लाभ उठा सकता है। इसलिए दानकला में निपुण व्यक्ति के दान देने में और दानकला से अनभिज्ञ के दान देने में चाहे वस्तु और क्रिया में अन्तर न हो, किन्तु भावना और फल में, लाभ और विधि में अन्तर हो जाता है। इसीलिए तत्त्वार्थ सूत्र (७/३९) में आचार्य उमास्वाति ने प्रकाश डाला है —

“विधि-द्रव्य-दातृ-पात्र विशेषात् तद्विशेषः ।”

— विधि, देयवस्तु, दाता और पात्र (दान लेने वाले) की विशेषता से दान से होने वाले लाभ में विशेषता आ जाती है ।

दान एक प्रकार का सोना है, अपने आप में वह मलिन नहीं होता, किन्तु अनादर से, अविधि से या अनवसर से, दान देने से उक्त दान पर दोष की कालिमा चढ़ जाती है और निपुणता से, सत्कारपूर्वक, अवसर पर, विधिपूर्वक दान देने पर दान में विशेष चमक आ जाती है । दानदाता के जीवन में आया हुआ समस्त कालुष्य भी उसके सहारे से धुल जाता है ।

इसीलिए कुरल (९/७) में इसका स्पष्टीकरण करते हुए कहा है —

हम आए हुए अतिथि को दान देने या अतिथि-सेवा के माहात्म्य का पूर्णतया वर्णन करने में समर्थ नहीं है । उसमें कितना पुण्य है ? किन्तु यह बात अवश्य कहेंगे कि उस अतिथि यज्ञ (दान)में विशेषता दाता, पात्र, विधि और द्रव्य को लेकर न्यूनाधिक होती है ।’

दान में निपुणता को अभिव्यक्त करने के लिए एक ही उदाहरण पर्याप्त होगा ।

सुखविपाकसूत्र में इसी बात को स्पष्टतया प्रतिपादित करते हुए कहा है कि आदर्श श्रमणोपासक सुबाहुकुमार ने हस्तिनापुर नगर निवासी सुमुख गृहपति के भव (पूर्व-जन्म) में एक दिन धर्मघोष स्थविर के सुशिष्य सुदत्त नामक अनगार को, जो कि एकमासिक उपवास करते थे, जब मासक्षण तप के पारणे के लिए अपने (सुमुख के) घर की ओर पधारते देखा, देखते ही वह मन ही मन अत्यन्त हर्षित और तृष्ट हुआ । अपने आसन से उठा, चौकी पर पैर रखा एवं वहाँ से उतरकर एकसाटिक उत्तरासंग किया और सुमुख अनगार की ओर सात-आठ कदम सामने गया, उन्हें तीन बार प्रदक्षिणा करके विधिपूर्वक वन्दन-नमस्कार किया और जहाँ अपना भोजनगृह था, वहाँ उन्हें सम्मानपूर्वक लेकर आया । फिर अपने हाथों से विपुल अशन, पान, खादिम, एवं स्वादिम चारों प्रकार के आहार देने की उत्कट भावना से उन्हें आहार दिया । आहार देने से

१. आतिथ्य-पूर्ण माहात्म्य-वर्णने न क्षमा वयम् ।

दातृपात्रविधिद्रव्यैस्तस्मिन्नस्ति विशेषता ॥ — कुरल (९/७)

पहले, आहार देते समय और आहार देने के बाद तीनों समय सुमुख गृहपति के चित्त में अतीव प्रसन्नता और सन्तुष्टि थी ।

उसके बाद उस सुमुख गृहपति ने उक्त दान में द्रव्यशुद्धि, दाता की शुद्धि और पात्र की शुद्धि इस प्रकार मन-वचन-काया से कृत-कारित-अनुमोदित रूप त्रिकरण शुद्धिपूर्वक सुदत्त नामक अनगार को प्रतिलाभित करने (दान देने) से अपना संसार (जन्म-मरण का चक्र) सीमित कर लिया । मनुष्यायु का बंध किया । उसके घर में ये पाँच दिव्य प्रादुर्भूत हुए - धन की धारा की वर्षा हुई, पाँच वर्ण की पुष्पवृष्टि हुई, देवों ने वस्त्र भी आकाश से डाले, देवदुन्दुभियाँ बजीं और बीच-बीच में आकाश से अहोदान-अहोदान की घोषणा भी की ।^१

जैनशास्त्रों में इस प्रकार के विशिष्ट लाभों का वर्णन करने वाले अनेक उदाहरण विद्यमान हैं । परन्तु उन सबमें सिर्फ दाता और पात्र के नाम अलग-अलग हैं या देय द्रव्य भिन्न भिन्न हैं, किन्तु उसके कारण प्राप्त होने वाले दान के फल में कोई अन्तर नहीं है ।

भगवतीसूत्र शतक १४ में विधिपूर्वक दान का इसी रूप में निरूपण किया है -

—द्रव्य (देय वस्तु) की पवित्रता से, दाता की पवित्रता से और पात्र (दान लेनेवाले) की पवित्रता से मन-वचन-काया के योगपूर्वक त्रिकरण शुद्धि से दान देने से दान में विशेषता पैदा होती है ।^२

तात्पर्य यह है कि देय वस्तु, दाता, पात्र एवं विधि इनमें से एक भी दूषित हो या न्यून हो तो दान में चमक पैदा नहीं होती । दान में चमक आती है, उक्त तीनों की निर्मलता से ।

बौद्ध धर्मशास्त्र संयुक्तनिकाय के इसत्थसूत्र (३/३/४) में भी दान के तीन उपकरण माने गए हैं - (१) दान की इच्छा, (२) दान की वस्तु, (३) दान लेनेवाला ।

एक बार तथागत बुद्ध श्रावस्ती के जेतवन के विहार में विराजित थे ।

१. सुखविपाकसूत्र

२. दव्वसुद्धेणं दायगसुद्धेणं पडिग्गहसुद्धेणं तिहिहेणं तिकरणसुद्धेणं दाणेणं.. । भगवतीसूत्र शतक १४

उस समय राजा प्रसेनजित् उनके दर्शनार्थ आया । बातचीत के सिलसिले में तथागत बुद्ध से राजा प्रसेनजित् के इस प्रकार प्रश्नोत्तर हुए —

प्रसेनजित् — “भंते ! किससे दान देना चाहिए ?”

बुद्ध — “राजन् ! जिसके मन में श्रद्धा हो ।”

प्रसेनजित् — “भंते ! किसको दान देने से महाफल होता है ?”

बुद्ध — “राजन् ! शीलवान को दिए गए दान का महाफल होता है ।”

दान में चार तत्त्वों से विशेषता :

जैसे जैनसूत्रों में द्रव्यशुद्धि, दाता की शुद्धि और पात्रशुद्धि इस शुद्धित्रय की दान में विशेष अपेक्षा रखी गई है वैसे ही तत्त्वार्थसूत्रकार आदि आचार्यों ने उसी के विशद रूप में दान की विशेषता के लिए चार तत्त्वों का होना आवश्यक माना है — (१) विधि, (२) द्रव्य, (३) दाता, और (४) पात्र । यद्यपि पूर्वोक्त तीनों तत्त्वों में ही ये चार तत्त्व आजाते हैं, फिर भी इन चारों का सम्यक् विचार करके दिया गया दान लाभ की दृष्टि से भी उत्तम होता है और वह दूसरों के लिए आदर्श प्रकाशमान दान बनता है । इन चारों की शुद्धता से मतलब है — चारों किसी स्वार्थ, पक्षपात, जातिवाद, सम्प्रदायवाद, फलाकांक्षा, निदान या अन्य किसी अनादर, क्रोध आदि दोषों से दूषित न हो ।

एक जैनार्थ ने कहा है —

“केसिं च होइ वित्तं, चित्तं केसिपि उभयमन्नेसिं
चित्तं वित्तं च पत्तं च, निन्नि लभंति पुण्णेहिं ॥”

— कई लोगों के पास धन या देय द्रव्य तो होता है, परन्तु उनका चित्त इतना उदार या दान के लिए उत्साहित नहीं होता । कई लोगों के पास दिल उदार और उत्साहित होता है, उनके हृदय में दान देने की श्रद्धा और भावनाएँ उमड़ती हैं, लेकिन उनके पास देने को द्रव्य या साधन नहीं होता ।

तात्पर्य यह है कि चित्त, वित्त और पात्र की शुद्धि होनी चाहिए ।

इसीलिए आचारांगसूत्र की टीका में बताया गया है कि विधि, द्रव्य, दाता और पात्र चारों अंगों के सहित दिया हुआ थोड़ा-सा भी दान विशिष्ट फल

लाता है —

“दानं सत्पुरुषेय स्वल्पमपि गुणाधिकेषु विनयेन ।
वटकणिकेव महान्तं न्यग्रोधं सत्फलं कुरुते ॥
न्यायात्तं स्वल्पमपि हि भृत्यानुपरोधतो महादानम् ।
दीन-तपस्व्यादौ गुर्वनुज्ञया दानमन्यत् तु ॥”

— गुणों में अधिक सत्पुरुषों को विनयपूर्वक दिया हुआ थोड़ा-सा भी दान सत्फल प्राप्त कराता है। जैसे वट-वृक्ष का छोटा सा बोया हुआ बीज एक दिन महान् वट-वृक्ष के रूप में सत्फलीभूत हो जाता है। न्याय से उपार्जित थोड़ा-सा भी दान अपने आश्रितों के भरण-पोषण के लिए देने के बाद अपने परिवार के बड़ों की आज्ञा से दीन, तपस्वी आदि को दिया जाता है तो वह भी महादान है। इससे भिन्न जो दिया जाता है, वह केवल दान है।

भगवद्गीता में भी सात्त्विकदान के लक्षणों में बताया गया है कि देश, काल और पात्र को देखकर निःस्वार्थ भाव से दिया गया दान ही वास्तव में सच्चा दान है। महाभारत में ऐसे दान को ही अनन्त फल जनक कहा गया है, जो उक्त चारों अंगों से परिपूर्ण है। देखिये यह श्लोक

“काले पात्रे तथा देशे, धनं न्यायागतं तथा ।
यद् दत्तं ब्राह्मणश्रेष्ठ स्तदनन्तं प्रकीर्तितम् ॥”

— जो द्रव्य (धन या साधन) न्यायोपार्जित हो और योग्य देश, काल और पात्र में दिया जाता हो, हे विप्रवरों! वही दान अनन्त (अनन्त गुणा फल देने वाला) कहलाता है।

दान का फल चाहना या बदले की आकांक्षा रखना दान नहीं, एक प्रकार की सौदेबाजी है, व्यापार है। और यह सौदा भी तो घाटे का सौदा है। अगर उतनी ही मात्रा में या अल्प मात्रा में भी वही वस्तु किसी प्रकार के फल की आकांक्षा किये बिना लोभरहित होकर किसी योग्य पात्र को विधिपूर्वक देता तो उस दान का यथेष्ट और पर्याप्त फल मिलता। इसीलिए दक्षस्मृति (३/२५) में विधिपूर्वक दान देने की स्पष्ट प्रेरणा दी गई है —

“दानं हि विधिना देयं, काले पात्रे गुणान्विते ।”

— गुणवान पात्र को उचित समय पर शास्त्रोक्त विधिपूर्वक दान देना चाहिए।

प्रश्न उठता है कि दान में विधि शब्द का प्रयोग किन-किन अर्थों में हुआ है ?

विधि से व्युत्पत्ति से अर्थ होता है — विशेष रूप से धारण करना-ग्रहण करना या बुद्धि लगाना। तात्पर्य यह है कि विशेष रूप से विवेक करना विधि है। किस व्यक्ति या संस्था को, कब कितना और किस पदार्थ का दान करना है तथा किस व्यक्ति को कब, क्यों, कितना और किस पदार्थ का दान नहीं करना है? यह दान की विधि है। भगवद्गीता में अविधिपूर्वक दिये गये दान को तामसदान बतलाया है —

“अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते ।

असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम् ॥”

— जो दान अनुचित देश और काल में तथा अपात्रों को दिया जाता है, तिरस्कार और अवज्ञापूर्वक दिया जाता है, उसे तामसदान कहा गया है। जिस देश में दुष्काल पड़ा है, जहाँ लोग भूख से छटपटा रहे हैं वहाँ तो अन्न का एक दाना भी नहीं देना और जहाँ सुकाल है, लोग खा-पीकर सुखी हैं, वहाँ अपनी प्रसिद्धि के लिए हजारों मन अन्न लुटा देना — अविधि पूर्वक दान है। उदाहरण के लिए — तथागत बुद्ध के समय में एक बार श्रावस्ती में दुष्काल पड़ गया था, उस समय बुद्ध के साधुओं को अन्य सुभिक्षयुक्त प्रदेश में भोजन देने के लिए प्रसिद्धि लूटने हेतु कई श्रेष्ठी तैयार थे, लेकिन जब बुद्ध के शिष्य आनन्द ने दुष्काल पीड़ित क्षेत्र में क्षुधा-पीड़ित को अन्न देने के लिए कहा तो केवल तेरह वर्ष की एक लड़की सुप्रिया के सिवाय कोई भी तैयार न हुआ। एक पाश्चात्य विचारक ने कहा है —

“Liberality does not consist in giving much, but in giving at the right moment.”

— बहुत अधिक देने से उदारता सिद्ध नहीं होती, किन्तु ठीक अवसर पर आवश्यकता के क्षणों में सहायता प्रदान करना ही सच्ची उदारता है।

महात्मा बुद्ध ने आवश्यक समय पर दान देने का अत्यन्त महत्त्व बताया है। इसीलिए उन्होंने दान के भेदों में कालदान का अलग से उल्लेख किया है और उसके ४ प्रकार बताये हैं - (१) आगन्तुक को दान देना, (२) जाने वाले को दान देना, (३) ग्लान (रोगी, वृद्ध, अशक्त) को दान देना, और (४) दुर्भिक्ष के समय दान देना।

इसलिए समय पर दिया हुआ दान सविधिदान है और समय बीत जाने पर फिर दान देना अविधियुक्त दान है। कथासरित्सागर में समय पर दान देने को श्रेष्ठ बताया है -

“काले दत्तं वरं ह्यल्पमकाले बहुनाऽपि किम ?”

— समय पर दिया हुआ थोड़ा-सा भी दान श्रेष्ठ है, जबकि बिना समय बहुत देने से भी क्या लाभ है ?

इसी प्रकार किसको, किस पदार्थ की, कितनी मात्रा में जरूरत है, इसका विवेक करना विधियुक्त दान है और इसका विवेक न करना अविधियुक्त दान है। जैसे भगवान ऋषभदेव मुनि-रूप में जब आहार के लिए भिक्षाटन कर रहे थे, उस समय अयोध्या की जनता ने दानविधि न जानने के कारण उन्हें जिस वस्तु की जरूरत नहीं थी, जो चीज उनके लिए ग्राह्य नहीं थी, ऐसी-ऐसी चीजें-हाथी, घोड़ा, रथ, अलंकृत कन्या आदि या सुन्दर आभूषण, हीरे-मोती आदि लाकर भेंट (दान) करने लगे। किन्तु उन सब चीजों की उन्हें न तो जरूरत थी और न उनके लिए वे कल्पनीय थीं, इस कारण उन्होंने उन्हें ग्रहण नहीं किया और आगे बढ़ गये। इसलिए विधियुक्त दान में यह विवेक होना चाहिए कि किस व्यक्ति को किस चीज की जरूरत है और कितनी मात्रा में जरूरत है। इसी प्रकार जहाँ जिसको जिस पदार्थ की जरूरत नहीं, वहाँ उसे अधिकाधिक देना भी दान का अविवेक है। जैसा कि महाभारत में कहा है -

“मरुस्थल्यां यथावृष्टिः, क्षुधार्ते भोजनं यथा।

दरिद्रे दीयते दानं सफलं पाण्डुनन्दन ॥”

— जहाँ पानी से लबालब जलाशय भरे हों, वहाँ वर्षा व्यर्थ है, वर्षा का उपयोग मरुभूमि में है, जहाँ सुखी धरती है। इसी प्रकार जिसने पहले ही भरपेट

खा लिया है उसे और अधिक ठूँस-ठूँसकर खिलाने से क्या लाभ ? जो बेचारा भूखा हो, क्षुधा-पीड़ित हो उसे ही आहारदान देना सफल है । इसी प्रकार जो व्यक्ति दीन-हीन, अभाव-पीड़ित हो उसे ही देने से लाभ है । इसलिए दान की विधि में यह विवेक भी समाविष्ट है कि किसको, किस वस्तु की, कितनी मात्रा में और किस रूप में आवश्यकता है । जैसे राजहंस के सामने मोती के दाने रखने पर ही वह सेवन करेगा, वह चाहे भूखा होगा, तो भी अन्य अन्नकण नहीं खाएगा । इसी प्रकार चातक चाहे जितना प्यासा हो, स्वाति नक्षत्र का जल-बिन्दु ही पीएगा । इसी प्रकार पंचमहाव्रतधारी मुनिवर अपनी साधु मर्षादानुसार कल्पनीय, स्व-प्रकृति अनुकूल एवं सीमित मात्रा में ही अमुक विधि से ही आहार ग्रहण करते हैं । महाव्रती साधु के लिए तत्त्वार्थसूत्र के भाष्य में स्पष्ट कहा है —

“न्यायागतानां कल्पनीयामन्नापानादीनां द्रव्याणां दानम् ।”

— महाव्रती साधु-साध्वियों को न्याय प्राप्त कल्पनीय अन्न, पानी आदि द्रव्यों का दान देना चाहिए ।

इसी प्रकार आचार्य अमितगति ने श्रावकाचार में इस विषय में प्रकाश डाला है —

“साधु-साध्वियों को वस्त्र, पात्र, उपाश्रय आदि अन्य वस्तुएँ भी यथोचित रूप में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्य की वृद्धि के लिए विधिपूर्वक देना चाहिए ।”

कई बार व्यक्ति दान तो देता है, किन्तु अनुचित कार्य के लिए देखादेखी या शर्माशर्मा लिहाज में आकर दे देता है, यह उचित नहीं । इसीलिए यहूदी धर्मग्रन्थ मिदराश निर्गमन (रब्ब ३१/१८) में इस अविधियुक्त दान को गलत बताया है —

“अनुचित काम करने के लिए एवं अपने स्वार्थ या सुख-सुविधा के लिए दान देना गलत है ।”

महाभारत के शान्तिपर्व (३६/३६) में भी धार्मिक और विवेकी व्यक्ति को दान विधि के विषय में स्पष्ट चेतावनी दी है —

“न दधाद् यशसे दानं, न भयान्नापकारिणे ।
न नृत्यगतिशीलेषु, हासकेषु न धार्मिकः ॥”

— धार्मिक पुरुष को यशकीर्ति के लिए दान न देना चाहिए, न ही किसी भय से भयभीत होकर देना चाहिए। इसी प्रकार अपने या दूसरे का अपकार (बुरा) करने वाले नाचने-गाने वालों, विदूषकों (हँसाने वाले भाँडों) को दान नहीं देना चाहिए।

इन सबके विपरीत बिना किसी यशोलिप्सा प्रतिष्ठा, पद एवं सत्ता की लालसा के किसी स्वार्थ एवं आकांक्षा से रहित होकर निर्भय एवं निश्चिन्त होकर प्रसन्नतापूर्वक दान देना दान की विधि है।

दान के साथ नाम और प्रतिष्ठा की आसक्ति भी दाता को पतन की ओर ले जाती है। इस सम्बन्ध में ज्ञाताधर्मकथासूत्र में उल्लिखित नन्दनमणिहार का प्रसंग गम्भीरतापूर्वक विचारणीय है। नन्दनमणिहार ने प्याऊ, धर्मशाला, पथिकशाला, वापिका आदि सत्कार्यों में बहुत-सा धन दान किया था। परन्तु उसे भी इसी प्रकार अपनी बड़ाई और प्रसिद्धि की आसक्ति लगी। जिसके फलस्वरूप वह मरकर अपनी ही बनाई हुई पापिका में मेंढक बना। यह उसके दान का फल नहीं था, अपितु दान के साथ आसक्ति का फल था।

कार्तिकेयानुप्रेक्षा (२०) में इस सम्बन्ध में सुन्दर प्रेरणा दी गई है —

“एवं जो जाणिता विहलिय लोयाण धम्मजुताणं ।
गिरंवेक्खो तं देदि हु तस्स हवे जीवियं सहलं ॥”

— इस प्रकार लक्ष्मी को अनित्य जानकर जो निर्धन और धर्मात्मा व्यक्तियों को देता है, बदले में किसी प्रत्युपकार की वांछा नहीं करता, उसी का जीवन सफल है।

भारतीय संस्कृति के प्रबुद्ध तत्त्वचिन्तक स्पष्ट शब्दों में कहते हैं —

“न दत्त्वा परिकीर्तयेत् ।”

दान देकर उसका बखान मत करो। फरसी में एक कहावत है कि “दान इस प्रकार दो कि दाहिना हाथ दे और बाँया हाथ न जाने।” मनुस्मृति में तो इस प्रकार दान का ढिंढोरा पीटने से उसका फल नष्ट होने की बात कही है —

“यज्ञोऽनृतेन क्षरति, तपः क्षरति विस्मयात् ।
आयुर्विप्रापवादेन, दानं च परिकीर्तनात् ॥”

— झूठ से यज्ञ नष्ट हो जाता है, तपस्या विस्मय से नष्ट हो जाती है, ब्राह्मण एवं साधु आदि की निन्दा करने से आयु घट जाती है और दान का जगह-जगह बखान करने से व कहने से वह निष्फल हो जाता है ।

दान देकर उसका प्रदर्शन करना रत्न को बार-बार पेटों में से निकालकर दिखाने के समान भयावह है । दान का प्रदर्शन फल को तो नष्ट करेगा जब करेगा, किन्तु दान के प्रदर्शन से चोर, डाकू या लुटेरों को पता लगने पर कि अमुक व्यक्ति के पास बहुत धन है तो उसे मारपीटकर धन छीन सकते हैं, लूट सकते हैं । इसलिए दान का दिखावा या आडम्बर जीवन के लिए खतरनाक है । व्यक्ति किसी चीज का दिखावा तभी करता है, जब उस चीज से रिक्त होता है । एक कहावत है —

“थोथा चना बाजे घना ।”

इसी प्रकार अंग्रेजी में एक कहावत है —

“Empty vessel sounds much.”

— खाली बर्तन आवाज बहुत करता है ।

इसीलिए भारतीय मनीषियों ने गुप्तदान की बहुत महिमा बताई है । बिना किसी आडम्बर, समारोह, प्रतिष्ठा या प्रदर्शन के या तख्ती, बोर्ड या अखबारों में प्रकाशन के चुपचाप अपना कर्तव्य समझकर या अपने पाप के प्रायश्चित्त के रूप में गुप्त रूप से दान करना गुप्तदान है । गुप्तदान से सबसे बड़ा लाभ यह है कि देने वाले में अहंभाव नहीं आता और न प्रसिद्धि की भूख होती है तथा लेने वाले में हीन भावना या अपने को दबने या नीचा देखने की वृत्ति पैदा नहीं होती । जब देने वाला एहसान जताता है, रौब गाँठता है, अपने मुँह से बड़ाई हाँकता है और यह कहकर अपने अहं का झूठा प्रदर्शन करता है कि मैंने तुझे अमुक समय पर न दिया होता या सहायता न दी होती तो तेरी क्या दशा होती ? तू भूखा मर जाता । और इससे भी आगे बढ़कर जब दाता उससे स्पष्ट कहकर प्रत्युपकार की याचना करने लगता है, तब तो लेने वाले की आत्मा मर जाती है । इसीलिए रहीम ने एक छोटे-से दोहे में माँगने वाले और देने वाले की मृत दशा का वर्णन कर दिया है —

“रहिमन वे नर मर चुके, जो कहुँ माँगन जाहिं ।

उन्ते पहले वे मुए, जिन मुख निकसत नाहिं ॥

रहिम ने ऐसे याचक और ऐसे कृपण दाता दोनों को मृतवत बताया । ऐसा अहंकारी दाता भी अवसरवादी बन जाता है । वह जिधर यश या प्रसिद्धि का पलड़ा भारी देखता है, उधर ही दान धारा को मोड़ देता है, अन्यथा इन्कार कर देता है दान देने से । इसीलिए गुप्तदान लौकिक और लोकोत्तर दोनों कोटि के दानों में उत्कृष्ट है ।

कुरानशरीफ (२/२६४) में भी दान की विधि पर प्रकाश डालते हुए कहा है —

“ऐ ईमान वालों ! अपने दान को एहसान जताकर या तकलीफ पहुँचाकर बर्बाद मत करो ।”

जब व्यक्ति दान के साथ एहसान जताता है, तब वहाँ दान के साथ अहंकार, आसक्ति या बड़प्पन का भाव आ जाता है, जो दान का विकार है । इसीलिए एक पाश्चात्य विचारक हुट्टन ने कहा है —

“जो दान अपनी कीर्तिगाथा गाने को उतावला हो जाता है, वह दान नहीं, अहंकार एवं आडम्बर मात्र है ।”

बौद्ध धर्मशास्त्र में दान की विधि के चार अंग बताए हैं —

सत्कारपूर्वक दान दो, अपने हाथ से दान दो, मन से दान दो और ठीक तरह से दोषरहित दान दो ।^१

यहूदी धर्मग्रन्थ-यालकत शिमे ओनी (प्रो. १४७) में कहा है —

“अपना कर्ज न चुकाकर या अपने नौकरों को पूरी तनख्वाह न देकर दान देना गलत है ।”

इसी सन्दर्भ में भारतीय नीतिकारों ने अपनी हैसियत से उपरान्त दान देने को उचित नहीं बताया है । जैसा कि चाणक्य नीति में कहा है —

१. सक्कच्चं दानं देथ, सहत्था दानं देथ ।

चित्तीकतं दानं देथ, अनपविद्धं दानं देथ ॥ — दीघनिकाय २/१०/५

“अतिदानाद् बलिर्बद्धः ।”

— शक्ति से अधिक दान से बलि बाँधा गया । क्योंकि बलि के मन में दान-वीरता का अभिमान आ गया था । इसलिए विष्णु ने उसका अभिमान उतारने के लिए वामन रूप बनाकर उसे वचनबद्ध कर लिया था और पाताल लोक में भेज दिया था, ऐसा पुराणकार का कहना है ।

सूरिपुंगव श्री हरिभद्र सूरिश्वरजी रचित श्री योगशतक में देशविरति आत्माओं को गुरुजी ने धर्म उपदेश दिया उसमें दान की विशेषता इस प्रकार बताई है —

२. सुविशुद्धदान —

सद्धर्म को अल्प भी बाधा नहीं आए इस तरह आजिविका के लिए व्यवसाय करते करते प्राप्त किये हुए उस धन द्वारा अपनी आर्थिक शक्ति के अनुसार नीचे बताई हुई विशेषतापूर्वक नित्य सुविशुद्ध ऐसा कुछ भी दान अवश्य देवे । दान देने में इतनी विशेषताओं का ध्यान रखना ।

(१) शक्तितः - अपनी आर्थिक स्थिति के अनुसार दान देना । यदि शक्ति का उल्लंघन करके दान का अतिरेक किया जाए तो देनदार बन जाए, (हो सकते हैं) परिवार को धर्म के प्रति अरुचि हो जाय, कुटुंब आर्थिक विपत्ति में फस जाए, पूँजी कम होते अथवा नाश होते व्यापार समाप्त हो जाए, सामाजिक संबंधों समाप्त हो जाए, परिवार में तथा सम्बन्धियों में आर्त रौद्रध्यान फैल जाए, जिसके कारण अमूल्य मानवभव हार जाएँ । इसलिए शक्ति का उल्लंघन करके दान नहीं देना देना । अब यदि शक्ति छुपाने में आए तो दानधर्म पर प्रीति कम हो जाए, वीर्यान्तराय और मोहनीय कर्म का बंधन हो जाए, समाज में अवसरोचित लाभ न लेने से अपकीर्ति हो जाए, अनेक मनुष्यों की अप्रीति बढ़ती है जिसके परिणाम स्वरूप करुणादि भावों के विपरीत कठोरता आती है, मूर्च्छा-ममता परिग्रह की वृद्धि होती है । इसलिए शक्ति को छिपाना नहीं ।

(२) श्रद्धातः - दान देने से निःस्पृहता, पूर्वबद्ध कर्मों का क्षय, उदारतादि गुणवृद्धि, परमकल्याण, इत्यादि अंतरंग आत्मगुणों की प्राप्ति होती है । ऐसी परम श्रद्धापूर्वक दान देना तथा पर का उपकार, लोक में प्रतिष्ठा, मान,

विशिष्ट मनुष्यों से संबंध, इत्यादि बाह्य लाभ भी होते हैं। इसलिए श्रद्धापूर्वक दान देना।

(३) सत्कारतः - दान लेने वाले व्यक्ति के प्रति हृदय में सत्कार रखकर, उसका सम्मान करके, उसके प्रति आदरभाव रखकरके दान देना, हार्दिक उल्लास सहित देना, परन्तु लेनेवाले के प्रति तिरस्कार-अपमान या तुच्छ व्यवहार करके दान नहीं देना।

(४) कालतः - योग्य अवसर पर दान देना। जैसे वर्षाकाल में वर्षा हुई बरसात अनेकगुना धान्य की वृद्धि के हेतु बनती है। और बिना अवसर पर वर्षा हुई बरसात खड़ी फसल का भी विनाश करता है। इसी तरह लेने वाले को जब जरूरत हो तभी दान देना तथा देने वाला का वीर्योत्साह बढ़ा हो तभी दान देना।

(५) मतिविशेषतः - बुद्धिपूर्वक दान देना, कौन से जीव को कितनी पात्रता? कौनसे जीव को क्या ज्यादा उपकारक होगा? उस वस्तु का उसे दान देना, अर्थात् कौनसा जीव कितना उत्तम? किस तरह दान किया जाए जिससे लेनेवाले को ज्यादा लाभदायक हो सके इत्यादि चिंतन-मनन करनेवाली बुद्धिपूर्वक दान देना।

(६) अकामादिविषयेण : - काम अर्थात् इच्छा, अकाम अर्थात् अनिच्छा, बदले में कोई वस्तु लेने की इच्छा रखनी नहीं। यदि बदले की वृत्ति अर्थात् देकर के कुछ पाने की अपेक्षा रखेंगे तो सांसारिक व्यवहार की तरह जिसे दिया हो उसके प्रति राग-द्वेष पैदा होगा। यदि बदला चुका देगा तो राग होगा, यदि बदला न चुका पाएगा तो द्वेष होगा। इसलिए बदले की इच्छा बिना ही दान देना।

(७) वृत्त्यनत्यनन्तरं - वृत्ति = आजाविका को अन् + अति + अनन्तरं = अतिशय उल्लंघन किये बिना दान देना। अपनी आजाविका अतिशय दूर नहीं जाए (जरा भी हानि नहीं पहुँचे) उस तरह विचारपूर्वक दान देना।

२. देयद्रव्य-शुद्धि :

दान की विशेषता में दूसरी महत्त्वपूर्ण वस्तु है — देयद्रव्य का विचार । देय वस्तु मूल्यवान हो, यह महत्त्वपूर्ण बात नहीं है, किन्तु वह लेने वाले के लिए योग्य, हितकर, सुखकर और कल्पनीय है या नहीं ? उस देयद्रव्य से उसे कोई शारीरिक या मानसिक हानि तो नहीं पहुँचेगी ? अगर देयद्रव्य कीमती है, किन्तु उससे लेने वाला सन्तुष्ट नहीं है या वह लेने से आनाकानी करता है तो वह देयद्रव्य उत्तम नहीं है । पाराशर स्मृति में स्पष्ट कहा है —

कोई दाता किसी त्यागी, तपस्वी, निःस्पृह श्रमण या सन्यासी को सोना दान देता है, किसी ब्रह्मचारी को श्रृंगार योग्य वस्तु या ताम्बूल देता है और चोर आदि दुष्टजनों को शास्त्रादि या अभयदान देता है तो ऐसा दाता नरक में जाता है ।^१

इसी प्रकार कोई व्यक्ति अन्याय-अत्याचार से धन कमाकर या दूसरे से छीन-झपटकर उस द्रव्य का दान किसी योग्य व्यक्ति को करता है, तो वह देयद्रव्य शुभ नहीं माना जाता । उससे आदाता की भी बुद्धि बिगड़ती है और दाता को भी पुण्य लाभ नहीं होता ।

महाभारत में कौरव सेनापति भीष्म पितामह जब अर्जुन के बाणों से घायल होकर रणभूमि में गिर पड़े तो सारे कुरुक्षेत्र में हाहाकार मच गया । कौरव-पाण्डव पारस्परिक वैर भूलकर उनके पास कुशल पूछने आए । धर्मराज ने रोते हुए रुद्ध कंठ से कहा — “पितामह ! हम ईर्ष्यालु पुत्रों को, इस अन्त समय में, जीवन में उतारा हुआ कुछ ऐसा उपदेश देते जाइए जिससे हम मनुष्य जीवन की सार्थकता प्राप्त कर सकें ।” पितामह यह सुनकर होंठ खोलने ही वाले थे कि द्रौपदी के मुख पर एक हास्य रेखा देखकर सभी विचलित हो उठे और वे इस बेटुके हास्य से रोष भरे नेत्रों से द्रौपदी की ओर देखने लगे । पितामह इस हास्य का मर्म समझ गए । वे बोले — “बेटी द्रौपदी ! तेरे हास्य का मर्म मैं जानता हूँ । तूने सोचा है — जब दरबार में दुर्योधन ने साड़ी खींची, तब उपदेश देते न बना । वनों में पशुतुल्य जीवन व्यतीत कर रहे थे, तब सहानुभूति का एक

१. यतिर्न कांचनं दत्ते, ताम्बूलं ब्रह्मचारिणे ।

चौरैभ्योऽप्ययं दत्ते, स दाता नरकं व्रजेत् ॥ — पाराशर स्मृति

भी शब्द न निकला। कीचक द्वारा लात मारे जाने के समाचार भी शान्तभाव से सुन लिए। रहने योग्य स्थान और क्षुधानिवृत्ति के लिए भोजन माँगने पर कौरवों ने हमें दुत्कार दिया, तब उपदेश याद न आया। सत्य न्याय और अधिकार की रक्षा के लिए पाण्डव युद्ध करने को विवश हुए, तब सहयोग देना तो दूर रहा, कौरवों के सेनापति बनकर हमारे रक्त के प्यासे हो उठे हैं। और अब, जब पाण्डवों द्वारा मार खाकर जमीन सूँघ रहे हैं, मृत्यु की घड़ियाँ गिन रहे हैं, तब हमें उपदेश देने की हूक उठी है। बेटी ! तेरा यह सोचना सत्य है। तू मुझ पर जितना हँसे, उतना ही कम है। परन्तु पुत्री ! उस समय पापात्मा कौरवों का दिया हुआ अन्न खाने से मेरी बुद्धि मलिन हो गई थी। किन्तु अब वह अपवित्र रक्त अर्जुन के बाणों ने निकाल दिया है। अतः मुझे सन्मार्ग बताने का साहस हो सका है।”

कहने का तात्पर्य यह है कि अन्याय अनीति से उपार्जित द्रव्य के दान से आदाता की बुद्धि बिगड़ती है। इसलिए देयद्रव्य में यह विवेक तो होना ही चाहिए। साधु-साध्वियों और त्यागियों को दिये जाने वाले द्रव्य के विषय में भी यह विवेक बताया गया है —

न्यायगत, कल्पनीय, एषणीय और प्रासुक आहारादि उक्तृष्ट अतिथियों को देना चाहिए।^१

इसी प्रकार द्रव्य विशेष के लिए तत्त्वार्थभाष्य में संकेत है —

अन्न आदि द्रव्यों की श्रेष्ठ जाति और उत्तम गुण से युक्त द्रव्य देना द्रव्य विशेष है।^२

सर्वार्थसिद्धि टीका में आचार्य पूज्यपाद ने द्रव्य विशेष का लक्षण किया है —

— जिससे तप और स्वाध्याय आदि की वृद्धि होती है, वह द्रव्य विशेष है।^३

इसी प्रकार चारित्रसार में भी इस विषय में सुन्दर स्पष्टीकरण किया है—

१. न्यायागतानां कल्पनीयानामन्नपानादीनां द्रव्याणां... दानम् । — तत्त्वार्थ भाष्य

२. द्रव्यविशेषोऽन्नादीनामेव सारजाति गुणोत्कर्षयोगः । — तत्त्वार्थभाष्य

३. तपः स्वाध्यायं परिवृद्धि हेतुत्वादिर्द्रव्यविशेषः । — त. सर्वार्थसिद्धि

— भिक्षा में जो अन्न दिया जाता है, वह यदि आहार लेने वाले साधु के तपश्चरण, स्वाध्याय आदि को बढ़ाने वाला हो तो वही द्रव्य की विशेषता कहलाती है ।^१

मुनियों को जो भी वस्तु दी जाय, उसके लिए रयणसार में विशिष्ट चिन्तन दिया है —

— हित, मित, प्रासुक, शुद्ध अन्न, पान, निर्दोष हितकारी औषध, निराकुल स्थान, शयनोपकरण, आसनोपकरण, शास्त्रोपकरण आदि दान योग्य वस्तुओं को आवश्यकतानुसार सुपात्र को देता है, वह मोक्षमार्ग में अग्रगामी होता है । औषधदान के विषय में देयद्रव्य का मुनिवरो को किस प्रकार दान देना चाहिए ?^२ इस विषय में कहा है —

(१) मुनिराज की प्रकृति शीत, उष्ण, वायु, श्लेष्म या पित्तरूप में से कौन-सी है ? कायोत्सर्ग या गमनागमन से कितना श्रम हुआ है ? शरीर में ज्वरादि पीड़ा तो नहीं है ? उपवास से कण्ठ शुष्क तो नहीं है ? इत्यादि बातों का विचार करके उसके उपचारस्वरूप दान देना चाहिए ।

(२) भगवतीसूत्र एवं उपासकदशा में भी कहा है —

पासुक, एषणीय, कल्पनीय, अशन, पान, खादिम, स्वादिम, वस्त्र, कम्बल, पादप्रोच्छन, प्रतिग्रह (पात्र), पीठ, फलक (पट्टा), संथारक (घास का आसन), औषध, भैषज्य आदि १४ प्रकार के पदार्थ साधु-साध्वियों को देने योग्य हैं । श्रमणोपासक इन १४ प्रकार के द्रव्य साधु-साध्वियों को प्रतिलाभित करता (देता) हुआ विचरण करता है ।^३

पुरुषार्थ सिद्धयुपाय और अमितगति श्रावकाचार में भी देयद्रव्य के सम्बन्ध में विवेक बताया है —

(३) जिन वस्तुओं के देने से राग, द्वेष, मान, दुःख, भय आदि पापों की उत्पत्ति होती है, वे पदार्थ दान देने योग्य नहीं हैं ।^३ जिन वस्तुओं के देने से

१. दीयमानेऽन्नादौ प्रतिगृहीतुस्तपः स्वाध्याय परिवृद्धिकरणत्वाद् द्रव्यविशेषः ।

२. र. सा. २४

३. राग-द्वेषासंयम-मद दुःखभयादिकं न यत्कुरुते ।

द्रव्य तदेव देयं सुतपः स्वाध्यायवृद्धिकरम् ॥ — पु.सि.उ. १७०

तपश्चरण, पठन-पाठन, स्वाध्यायादि कार्यों में वृद्धि होती है, वे ही देने योग्य हैं। वही देय वस्तु प्रशस्त है, जिससे राग नाश होता हो, धर्मवृद्धि होती हो, संयम-साधना का पोषण हो, विवेक जाग्रत होता हो, आत्मा उपशान्त होती हो। दान ऐसी वस्तु का नहीं देना चाहिए, जो लेनेवाले के लिए घातक हो, अहितकारक हो या हानिकारक हो।

जैसे कोई व्यक्ति ऐसी वस्तु दान में देता है जो सड़ी, बासी या दुर्गन्धयुक्त हो, उससे लेने वाले का स्वास्थ्य खराब होता है, देने वाले की भी भावना विपरीत होती है। इस प्रकार सड़ी चीज दान देने वाले को भविष्य में उसका कटुफल भोगना पड़ता है। लेने वाला कई बार अपनी जरूरत के मारे ले लेता है, परन्तु अगर वह खाद्य वस्तु बिगड़ी हुई हो तो उसके स्वास्थ्य को बहुत बड़ी क्षति पहुँचाती है।

ऐसा ही एक प्रसंग याद आता है - काशी में लक्ष्मीदत्त नाम का एक सेठ अन्नसत्र चलाता था। वहाँ सैकड़ों अभावग्रस्त व्यक्ति भोजन करते थे। कुछ लोग आटा आदि लेकर स्वयं अपने हाथ से पकाते थे। लोगों की भीड़ को देखकर और प्रशंसा सुनकर सेठजी फूले नहीं समाते थे। सेठ के अनाज का व्यापार था। गोदाम में पुराना सड़ा-गला अनाज बचा रहता, सेठजी पुण्य लुटने एवं प्रशंसा पाने के लिए वही सड़ा अनाज अपने अन्नसत्र में भेज देते थे। उन्हें दान का यह तरीका लाभप्रद प्रतीत होता था। सेठजी की पुत्रवधू बड़ी विनीता, विचक्षणा और धर्ममर्मज्ञ थी। उसने देखा कि जो रोटियाँ अन्नसत्र में दी जाती हैं वे काली, मोटे आटे की और रद्दी-सी दी जाती हैं और आटा भी वैसा ही दिया जा रहा है। उसने अन्नसत्र के प्रबन्धक से बातचीत की तो वह बोला - "सेठ जी गोदाम से ऐसा ही अनाज भेजते हैं, हम क्या करें?" पुत्रवधू को सेठजी के इस व्यवहार से बड़ा खेद हुआ। वह अन्नसत्र से थोड़ा-सा आटा अपने साथ घर पर ले आई और उसी सड़े आटे की मोटी, काली रोटी बनाकर उसने सेठ जी की थाली में परोसी। पहला कौर मुँह में लेते ही थू-थू करते हुए सेठ बोले - "बेटी! क्या घर में और आटा नहीं है? यह सड़ी ज्वार का आटा तूने कहाँ से मंगवा लिया? क्या घर में अच्छा आटा समाप्त हो गया?" बहू ने अत्यन्त नम्रतापूर्वक कहा - "पिताजी! आपने जो यहाँ अन्नसत्र खोल रखा है, मैं कल

उसे देखने गई थी। वहाँ तो भूखों व याचकों को ऐसे ही आटे की रोटी बनाकर दी जाती है। मैंने सुना है कि परलोक में वैसा ही मिलता है, जैसा यहाँ दिया जाता है। दानवीर कहलाने के लिए वर्ष के अन्त में आपकी दुकान में जो न बिकने योग्य घुन लगा हुआ सड़ा अनाज बचा रहता है, उसे ही अन्नसत्र में भेजते हैं। बेचारे भूखे लोग पेट की आग बुझाने के लिए खा लेते हैं। किन्तु मुझे विचार आता है कि आप उसे कैसे खा सकेंगे, जब परलोक में आपको भी ऐसी ही रोटी सदा मिला करेगी। इसलिए आज मैंने अन्नसत्र से आटा मँगाकर उसकी रोटी बनाकर परोसी है, जिससे आपको अभी से ऐसी रोटी खाने का अभ्यास हो जाय और परलोक में भी अगर ऐसी रोटी मिलेगी तो आपको उससे घृणा नहीं होगी।" बहू की इस बात का सेठ जी के हृदय पर इतना अच्छा प्रभाव पड़ा कि उसी समय उन्होंने अन्नसत्र का सारा अन्न फिक्का दिया और अच्छे अन्न का प्रबन्ध कर दिया। इस प्रकार पुत्रवधू के विनयपूर्ण साहस ने सेठ का हृदय बदल दिया। उनका अहंभाव भी नष्ट हो गया और सात्त्विक दान धारा प्रवहमान हो उठी।

भूदान के सिलसिले में जब संत विनोबा और उनके कार्यकर्ता भारत के विभिन्न प्रान्तों में पदयात्रा करते हुए लोगों को भूमिदान की प्रेरणा देते थे, तब बहुत से जमींदारों ने अपनी फालतू पड़ी हुई बंजर भूमि भूदान में दे दी। बहुत-से लोग अन्धे या विक्षिप्त याचकों को अपने पास फालतू पड़े हुए और न चलने वाले खोटे सिक्के दे देते थे। कई बार ऐसे दान, जो प्राणघातक होते हैं, दाता और आदाता दोनों का अनिष्ट कर डालते हैं। आदाता का तो उस प्रकार के पदार्थ के खाने से एक ही बार प्राणान्त होता है, लेकिन दाता का तो उस कुत्सित दान के फलस्वरूप बार-बार अनन्त संसार में असंख्य वर्षों तक जन्म-मरण के चक्र में परिभ्रमण और दारुण दुःख का सामना करना पड़ता है। ज्ञाताधर्मकथांग में उल्लिखित नागश्री ब्राह्मणी के द्वारा धर्मरूचि जैसे पवित्र महान् अनगार को कड़वा तुम्बा दान में देने का जिक्र हम पहले कर चुके हैं। नागश्री के द्वारा यद्यपि उत्कृष्ट सुपात्र को दान दिया गया था, किन्तु देयवस्तु प्राणघातक तक थी और दाता नागश्री के भाव भी कुत्सित थे, इसलिए देय वस्तु के घृणित होने से सारा दान दूषित हो गया और उसे नरक की यात्रा करनी पड़ी।

जो वस्तु स्वयं श्रम से अर्जित हो, न्यायप्राप्त हो, नीति की कमाई से मिली हो, वह देय वस्तु अधिक बेहतर है, बनिस्पत उसके कि जो अन्याय-अनीति से उर्पाजित हो या दूसरों की मेहनत से निष्पन्न हो या दूसरों के हाथ से बनी हुई हो। आचार्य हेमचन्द्रसूरिश्चर को सांभर नगर में निर्धन धन्ना श्राविका द्वारा अपने हाथ से काते हुए सूत की बनी हुई मोटी, खुरदरी खादी की चादर का भावपूर्वक दिया गया दान कुमारपाल राजा के रेशमी चादर के दान की अपेक्षा भी बेहतर लगा। वास्तव में धन्ना श्राविका द्वारा दी गई चादर के पीछे उसका अपना श्रम, श्रद्धा और भक्तिभाव था।

देय वस्तु के दान के पीछे भी दाता की मनोवृत्ति उदार और निःस्वार्थी होनी चाहिए, न कि अनुदार और दान के बदले में कुछ पाने की लालसा से युक्त।

मनुष्य का सद्भाव और दुर्भाव देयद्रव्य के दान को सफल या विफल बना देता है। जगत् में ऐसे बहुत-से लोग हैं, जो किसी आकांक्षा, वांछ, स्वार्थ या प्रसिद्धि आदि की आशा से हिचकते हुए देयद्रव्य देते हैं, परन्तु कुछ ऐसे भी व्यक्ति होते हैं, जो उदार भावना के साथ किसी प्रकार की स्पृहा या आकांक्षा के बिना करुणा या श्रद्धा से प्रेरित होकर उमंग से देयद्रव्य देते हैं। पहले का देयद्रव्य विकार भाव मिश्रित होने से फलीभूत नहीं होता, जबकि दूसरे का देयद्रव्य निर्विकार भाव से युक्त होने से सफल हो जाता है।

प्राचीनकाल में ब्राह्मणों को हाथी, घोड़े, क्षत्रियों को शस्त्र-अस्त्र आदि दान दिये जाते थे। परन्तु इस प्रकार के देयद्रव्य का दान मोक्ष फलदायक तो होता ही नहीं। प्रायः पुण्यफलदायक भी नहीं होता। क्योंकि पुण्यफल प्राप्ति के लिए भी शुभ भावना का होना अनिवार्य है।

इसीलिए पद्मनन्दि पंचविंशतिक्रम में इस विषय में स्पष्ट संकेत किया है—
आहारदि चतुर्विधदान के अतिरिक्त गाय (अन्य पशु), सोना, पृथ्वी, रथ, स्त्री आदि के दान महान् फल को देनेवाले नहीं हैं।^१

तीर्थस्थानों में कुल-परम्परागत रुद्धिवश गोदान या अन्य दानों का
१. नान्यानि गो-कनक-भूमि-रथांगनादिदानानि निश्चितमवद्यकराणि यस्मात्।

महत्त्व बताकर कुछ स्वार्थी लोग दान लेते हैं, उनसे प्रत्येक धर्मपरायण, दानविवेकी, दाता को सावधान रहना है। जैन-श्रावक के लिए तो यह प्रत्यक्ष मिथ्यात्व माना गया है। सागारधर्मांमृत में नैष्ठिक श्रावक के लिए हिंसा के निमित्तभूत पदार्थों का दान निषिद्ध किया है — नैष्ठिक श्रावक प्राणहिंसा के निमित्तभूत हों ऐसे भूमि, घर, लोहा, शस्त्र, गौ, बैल, घोड़ा वगैरह पशु, ग्रहण, संक्रान्ति, श्राद्धादि परम्परागत रूढिगत दान में ऐसे द्रव्यों को न दें।^१

सच तो यह है कि देयद्रव्य भी दान की महिमा एवं फल को बढ़ाने-घटाने में बहुत ही महत्त्वपूर्ण हिस्सा अदा करता है। इसीलिए विशिष्ट देयद्रव्य के देने से दान में विशेषता आ जाती है। योग्य और विशिष्ट देयद्रव्य के कारण दान में चमक आ जाती है। जैसे मिट्टी मिले हुए सोने को शुद्ध करके पॉलिश कर देने पर उसमें चमक-दमक आ जाती है, वैसे ही देयद्रव्य में विवेक और भावों की पॉलिश चढ़ा देने पर दान में भी चमक-दमक आ जाती है। संगम ग्वाले ने केवल खीर ही तो दी थी, किन्तु उस खीर के दान पर उद्घातभावों की पॉलिश लग जाने के कारण खीर का वह दान पुण्य की प्रबलता को लेकर चमक उठा। वह जैन इतिहास में प्रसिद्ध हो गया। उसका परिणाम शालिभद्र के रूप में साकार हो उठा।

१. हिंसार्थत्वान्न भू-गेह-लोह, गोऽश्वदि नैष्ठिकः ।

न दद्याद् ग्रह-सक्रान्ति-श्राद्धादौ वा सुदृग् द्रुहि ॥ — सा. धर्मांमृत ५/५३

३. दाता के गुण :

दाता में कौन-कौन से गुण होने चाहिए ? इसके लिए आचार्य अमृतचन्द्रसूरि ने पुरुषार्थसिद्धयुपाय में निम्नलिखित श्लोक द्वारा दाता के विशिष्ट गुण बताए हैं —

“एहिकफलानपेक्षा, क्षान्तिर्निष्कपटताऽनुसूयत्वम् ।
अविषादित्व-मुदित्वे निरहंकारित्वमिति दातृगुणाः ॥”

— इहलोक सम्बन्धी किसी फल की इच्छा न करना, क्षमा, निष्कपटता, अनुसूयता, अविषादिता, मुदिता, निरहंकारिता; ये ७ गुण दाता में होने चाहिए ।

(१) फलनिरपेक्षता — दाता में सबसे पहला गुण होना चाहिए — फलाकांक्षा से रहितता । दान के साथ किसी स्वार्थ या प्रसिद्धि, धन, पुत्र या अन्य किसी बात की लालसा दाता में नहीं होनी चाहिए, तभी उसके दान में विशेषता पैदा होती है । अतः किसी प्रकार के बदले की आशा से रहित होकर निष्कांक्ष भाव से ही दान करना चाहिए । कहा भी है —

“ब्याजे स्याद् द्विगुणं वित्तं, व्यापारे तु चतुर्गुणम् ।
क्षेत्रे शतगुणं ज्ञेयं, दाने चानन्तगुणं मतम् ॥”

— लगाया हुआ द्रव्य ब्याज से दुगुना हो जाता है, व्यापार में चौगुना हो जाता है, खेती में सौ गुना और दान में — सत्पात्र में दान देकर लगाया हुआ द्रव्य अनन्त गुना हो जाता है ।

अतः दाता को ऐसे अनन्त गुने लाभ देने वाले दान को तुच्छ वस्तु की वांछा के बदले में बेचकर नष्ट नहीं करना चाहिए ।

(२) क्षमाशीलता — दाता याचक के आते ही झूंझलाए नहीं, धैर्य न खोए, उसे क्षमाशील बनकर धैर्य से सभी प्रकार के पात्रों को यथायोग्य देना चाहिए । अगर वह उत्तम पात्र (साधु-साध्वी) को ही दान देने का आग्रह बनकर कोई मध्यम पात्र श्रावक आदि आ जाते हैं या करुणा पात्र आ जाते हैं, उनको असहिष्णु बनकर डॉट-फटकार कर निकाल देना है, यह उसके लिए शोभास्पद नहीं । अतः सहनशील बनकर पात्रानुसार उसे दान धर्म करते रहना

चाहिए। व्यास स्मृति में बताया है कि 'केवल अर्थ (धन) दे देने से कोई दाता नहीं होता, दाता होता है दूसरों को सम्मान देने से। जो दाता पात्र को सम्मानपूर्वक दान देकर, पात्रों की ओर से कोई आघात हो तो उसे समभावपूर्वक सहन करके दान धर्म रूप कर्तव्य की वृद्धि करता है, उसका दान भी सफल होता है, उसकी कीर्ति भी फैलती है।

(३) निष्कपटता — दाता में किसी प्रकार का कपट या छल-छिद्र नहीं होना चाहिए, उसके स्वभाव में सरलता होनी चाहिए। कपटपूर्वक दिया गया दान उत्तम फलदायी नहीं होता। जब उस तथाकथित दाता का कपट प्रगट हो जाता है तो उसकी कीर्ति भी धुल जाती है और साथ ही दान का फल भी नष्ट हो जाता है।

(४) अनसूयता — दाता में ईर्ष्याभाव नहीं होना चाहिए। दाता बनना अपने धन या साधनों की शक्ति पर निर्भर है। अपनी हैसियत न देखकर दूसरों की देखादेखी प्रतियोगिता करना, दूसरों को नीचा दिखाने और स्वयं उच्च दानवीर कहलाने की दृष्टि से दौड़ में उतरना ठीक नहीं होता। बल्कि अपने से अधिक दान देने वाले या शक्तिहीन होने पर भी थोड़ा-बहुत दान करता हो, उसकी प्रशंसा करनी चाहिए। ऐसा ईर्ष्यारहित दाता ही दान को सफल करता है।

(५) अविषादिता — दाता को अपने यहाँ अतिथि, साधु-संत या याचक आने पर किसी प्रकार से खिन्न नहीं होना चाहिए। दान देने से पहले खेद करने से और दान देने के बाद पश्चात्ताप करने से दानान्तराय कर्म का बन्ध हो जाता है। दानान्तराय कर्म का उदय तभी होता है, जब किसी व्यक्ति के पास धन और साधन होते हुए भी दान देने का उत्साह न हो, दान देता हुआ हिचकिचाता हो, दान का नाम भी जिसे अच्छा न लगता हों, या बहस करके दान देता हो। ऐसे दान से न देनेवाले को आनन्द आता है न लेने वाले को। इसलिए दान देने से पहले उत्साह हो, देते समय प्रसन्नता हो और देने के बाद भी हृदय में हर्ष हो, प्रमोद भाव हो, वही दाता दान का यथार्थ फल प्राप्त करता है।

१. 'न दाता चार्थदानतः', '...दाता सम्भानदानतः।' — व्यास स्मृति ५/५९-६०

(६) मुदिता — दाता के हृदय में दान देने का उत्साह एवं उल्लास होना चाहिए। पात्र को देखते ही दाता के मन में उत्साह की बिजली चमक उठे, वह तुरन्त प्रसन्न होकर सोचे— मेरा अहोभाग्य है, ऐसे महान् पुरुष स्वयमेव पधारकर मेरा घर पावन कर रहे हैं। दान ग्रहण कर मेरा द्रव्य सार्थक करते हैं। मुझे तारने के लिये घर बैठे यह धर्मजहाज आई है। अगर ये नहीं पधारते, तो मेरी सम्पत्ति या साधनों का क्या उपयोग होता? जितना पात्र में पड़ जाय, उतना ही द्रव्य मेरा है, बाकी का द्रव्य या तो यहीं पड़ा रहेगा या दूसरे लोग मालिक बन जाएँगे। अतः प्राप्त द्रव्य का सुलाभ लेने का यही उत्तम अवसर मेरे हाथ लगा है। इस प्रकार चढ़ते परिणामों से दान दे।

(७) निरहंकारिता — दाता को निरभिमानी होना चाहिए। तीर्थंकर दीक्षा लेने से पूर्व एक वर्ष में ३ अरब ७४ करोड़ ४० लाख स्वर्ण—मुद्राएँ दान देते हैं, ऐसे दानेश्वरियों के सामने मैं किस विसात में हूँ? मेरा तो जरा—सा तुच्छ दान है। मैं क्या दे सकता हूँ? इत्यादि विचारों से अहंकारशून्य होकर दान दे। कई बार दाता का अहंकार दान का मजा किरकिरा कर देता है। जबकि दाता की नम्रता दान को विशिष्ट फलवान बना देती है।

दाता में ये सात विशिष्ट गुण होने चाहिए।

महापुराण में दानपति (श्रेष्ठदानी) के सात गुण इस प्रकार उपलब्ध है।^१

— श्रद्धा, शक्ति, भक्ति, विज्ञान, अलुब्धता, क्षमा और त्याग। श्रद्धा कहते हैं — आस्तिक्य को। आस्तिक बुद्धि न होने पर दान देने में अनादर हो सकता है। दान देने में आलस्य न करना शक्ति नामक गुण है। पात्र के गुणों के प्रति आदर करना भक्ति नामक गुण है। दान देने आदि के क्रम का ज्ञान होना — विधि या कल्याकल्प, एषणीय — अनैषणीय, प्रासुक—अप्रासुक का ज्ञान होना विज्ञान है। दान के प्रति किसी प्रकार की फलाकांक्षा न रखना अलुब्धता है। सहनशीलता होना क्षमा नामक गुण है और दान में उत्तम द्रव्य देना त्याग है। इस प्रकार जो दाता उपर्युक्त सात गुणों से युक्त है और निदानादि दोषों से रहित होकर पात्ररूपी सम्पदा में दान देता है, वह दाता मोक्ष—प्राप्ति के

१. श्रद्धा शक्तिश्च भक्तिश्च विज्ञानंचाप्यलुब्धता।

क्षमा त्यागश्च सप्तैते प्रोक्ता दानपतेर्गुणाः ॥ — महापुराण २०/८२

लिए उद्यत होता है ।^१

सागारधर्माभृत में विशुद्ध दाता का स्वरूप इस प्रकार बताया है —

“भक्ति-श्रद्धा-सत्त्व-तुष्टि-ज्ञानालौत्यक्षमागुणः ।

नवकोटि विशुद्धस्य दाता दानस्य यः पतिः ॥ — सा.ध. ५/४७

— भक्ति, श्रद्धा, सत्त्व, तुष्टि, ज्ञान, अलोलुपता और क्षमा इनके साथ असाधारण गुण सहित जो श्रावक मन-वचन-काया तथा कृत-कारित-अनुमोदित इन नौ कोटियों से विशुद्ध दान का अर्थात् देने योग्य द्रव्य का स्वामी होता है, वही सच्चा दाता कहलाता है। दाता की विशेषताएँ बताते हुए राजवार्तिक में इस प्रकार कहा है —

पात्र में ईर्ष्या न होना, त्याग में विषाद न होना, लेने के इच्छुक तथा लेने वालों पर तथा जिसने दान लिया है, उन सब पर प्रीति का होना, कुशल अभिप्राय, प्रत्यक्ष फल की अपेक्षा न करना, निदान न करना, किसी से विसंवाद न करना आदि दाता की विशेषताएँ हैं। ये ही बातें सर्वार्थसिद्धि में बताई हैं ।^२

वास्तव में श्रेष्ठ दाता वही है, जो अपनी थोड़ी-सी कमाई में से श्रद्धाभाव से विधिपूर्वक योग्य पात्र को दे ।

इसीलिए अमितगति श्रावकाचार के परिशिष्ट में कहा गया है —

“आस्तिको निरहंकारी वैयावृत्यपरायणः ।

सम्यक्चालंकृतो दाता जायते भुवनोत्तमः ॥”

जो आस्तिक, निरहंकारी, वैयावृत्य (सेवा) में तत्पर और सम्यक्त्वी दाता होता है, वही लोक में उत्तम कहा गया है ।

चार प्रकार के बादलों के समान चार प्रकार के दाता —

भगवान महावीर ने प्रकृति की अनुपम वस्तुओं से भी बहुत कुछ प्रेरणा दी है और संसार को बताया है कि दान, पुण्य या परोपकार के लिए प्रकृति की

१. महापुराण, श्लोक ८३, ८४, ८५

२. राजवार्तिक: ७/३९/४/५५९/२९,

— सर्वार्थसिद्धि: ८/३९/६७३/६

खुली पोथी पढ़ो और उससे प्रेरणा लो। स्थानांगसूत्र के चतुर्थ स्थान में श्रमण-शिरोमणि भगवान महावीर ने चार प्रकार के मेघ बताए हैं, वे इस प्रकार हैं^१ —

- (१) कई बादल गर्जते हैं, पर बरसते नहीं।
- (२) कई बादल बरसते हैं, पर गर्जते नहीं।
- (३) कई बादल गर्जते भी हैं, बरसते भी हैं।
- (४) कई बादल न गर्जते हैं, न बरसते हैं।

इसी प्रकार संसार में चार प्रकार के दाता कहलाते हैं। वे इस प्रकार हैं—

- (१) कई दाता गर्जते बहुत हैं, पर बरसते बिल्कुल नहीं।
- (२) कई दाता चुपचाप बरसते जाते हैं, गर्जते नहीं।
- (३) कई दाता गर्जते भी हैं, बरसते भी हैं।
- (४) कई दाता न तो गर्जते हैं, न उदार भाव से बरसते हैं।

निष्कर्ष के तौर पर हम कह सकते हैं कि सर्वश्रेष्ठ दाता वही है जो अपने पात्र से दान के बदले में किसी प्रकार की स्पृहा, बदले की आशा, धन, पुत्र, पद आदि की प्राप्ति की आकांक्षा अथवा स्वर्गादि प्राप्त होने की कामना नहीं रखता, वह तो सिर्फ सुपात्र समझकर उसके ज्ञान-दर्शन-चारित्र की उन्नति और तप-संयम की आराधना की दृष्टि से देता है। इस प्रकार का श्रेष्ठ दाता जहाँ भी होगा, अपने जीवन को सफल बनाएगा और अपने दान से पात्र को भी प्राभावित करेगा।

१. स्थानांगसूत्र, स्थान ४, उ. ४, सूत्र ५३३

४. दान में पात्र का महत्त्व :

दान में पात्र का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। देयद्रव्य भी अच्छा और योग्य हो, दाता भी योग्य हो, विधि भी ठीक हो किन्तु दान लेनेवाला पात्र अच्छा न हो, दुर्गुणी हो तो दिया हुआ सारा दान निष्फल जाता है अथवा साधारण सा फल प्राप्त होता है।

किसान खेत में बीज बोते समय बीज की योग्यता देखता है कि यह बोने योग्य है या नहीं। इसी तरह वह यह भी देखता है कि इस बीज को अंकुरित होने के लिए जितनी मात्रा में वर्षा या पानी, सूर्य की धूप, हवा आदि की जरूरत है, उतनी मात्रा में है या नहीं। इन सबके साथ ही वह सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण बात यह देखता है कि बीज जहाँ बोया जा रहा है, वह भूमि शुद्ध, सम और उपजाऊ है या नहीं? कहीं उसका श्रम व्यर्थ न चला जाए। यही बात दान के सम्बन्ध में है — दान देते समय भी विधि, द्रव्य और दाता के समय में विचार करने के साथ-साथ दाता को दान लेने वाले पात्र का विचार करना अत्यन्त आवश्यक है। उत्तराध्ययनसूत्र के हरिकेशीय अध्ययन में ब्राह्मणों को हरिकेशी मुनि की ओर से उनका सेवक यक्ष उत्तर देता है —

“थलेसु बीयाइं ववंति कासगा, तहेव निन्नेसु या आससाए ।

एयाए सद्दाए दलाह मज्झं, आराहए पुण्णमिणं तु खित्तं ॥”

— किसान लोग अच्छे स्थलों (खेतों) को देखकर बीज बोते हैं और सुफल पाकर आश्वस्त होते हैं। इसी श्रद्धा (विश्वास) से मुझे (आहार) दान दीजिए और इस पुण्यशाली क्षेत्र की आराधना कीजिए।

पात्र को दिया हुआ स्वल्पदान भी विशिष्ट फलदायक होता है। अत्यन्त कीमती और बढ़िया वस्तु भी अच्छे योग्य दाता के द्वारा बहुत मात्रा में अत्यन्त सावधानी के साथ भी कुपात्र या अपात्र के दी जाने पर भी वह विपरीत फलदायिनी होती है, जबकि तुच्छ वस्तु थोड़ी-सी मात्रा में भी योग्य दाता द्वारा विधिपूर्वक सुपात्र या पात्र को दी जाय तो वह शुभ फलदायिनी बनती है।

हरिवंशपुराण, अमितगति श्रावकाचार एवं वसुनन्दि श्रावकाचार में इस सम्बन्ध में काफी चिन्तन मिलता है— जिस प्रकार नीम के वृक्ष में पड़ा हुआ पानी कड़वा हो जाता है, कोदों में दिया हुआ पानी मदकारक हो जाता है और सर्प के मुख में पड़ा हुआ दूध विष हो जाता है; उसी प्रकार अपात्र में दिया हुआ दान विपरीत रूप में परिणत हो जाता है, विपरीत फल लाता है। इसीलिए महर्षि व्यास ने कहा है — पात्र और अपात्र में गाय और साँप जितना अन्तर है। गाय को खिलाये हुए तुच्छ घास के तिनकों से दूध बनता है और साँप को पिलाये हुए दूध से जहर बनता है।^१ नीतिवाक्यामृत में भी कहा है कि अपात्र में धन खर्च करना राख में हवन करने के समान है।^२ याज्ञवल्क्यस्मृति में भी पात्रापात्रविवेक के विषय में चिन्तन मिलता है — एक ही भूमि और एक ही पानी होने पर भी नीम और आम में जो अन्तर है, वह बीज रूप पात्र की ही विशेषता है।^३

इस सम्बन्ध में प्रश्न यह उठता है कि थोड़ी मात्रा में तुच्छ वस्तु के दान से इतना विशिष्ट फल कैसे प्राप्त हो जाता है? जबकि बहुत अधिक मात्रा में बहुमूल्य वस्तु के दान से अत्यल्प फल प्राप्त क्यों होता है, इसके उत्तर में हम आचार्य समन्तभद्र के रत्नकरण्डकश्रावकाचार, वसुनन्दिश्रावकाचार एवं चारित्रसार का चिन्तन प्रस्तुत करते हैं? — पात्र में दिया हुआ थोड़ा सा तुच्छ दान भी समय पर भूमि में बोये हुए वट-बीज से छाया वैभव से सम्पन्न हुए विशाल वट-वृक्ष की तरह मनोवाञ्छित महाफल दाताओं को देता है।

१. (क) अम्बु निम्बद्रुमे रौद्रं क्रोद्धवे मदकृत् यथा।

विषं व्यालमुखे क्षीरमपात्रे पतितं तथा ॥११८॥ — हरिवंशपुराण

(ख) जह ऊसरमि खेते पङ्णबीयं न किपि रुहेइ।

फलावाञ्जियं वियाणइ अपत्तदिण्णं तहादाणं ॥२४२॥ — वसुनन्दिश्रावकाचार

२. पात्रापात्र विवेकोऽस्ति, धेनु-पन्नगयोरिव।

तृणात्संजायते क्षीरं, क्षीरात्संजायते विषम् ॥ — महर्षि व्यास

३. भस्मनि हुतमिवापात्रेष्वार्थव्ययः। — नीतिवाक्यामृत १/११

४. सैव भूमिस्तदेवाग्भः पश्य पात्र विशेषता। — याज्ञवल्क्यस्मृति

५. क्षितिगतमिव वटबीजं, पात्रगतं दानमल्पमपि काले।

फलाति च्छया विभवं, बहुफलमिष्टं सरीरभृताम् ॥ र.क.श्रा. ११६

आचारांगसूत्र की टीका (श्रु. १, उ.८, सूत्र २) में भी इस विषय में प्रकाश डाला गया है —

“दुःख समुद्रं प्राज्ञास्तरन्ति पात्रावितेन दानेन ।

लघुनैव मकरनिलयं वणिजः सद्यानपात्रेण ॥”

— जैसे वणिक लोग छेदे-से अच्छे दानपात्र से समुद्र को पार कर लेते हैं, वैसे ही प्राज्ञजन पात्र को दिये हुए दान के प्रभाव से दुःख समुद्र को पार कर लेते हैं ।

कहने का तात्पर्य यह है कि^१ ऊसर भूमि में बोये हुए अच्छे से अच्छे बीज निष्फल चले जाते हैं, वैसे ही कुपात्रों को दिया हुआ दान निष्फल जाता है । अपात्र में दिया हुआ दान सात कुल तक का नाश कर देता है, क्योंकि सर्प को पिलाया हुआ दूध आखिरकार जहर ही हो जाता है ।

वास्तव में अपात्र या कुपात्र को दिया हुआ दान न तो दाता को लौकिक लाभ दिलाता है, न लोकोत्तर ही । अपात्रदान से प्रायः पुण्यबंध भी नहीं होता ।

अभिधान राजेन्द्र कोष में पात्र तीन प्रकार के बताये हैं — १. मुनि, २. श्रावक, और ३. सप्यगृहृष्टि । इन तीनों प्रकार के पात्रों को दान देना, उनके गुणों की प्रशंसा करना, औचित्य तथा अनतिक्रम की वृद्धि (दृष्टि) से यही दान सर्वसम्पत्कर माना गया है ।

अमितगतिश्रावकाचार (परि. ११)में कहा गया है — “जो व्यक्ति असंयतात्मा को दान देकर पुण्यफल की इच्छा करता है, वह जलती हुई अग्नि में बीज डालकर धान्य उत्पन्न करने की स्पृहा करता है । जो व्यक्ति कुपात्र हैं या अपात्र हैं, हिंसा आदि विपरीत मार्ग पर चलते हैं, उन्हें कोई दाता, चाहे कितनी ही शुद्ध भावना से दान देता है, किन्तु वे कुपात्र या अपात्र तो अपनी आदत एवं प्रकृति के अनुसार उलटे ही रास्ते चलकर अपराधी बनते हैं ।^२

१. सुबीजमूषरे यद्दुस्तं नैव प्ररोहति ।

तद्दत्तं कुपात्रेषु दानं भवति त्रिष्फलम् ॥१५९॥

अपात्रे चापि यद्दानं दहत्यासप्तमं कुलम् ।

दुग्धं हि दंशूकाय विषमेव प्रजायते ॥१६०॥ — धर्मसर्वस्वाधिका

२. अ. श्रा., प. ११

दान देने समय पात्र के सम्बन्ध में विचार करना भी अत्यन्त आवश्यक है, ताकि दान देने के पश्चात् पश्चात्ताप् करने और सुपात्र या पात्र के प्रति भी अथवा दान देने के प्रति भी अश्रद्धा प्रगट करने का अवसर न आये। महाभारत में उसी दान को अनन्त कहा गया है जो देश, काल, न्यायागत धन और पात्र को दिया गया है।

रत्नसार में बताया गया है कि सत्पुरुषों को यथाविधि दिया गया दान कल्पवृक्ष के समान फलप्रद होता है और कुपात्रों को दिया गया दान शव के विमान को श्रृंगारित करने के समान शोभा देने वाला यानी क्षणिक कीर्ति दिलाने वाला होता है, विशेष लाभ का कारण नहीं होता।

सुपात्रदान से लौकिक और लोकोत्तर सभी प्रकार के सुख साधन प्राप्त होते हैं। सुपात्रदान देने वाला व्यक्ति उस समय अल्प धन होते हुए मन में निर्धनता महसूस नहीं करता। जैसे बादल एकदम बरसकर खाली हो जाते हैं, सारा का सारा पानी वर्षा कर देने पर भी वे अपने में भरे के भरे रहते हैं, उसी प्रकार सुपात्रदान देने वाला प्रचुर दान या सर्वस्वदान दे देने पर भी जीवन में रिक्तता या अभाव का अनुभव नहीं करता। इसीलिए ऐसे महान् सुपात्रदाता को दान देने के पश्चात् कभी ग्लानि या पश्चात्ताप नहीं होता और न ही अपने आपको कष्ट महसूस होता है, क्योंकि वह दूसरों को भरा देखकर स्वयं प्रसन्न होता है। इसीलिए अमितगति श्रावकाचार में कहा है — जो सम्यग् दृष्टि होते हैं, वे अगर उच्च भावों से सुपात्र को विधिपूर्वक दान करते हैं तो वे समाधिपूर्वक मरकर अच्युतपर्यन्त देवलोक की दिव्यभूमि में उत्पन्न होते हैं।^१

सम्यग्दृष्टि के द्वारा प्रदत्त सुपात्रदान निराला ही होता है। उसकी हृदयभूमि में उदारता की उत्तुंग तरंगें उछलती रहती है।^२

वास्तव में सुपात्रदान देने वाला स्वयं तो इन फलों के चक्कर में पड़ता नहीं, न वह फल प्राप्ति के लिए उतावला और अधीर ही होता है, वह तो कर्मयोगी की तरह सुपात्र को देखते ही जो उनके ग्रहण करने योग्य होता है, वह सब कुछ उनको दे देता है, फल की ओर आँखें उठाकर भी नहीं देखता।

१. अमितगति श्रावकाचार ११/१०२

२. वसु. श्रा. २४९

कुपात्र का फल कटु है परन्तु जैनधर्म निष्ठुर बनना नहीं सिखाता । उसका आशय कुपात्रदान के पीछे यही है कि कुपात्र को जहाँ गुरुबुद्धि से, धर्मबुद्धि से, या मोक्षफल-प्राप्ति की दृष्टि से दिया जाता है, वहीं उसका फल एकान्त पाप कर्मबन्ध के रूप में आता है । जहाँ अपात्र या कुपात्र भी संकट में पड़ा हो अथवा विषम परिस्थिति में हो, रोगग्रस्त हो, दयनीय हालत में हो, अत्यन्त निर्धन, अंग-विकल, असहाय एवं पराश्रित हो, वह सुधरना चाहता हो, पात्र या सुपात्र बनने की भूमिका पर हो, वहाँ उसे देने से एकान्त पाप नहीं होता । अभिधान राजेन्द्रकोष में लिखा है — आहारादि शुद्ध हो या अशुद्ध यदि असंयमी को गुरुबुद्धि से दिया जाता है, तो वह कर्मबन्धकारक होता है, अनुकम्पाबुद्धि से दिया जाता है तो वह कर्मबन्धकर्ता नहीं होता । अथवा जो भोलाभाला गृहस्थ किसी अपात्र या कुपात्र का भविष्य उज्ज्वल जानकर उसके गुणों से लुब्ध होकर उसे दान देता है, वह दान भी उसके लिए अल्पकर्मबन्धकारक तथा बहुत निर्जराकारक होता है ।

अगर कोई दाता केवल उत्कृष्ट सुपात्र की खोज में ही बैठा रहेगा तो वह अन्य सुपात्रों से तो वंचित रहेगा ही, साथ ही उत्कृष्ट सुपात्र के सुयोग से भी वंचित रहेगा, क्योंकि उत्कृष्ट का सुयोग भी सदा नहीं मिलता । फिर एक बात यह भी है कि जहाँ अन्य याचकों या पात्रों को दान देने का सिलसिला जारी रहता है, वहाँ उत्कृष्ट सुपात्र भी उसकी दानवृत्ति की प्रशंसा या महिमा सुनकर अनायास ही कभी-कभी आ पहुँच सकता है ।

भौरा उसी फूल के पास जाता है, जिस फूल के पास कुछ सुगन्ध, पराग या रस हो । वह उस फूल के पास नहीं जाता, जहाँ न सुगन्ध हो, न पराग हो और न ही रस हो । और यह बात भी है, जहाँ अन्य पुष्पग्राहक उड़ने वाले जानवर जिस फूल पर सदा बैठते होंगे, वहीं भौरा भी पहुँच जायेगा । अन्यथा वह उस पुष्प के पास नहीं पहुँचता । राजहंस प्रायः वहीं पहुँचता है, जहाँ दूसरे पक्षी दाने चुग रहे हों ।

निष्कर्ष में हम कह सकते हैं कि प्रत्येक दाता को अपने दान को सफल बनाने के लिए पात्रापात्र का विचार तो करना ही चाहिए ।

शीलाकाचार्य ने आचारांगसूत्र की टीका में स्पष्ट बता दिया कि पात्र,

सुपात्र, कुपात्र और अपात्र के स्वरूप को जानने के बावजूद भी दानचतुर दाता स्वयं अपनी प्रज्ञा से दान के योग्य पात्र का निरीक्षण-परीक्षण करें और यह भी पता लगा ले कि कौन उत्कृष्ट सुपात्र है, कौन मध्यम सुपात्र और कौन जघन्य सुपात्र ? बाह्य चिन्ह, स्थूल दृष्टि, बाह्य वेश भूषा, बाह्य क्रियाओं पर से सुपात्र-कुपात्र या पात्र-अपात्र का सहसा निर्णय न करके धैर्य से, सूक्ष्मदृष्टि से, भूतकाल के उसके जीवन से, भविष्य की उसकी सुसम्भावनाओं पर से निश्चित करे ।

इसलिए पात्र-अपात्र के विषय में तटस्थ दृष्टि से, साथ ही मानवीय भावना के साथ विचार करना चाहिए । हृदय और बुद्धि, शास्त्र और व्यवहार दोनों तुला पर तोलकर पात्र-विवेक करके दान में प्रवृत्त होना चाहिए ।

नवम अध्याय

दान की निष्फलता के कारण

व

भाव दान का स्वरूप

बहुत से लोग दान की विधि से अनभिज्ञ होने के कारण दान के वास्तविक फल और उद्देश्य को पूर्ण नहीं कर पाते। इसका कारण दान के साथ विवेक, अनासक्ति, सात्त्विक बुद्धि और निःस्वार्थता एवं आदरभाव उनमें नहीं होता। इस कारण सब किया कराया निष्फल जाता है। इसीलिए एक जैनाचार्य ने दान के निम्नोक्त पाँच दूषण बताए हैं —

“अनादरो विलम्बश्च वैमुख्यं विप्रियं वचः ।

पश्चात्तापश्च दातुः स्याद् दानदूषणपंचकम् ॥”

— दान देते समय लेने वाले का अनादर करना, देने में विलम्ब करना, दान देने में अरुचि या बेरुखी बताना, लेने वाले को अपशब्द कहकर, डाँट-फटकार कर या गालियों की बौछार करके देना, दान देने के बाद दाता के मन में प्रसन्नता के बदले पश्चात्ताप या रंज होना ये दान के पाँच दूषण हैं, जिनसे बचना बहुत आवश्यक है।

कुछ लोगों की आदत होती है कि वे दान देते समय लेने वाले के साथ इस प्रकार से व्यवहार करते हैं, जिससे उसका अपमान और तिरस्कार हो जाय अथवा दान लेने वाले को नीचा दिखाने का प्रयत्न करते हैं, जिससे अपना बड़प्पन जाहिर हो अथवा वे दान देते समय ही इस प्रकार की तानाक़शी करेंगे, जिससे लेने वाला अपमानित या लज्जित हो जाय।

एक अश्रदालु दानदाता ने याचकों के प्रति, दान के प्रति अश्रद्धा और दान लेने वालों के प्रति बेरुखी बताई थी, उसका एक नीतिज्ञ ने कितना सुन्दर उत्तर दिया है, देखिए ।'

— इस भूतल पर मैं अकेला ही राजा (दाता) हूँ और याचक एवं भिक्षुक तो लाखों हैं । मैं किसको और क्या-क्या दे सकूँगा ? इस प्रकार की चिन्ता करना व्यर्थ है । क्या इस संसार में प्रत्येक याचक को देने के लिए एक-एक कल्पवृक्ष है ? क्या प्रत्येक कमल को खिलाने के लिए एक-एक सूर्य है ? अथवा प्रत्येक चातक को पानी पिलाने के लिए अथवा प्रत्येक लता और पौधे को सींचने के लिए एक-एक बादल हैं ? निश्चित है कि संसार में ऐसा कुछ नहीं है । प्रत्युत एक ही कल्पवृक्ष अनेक याचकों की चिन्ता मिटाकर यथेष्ट वस्तु दे देता है । एक ही सूर्य लाखों कमलों को अकेला विकसित कर देता है और एक ही मेघ अनेक चातकों की पिपासा मिटा देता है तथा अनेक बेलों एवं पौधों को अपना पानी देकर उन्हें समृद्ध बना देता है ।

इसलिए दान देने वाले के मन में यह चिन्ता भी व्यर्थ है कि मैं अकेला कैसे इतने याचकों को दे सकता हूँ ?

आचार्य बृहस्पति ने भारतीय संस्कृति का आदर्श रखते हुए दाता को सुन्दर परामर्श दिया है ? —

— अपने पास थोड़ा-सा पदार्थ हो तो उसकी चिन्ता मत करो, उस थोड़े-से में से भी थोड़ा-थोड़ा रोज दो, पर दो अदीन मन से, मन में ग्लानि न लाते हुए, दीनता प्रदर्शित न करते हुए या स्पष्ट शब्दों में कहें तो अपने अभावों का रोना न रोते हुए दो । थोड़ा देने में तुम्हारी कृपणता नहीं कही जाएगी । कृपणता तो तब है, जब अपने पास होते हुए भी इन्कार कर जाए, दे नहीं । तर्क-

१. एकोऽयं पृथिवीपतिः क्षितितले, लक्षाधिका भिक्षुकाः ।
किं कस्मै चितरिष्यतीति किमहो एतद्वृथा चिन्त्यते ?
आस्ते किं प्रतियाचकं सुरतरुः प्रत्यम्बुजं किं रविः ?
किं वाऽस्ति प्रतिचातकं, प्रतिलतागुल्मञ्च धाराधरः ?
२. स्तोकादपि च दातव्यमदीनेनान्तरात्मना ।
अहन्यहनि यत्किञ्चित्कार्पण्यं न तत्स्मृतम् ॥

वितर्क करके लेने वाले को कायल करके दान देना, दान के वैमुख्य नामक दोष के अन्तर्गत है। इस प्रकार देना प्रसन्नचित्त से, हर्षपूर्वक देना नहीं है। इससे दान का बाग सूख जाता है। इस सम्बन्ध में बुद्ध के जीवन का एक प्रसंग अत्यन्त प्रेरणादायक है।

एक बार तथागत बुद्ध अपने संघसहित कौशल में पधारे। वहाँ एक जमींदार ने उन्हें भोजन के लिए संघ आमन्त्रित किया। भोजन के बाद वह बुद्ध सहित सब लोगों को अपने बाग की सैर कराने ले गया। बाग बहुत बड़ा और सुन्दर था। उसके बीचो बीच एक बड़ा-सा स्थान था, जहाँ एक भी पेड़ नहीं था। संघ के लोगों ने जमींदार से पूछा — “अजी ! क्या बात है ? इस स्थान पर एक भी पेड़ क्यों नहीं लगाया गया ?” जमींदार ने नम्रतापूर्वक कहा — “महात्मागण ! बात यह थी कि जिन दिनों यह बाग लगाया जा रहा था, उन दिनों मैंने एक लड़के को वृक्षों को सींचने के लिए नियुक्त किया था। पहले तो वह सब वृक्षों को एक समान पानी देता रहा। बाद में उसने सोचा-इससे क्या लाभ ? जिस पौधे की जड़ जितनी लम्बी हो, उसे उतना ही कम पानी दिया जाय, यही बेहतर रहेगा। अतः वह सिंचाई से पहले प्रत्येक पौधे की जड़ उखाड़कर उसकी लम्बाई देखता, तत्पश्चात् उसे पुनः गाड़कर उसी अनुपात में उस पौधे को पानी देता। परिणाम यह हुआ कि थोड़े ही दिनों में सभी पौधे सूख गए। इसी कारण इस जगह कोई पेड़ नहीं रहा। मैंने उस जड़ उखाड़कर देखने वाले लड़के को निकाल दिया।” इस पर महात्माबुद्ध ने उपस्थित जमींदार, उसके कर्मचारी एवं अपने संघ के लोगों को सम्बोधित करते हुए कहा — “जिस प्रकार बार-बार जड़ें उखाड़ने से पेड़ सूख गए, हरा-भरा बाग सूख गया, उसी प्रकार दान देते समय भी तर्क-वितर्क या ज्यादा पूछताछी नहीं करनी चाहिए। सहज भाव से, अपनी शक्ति अनुसार जिसको जो कुछ देना हो तुरन्त दे डालिए। अधिक विकल्पजाल या विचारों की उधेड़बुन में पड़ने से दान का बाग सूख जाता है। एक जैनाचार्य ने तो स्पष्ट कहा है १—

— दान देते समय इभ्य श्रेष्ठियों को पात्र-अपात्र की चिन्ता करने से क्या

१. दानकाले महेभ्यानां किं पात्रपात्रचिन्तया ।
दीनाय देवदूष्याद् यथाऽदात् कृपया प्रभुः ॥

लाभ है ? आवश्यकचूर्ण, त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र आदि में वर्णन है — भगवान् महावीर ने जब देखा कि एक दीन-हीन ब्राह्मण गिड़गिड़ाकर अपनी दीनावस्था प्रगट कर रहा है, तब उसके साथ तर्क-वितर्क नहीं की, न यह कहा कि यह (दारिद्र्य) तो तेरे कर्मों का फल है, मैं क्या कर सकता हूँ या तू तो सुपात्र नहीं है आदि, किन्तु अनुकम्पा लाकर अपने कन्धे पर पड़े हुए देवदूष्य वस्त्र का आधा हिस्सा उसे दे दिया ।

इसी प्रकार दान देते समय विलम्ब नहीं करना चाहिए । दान में विलम्ब करने का मतलब है — दान देने की आन्तरिक इच्छा या उत्साह नहीं है, बिना मन से दान दिया जा रहा है अथवा अपने द्रव्य के प्रति उसका ममत्व गाढ़ है, उसका ममत्व छूटा नहीं है देय द्रव्य के प्रति ।

रामकृष्ण परमहंस के पास एक दिन एक साधक आया और कहने लगा — “स्वामी जी ! मुझे संसार छोड़ना है । मैं आपसे सन्यास लेना चाहता हूँ और आपकी सेवा में रहना चाहता हूँ । मैं अपनी कमाई की सर्वस्व पूँजी एक हजार रुपये लाया हूँ, उन्हें आपके चरणों में अर्पण करना चाहता हूँ । आप इसका जैसा उपयोग करना चाहें करें ।” परमहंस ने एक हजार की थैली ग्रहण किये बिना ही आगन्तुक से कहा — “मैं यह ठीक समझता हूँ कि इस थैली को गंगा-मैया (नदी) को भेंट कर आओ ।” साधक ने इस अप्रत्याशित उत्तर से चकित होकर पूछा — “क्या गंगा मैया को ?” परमहंस ने वही वाक्य दोहराया । बेचारा साधक भारी कदमों से गंगा नदी की ओर चला । गुरु की आज्ञा जो हुई थी । किसी तरह अनमने भाव से गंगा के तट पर बैठकर उसने थैली का मुँह खोला और उसमें से एक रुपया निकाला और गंगा में फेंक दिया, फिर दूसरा रुपया निकाला और उसे भी फेंका । इस प्रकार एक-एक करके उसने सब रुपये नदी में फेंक दिये । खाली थैली लेकर वह परमहंस के पास लौटा और कहने लगा — “आपके आदेशानुसार सारे रुपये गंगाजी में डाल आया हूँ ।” परमहंस ने पूछा — “इतनी देर कहाँ और कैसे लगा दी, इन रुपयों को फेंकने में ?” “मैंने एक-एक रुपया निकाला और फेंका था, इसी से इतनी देर हो गई ।” साधक ने कुछ हिचकते हुए उत्तर दिया ।

परमहंस बोले — “तब तुम हमारे काम के नहीं हो ।” साधक समझ

रहा था कि “मैंने बहुत बड़ा त्याग किया है, इसलिए गुरुजी मुझ पर बहुत प्रसन्न होंगे।” किन्तु जब उसने गुरुजी का निर्णय सुना तो भौंचक्का सा प्रश्न-सूचक की दृष्टि से गुरु की ओर देखने लगा। परमहंस ने उसे समझाया — “जो काम तुम्हें एक बार में कर लेना चाहिए था, उसे तुमने हजार बार में किया। जितनी देर में तुमने एक रुपया फेंका, उतनी ही देर में तुम शेष ९९९ रुपये फेंक सकते थे। फिर सबके सब रुपये एक साथ क्यों नहीं फेंक दिए? इससे मालूम होता है कि तुम्हारी ममता मरी नहीं है। तुम ममत्व के विष को जल्दी नहीं छोड़ सकते। अभी जागृति पूरी नहीं आई। इसलिए अभी तुम संन्यास के अयोग्य हो। यहाँ दान और त्याग में विलम्ब करने वालों की गुजर नहीं।”

यह प्रेरणात्मक जीवनगाथा स्वयं बोल रही है कि दान में विलम्ब करना, दान के महत्त्व को घटाना है। इसलिए विलम्ब को दान का दूषण माना गया है। एक भारतीय कहावत प्रसिद्ध है — “तुरन्त दान महापुण्य।” उसका भी आशय यही है कि शीघ्र दान देना महापुण्य का काम है।

दान के दूषणों में एक बहुत ही खटकने वाला दूषण है — अप्रिय वचन। दान के साथ जब कटु वचन और गालियों की बौछार प्रारम्भ होती है, तब तो दान का सारा मजा किरकिरा हो जाता है। दान दिया जाता है — प्रसन्नता से, प्रेम से, आत्मीयता से, मन की उमंग से या श्रद्धा-भक्ति से, उत्साहपूर्वक। किन्तु ये बातें न होकर दान, केवल तीखे वाक्य वाणों के साथ दिया जाता है, तब तो उसमें बिना मजमून के कोरे लिफ्फे के समान केवल नाम का ही दान रह जाता है। उसमें से दान की आत्मा निकल जाती है और केवल दान का कलेवर रह जाता है। यह दान नहीं, दान का मजाक है, जिससे दान करके भी व्यक्ति उसका प्रतिफल ठीक रूप में प्राप्त नहीं कर सकता। इसीलिए आचार्य सोमदेवसूरिने नीतिवाक्यामृत में स्पष्ट कह दिया है —

“तत्, किं दानं यत्र नास्ति सत्कारः ?”

वह कैसा दान है, जिसमें सत्कार नहीं है ?

इसलिए भारतीय साहित्य के महान मनीषी गोस्वामी तुलसीदासजी ने जहाँ दान के साथ कटुता हो, वहाँ से दान लेने का ही नहीं, उस घर में जाने का

भी निषेध किया है -

“आव नहीं, आदर नहीं, नहीं नैनों में नेह ।

तुलसी वा घर न जाइए, कंचन बरसे मेह ॥”

गालियों और अपशब्दों के साथ जहाँ दान मिलता हो, वहाँ भला कौन स्वाभिमानी पुरुष दूसरी बार जाना चाहेगा ?

सचमुच दान के साथ मधुर वाक्य अमृत का-सा काम करते हैं और दाता को यशस्वी, आशीर्वाद से युक्त, सद्भावना से सम्पन्न बनाते हैं, जबकि कटु वाक्य विष का-सा काम करते हैं, घृणा फैलाते हैं और भविष्य में द्वेष और वैर भी बढ़ा देते हैं ।

और दान का पाँचवाँ दूषण है - पश्चात्ताप । दाता के मन में दान देने के बाद उसका पश्चात्ताप होना भी दान के फल को मिट्टी में मिलाना है । कई कृपणवृत्ति के लोगों की आदत होती है कि वे पहले तो किसी स्वार्थ या लोभ के वश किसी व्यक्ति को दान देने में प्रवृत्त होता है, किन्तु जब उसका स्वार्थ या लोभ पूर्ण नहीं होता या उसकी आकांक्षा पूरी नहीं होती, तब वे दिये गये दान के विषय में पछतावा करते हैं । उनका मानसिक सन्ताप इतना बढ़ जाता है कि वे भविष्य में किसी भी व्यक्ति को दान देने के लिए उत्साहित नहीं होते ।

राजगृही के मम्मण सेठ के पास ९९ करोड़ की सम्पत्ति थी, फिर भी उसकी तृष्णा मिटी नहीं । उसने अपने सब लड़कों को थोड़ी-थोड़ी पूँजी देकर अलग व्यापार करने और अपना गुजारा चलाने के लिए अलग कर दिया । सब लड़के मम्मण सेठ के संकुचित रवैये से तंग आकर अपने स्त्री-बच्चों सहित अर्थोपार्जन के लिए परदेश चले गये । बाद में मम्मण ने अपनी सारी सम्पत्ति को हीरे-पन्नों आदि से जड़ित बैल बनाने में लगा दी । उस बैल को देखकर उसके मन में उसकी जोड़ी का दूसरा बैल बनाने की धुन लगी और इसके लिए वह सदी, गर्मी, बरसात एवं अंधेरी रात की परवाह न करके कसकर मेहनत करने लगा । राजा श्रेणिक को जब पता लगा तो उसे दरबार में बुलाकर उसे बढ़िया बैल देने को कहा, पर वह उस बैल से कहाँ सन्तुष्ट हो सकता था ? उसने राजा श्रेणिक को अपने यहाँ ले जाकर तलघर में हीरे-पन्ने आदि से जड़ित बैल

बताया और उसकी जोड़ी का बैल राजा से चाहा। आखिर उसकी माँग की पूर्ति न हो सकी।

राजा श्रेणिक ने भगवान महावीर से मम्मण सेठ की ऐसी वृत्ति का कारण पूछा तो उन्होंने उसकी पूर्वजन्म की घटना सुनाई — “मम्मण सेठ पूर्व-जन्म में बहुत गरीब था। एक बार बिरादरी में भोज हुआ, उसमें लड्डू दिये गये। इसने अपने हिस्से का लड्डू रख लिया। सोचा — “भूख लगेगी, तब खाऊँगा।” जब वह गाँव के बाहर आकर एक तालाब के किनारे उस लड्डू को खाने बैठा, तभी उसे एक मासोपवास की तपस्या वाले साधु आते दिखाई दिये। इसके जी में आया — “आज अच्छा मौका मिल गया है, साधु को आहार दान दूँ।” यह सोचकर उसने मुनि को आहार लेने के लिए अत्यधिक आग्रह किया। मुनि ने कहा — “तुम्हारी इच्छा है तो इसमें से थोड़ा-सा दे दो।” किन्तु उसकी भावना उस समय इतनी उत्कृष्ट थी कि मुनि के अत्यधिक मना करने पर भी वह सारा लड्डू मुनि को दे दिया। मुनि लेकर चल दिये, उसके घर के पास में एक व्यक्ति रहता था जिसके मन में साधुओं के प्रति घृणा थी उसने पास आकर कहा कि आज तुम्हारे यहाँ पर साधु आया था तुमने उसे क्या दिया ?

उसने उसका प्रतिवाद करते हुए कहा — “तपस्वी संत भगवंत को तुच्छ शब्दों से पुकारना उचित नहीं है। मेरे पास है भी क्या, जो मैं उन्हें देता। आज मेरे सद्भाग्य थे कि लहानी का लड्डू आया था और इधर तपस्वी संत भगवंत पधार गये, मुझे सहज रूप से लाभ मिल गया।” उसने कहा— “जरा तुमने लड्डू चखा भी है या नहीं, इतना बढ़िया लड्डू तो मैंने अपने जीवन में पहली बार देखा, क्या उसका स्वाद है।” उसके कहने से उसने थाली में पड़े लड्डू के कणों को खाया। वे लड्डू के कण बड़े स्वादिष्ट थे। लड्डू की उस मिठास ने मुनि को दान के उसके रस को बिगाड़ दिया। उसके हर्ष को विषाद में परिणत कर दिया। वह सोचने लगा — “कहाँ से आ गये ये ? इन्हें भी आज ही आना था। यह तो संत हैं, इन्हें तो रोज-रोज ही लड्डू मिल सकते हैं, मुझे कौन-से रोज मिलते हैं। आज तक तो मेरे यहाँ आये नहीं और आये तो आज ही आए। मैंने व्यर्थ ही इन्हें लड्डू दे दिया।” इस प्रकार लड्डू देने के लिए वह पश्चात्ताप करने लगा। उसी पश्चात्ताप का परिणाम है कि आज इसके पास ९९ करोड़ की सम्पत्ति होते

हुए भी उस दानान्तराय कर्मबन्धन के फलस्वरूप दान नहीं कर सकता; सत्कार्यों में खर्च नहीं सकता ।

दान देने का पश्चात्ताप उसे ही होता है, जो व्यक्ति अनुदार हो, अपने विषयसुखों या दैहिक सुविधाओं के प्रति आसक्त हो । अतः विधियुक्त दान के लिए पूर्वोक्त ५ दूषणों से बचना चाहिए ।

जैसे दान के पाँच दूषण बताये, वैसे ही विधियुक्त दान के लिए दान के पाँच भूषण भी जैनाचार्य ने इस प्रकार बताये हैं —

“आनन्दाश्रूणि रोमाञ्चो, बहुमानं प्रियं वचः ।

तथाऽनुमोदना पात्रे दानभूषण-पञ्चकम् ॥”

दान देते समय आनन्दातिरेक से आँसू उमड़ आना, पात्र को देखते ही रोमाञ्च हो जाना, आदाता (पात्र) का बहुमान करना, प्रिय वचनों से उसका स्वागत-सत्कार करना तथा दान के योग्य पात्र का अनुमोदन (समर्थन) करना, ताकि दूसरों को उसे दान देने की प्रेरणा मिले; ये दान के पाँच भूषण हैं । इनसे दान की शोभा बढ़ती है । दान में विशेषता (चमक) आ जाती है ।

अन्तकृद्दशांगसूत्र में वर्णन आता है कि जिस सुलसा के यहाँ पले-पुसे मुनि बने हुए देवकी महारानी के छह पुत्र दो-दो युगल में बार-बार उसी के यहाँ भिक्षा के लिए आये तो उनके बार-बार आने का भ्रम होने पर भी देवकी ने मुनियों को आहार देने में किसी प्रकार की अरुचि नहीं दिखाई, बल्कि अत्यन्त उमंग और उत्साहपूर्वक मुनियों के तीनों युगलों को आहार दिया । बल्कि उनको आहार देते समय हर्ष उमड़ता था । मुनियों को अपने राजमहल की ओर आते देखकर देवकी के मन में आनन्द की लहर पैदा हो आई और वह अपने सिंहासन से उठकर स्वयं सात-आठ कदम सामने जाकर उनका स्वागत किया और अत्यन्त श्रद्धाभक्ति के साथ उन्हें भोजनगृह में पधारने की प्रार्थना करके उसने सिंह केसरिया मोदक उनके भिक्षापात्र में दिये । इस प्रकार दान देने से पहले, देने के बाद और देते समय बहुत उच्च भावना थी । हृदय में उसके हर्ष नहीं समा रहा था । वह अपने को धन्य मान रही थी ।^१

यह है दान के पाँचों भूषणों का प्रतीकात्मक उदाहरण । दान की विधि के अन्तर्गत ही ये पाँचों भूषण समझने चाहिए ।

इसीलिए नीतिज्ञों ने दान के साथ प्रिय वचन को मानव का सहज गुण बताया है —

“दातृत्वं प्रियवकृत्वम् धीरत्वमुचितज्ञता ।

अभ्यासेन न लभ्यन्ते, चत्वारो सहजा गुणाः ॥”

— दान देना, प्रिय वचन कहना, धीरता रखना और उचित का ज्ञान होना, ये चारों गुण अभ्यास से प्राप्त नहीं होते, ये चारों सहज गुण हैं ।

दान के भूषण के सन्दर्भ में दान की चार श्रेणियों का वर्णन भी किया गया है ।

पाराशारस्मृति में दान की इन चारों श्रेणियों का वर्णन किया गया है —

— लेनेवाले पात्र के सामने जाकर देना उत्तम दान है, उसे बुलाकर देना मध्यमदान है, उसके माँगने पर देना अधमदान है और माँगने पर भी न देकर अपनी चाकरी कराकर देना निष्फलदान है ।^१

जहाँ व्यक्ति दान हृदय से नहीं देना चाहता, वहाँ दान देने की औपचारिकता होती है । जब व्यक्ति को कोई चीज देने की इच्छा नहीं होती है तो वह अपनी चीज को भी झूठ बोलकर दूसरे की बता देता है, अगर देता है तो भी रोते-रोते, दूसरों की चीज कहकर देता है । जैसे श्रेणिक राजा की कपिला दासी से कहा गया तू अपने हाथ से दान दे, किन्तु उसने जब साफ इन्कार कर दिया कि मैं कदापि नहीं दे सकती । इन हाथों से मैं पराई चीज कैसे दे दूँ ? तब उसके हाथों के चाटु बाँध दिये और उससे दान देने का आग्रह किया गया, तो भी उसने यही कहते हुए दान दिया कि “मैं नहीं दे रही हूँ, मेरा चाटु दे रहा है ।” यह दान नहीं, दान की विडम्बना थी ।

उपेक्षापूर्वक लापरवाही से दान देने में वह आनन्द भी नहीं मिलता

१. अभिगम्योत्तमं दानमाहूयैव तु मध्यमम् ।

अधमं याचमानाय सेवादानं तु निष्फलम् ॥ — पाराशारस्मृति

और न ही उत्तम फल प्राप्त होता है। उत्तम फल तभी मिलता है, जब खुशी से एवं सत्कार से दान दिया जाए।

शुद्ध विधियुक्त भावनापूर्वक दिये गए दान को महाभारत के अनुशासन पर्व (७/६) में इसे महायज्ञ बताकर इसके पाँच अंग बताए हैं —

“चक्षुर्दद्यात् मनोदद्यात् वाचं दद्याच्च सुनृताम् ।

अनुब्रजेदुपासीत स यज्ञः पंचदक्षिणः ॥”

— घर पर आए हुए अतिथि का पाँच प्रकार से स्वागत करना चाहिए। अतिथि को आते देखकर प्रफुल्लित आँखों से उसका स्वागत करे, फिर प्रसन्न मन से मीठी वाणी बोले, किस वस्तु की उसे आवश्यकता है, यह जाने और उस वस्तु को देकर उसकी सेवा करे, जब अतिथि इच्छा पूर्ण होने पर जाने लगे तो घर के बाहर तक उसे छोड़ने जाए। इन पाँचों विधियों से अतिथि का सत्कार करना अतिथियज्ञ की सच्ची दक्षिणा है।

दानविधि में इसीलिए भावना की मुख्यता है। वास्तव में देखा जाय तो दान में देय द्रव्य अधिक दिया या कम दिया ? बहुमूल्य दिया या अल्पमूल्य दिया ? धनिक ने दिया या निर्धन ने दिया ? इसका इतना महत्त्व नहीं, जितना महत्त्व दानविधि के साथ भावना का है ! राजकुमारी चन्दनबाला ने दासी के रूप में भगवान महावीर को दीर्घकालीन अभिग्रह तप के पारणे में क्या दिया था ? केवल उड़द के बाकुले ही तो दिये थे और वह भी थोड़े से तथा रूखे थे और एक दासी के द्वारा दिये गए थे ! विदुर पत्नी ने श्रीकृष्ण को केवल केले के छिलके ही दिये थे और शबरी ने श्रीराम को केवल झूठे बेर ही तो दिये ! परन्तु इन सबके पीछे दाता की श्रद्धा, भक्ति, भावना, देने की विधि ही उत्तम थी, इसलिए ये तुच्छदान भी बहुत महत्त्वपूर्ण और विश्व प्रसिद्ध बन गए।

दूसरी बात यह थी कि इन दाताओं ने न तो कोई आडम्बर ही किया, न अपनी नामबरी या प्रसिद्धि के लिए लालायित हुए और न ही अपने दान के पीछे अहंत्व ममत्व की भावना से प्रेरित होकर आदाताओं पर अपना एहसान ही जताया।

महात्मा बुद्ध को जब विशेष ज्ञान हुआ तो उनसे उनके शिष्य अनाथ पिण्ड ने प्रार्थना की — “भंते ! आप अपने ज्ञान का लाभ संसार को भी दीजिए, जिससे उसका भी कल्याण हो ।” बुद्ध ने कहा — “संसार के लोग इस ज्ञान के पात्र हैं, तब न ?” अनाथपिण्ड- “इस ज्ञान का पात्र कैसा होना चाहिए ?” बुद्ध- “जो अपना सर्वस्वदान कर सके, वही इस ज्ञान का पात्र हो सकता है ।” अनाथपिण्ड- “भंते ! आपके लिए ऐसे सर्वस्वदान देने वाले अनेक लोग निकलेंगे । आप मुझे आज्ञा दें तो मैं अभी जाकर आपके लिए सर्वस्व दान ले आऊँ ।”

बुद्ध - “तू तो अनेक की बात कहता है, यदि एक भी व्यक्ति मिल जाय तो मेरा कार्य हो जाय । पर मैं सर्वस्वदान चाहता हूँ, यह बात किसी पर प्रगट मत करना ।”

अनाथपिण्ड पात्र लेकर कौशाम्बी आया । अभी सूर्योदय होने में कुछ देर थी । लोग अभी बिस्तर पर ही पड़े थे तभी अनाथपिण्ड ने आवाज लगाई- “तथागत बुद्ध सर्वस्वदान लेना चाहते हैं । यदि कोई सर्वस्वदान दाता हो तो वह मुझे दे ।” लोगों ने आवाज सुनी । अनेक आभूषण, रत्न, बहुमूल्य वस्त्र आदि लेकर दौड़े और अनाथपिण्ड के पात्र में डालने लगे । किन्तु अनाथपिण्ड अपने पात्र को उलटा करके उन सब चीजों को नीचे गिरा देता और कहता — “मैं तो सर्वस्वदान चाहता हूँ, ऐसा दान नहीं ।” लोग निराश होकर अपनी अपनी चीजें उठाकर लौट गए । अनाथपिण्ड चलते-चलते नगर के बाहर जंगल में आगया । सोचा - नगर में कोई नहीं मिला, तो जंगल में सर्वस्वदानी कहाँ से मिलेगा ? फिर भी आशान्वित होकर आवाज लगाता हुआ घूमने लगा । एक महादरिद्र, किन्तु भावनाशील महिला ने अनाथपिण्ड की यह आवाज सुनी । उसके न तो घरबार था, न उसके पास सिर्फ एक फटे वस्त्र के सिवाय और कोई कुछ धनादि था । उसने सोचा — “तथागत बुद्ध सर्वस्वदान चाहते हैं । मेरा सर्वस्व यही वस्त्र है । ऐसा उत्तम पात्र फिर कब मिलेगा ? मुझे इस स्वर्ण सुयोग का लाभ उठा लेना चाहिए ।” ऐसा सोचकर उसने भिक्षु को आवाज दी - “ओ भिक्षु ! आओ, मैं तुम्हें सर्वस्वदान देती हूँ ।” इस प्रकार जिस मार्ग से अनाथपिण्ड आ रहा था, उसी मार्ग पर स्थित एक पुराने वृक्ष के खोखले में स्वयं उतर गई और अपना

एकमात्र वस्त्र हाथ में लेकर अनाथपिण्ड से कहा- “लो यह सर्वस्वदान लो । अपने गुरु महात्मा बुद्ध को दो, उनकी इच्छापूर्ण करो ।” अनाथापिण्ड ने उस स्त्री का दिया हुआ वह वस्त्र हर्षपूर्वक अपने पात्र में लिया और गद्गद होकर उससे कहने लगा- “माता ! आपकी तरह सर्वस्वदान देने वाला संसार में और कौन होगा ? एक मात्र वस्त्र, जो आपके पास लज्जा निवारणार्थ था, उसे भी आपने उतारकर स्वयं तरुकोटर में प्रवेश करके दे दिया । यही आपको सर्वस्व था । मुझे बहुमूल्य वस्त्राभूषण, रत्न आदि देने वाले अनेक दाता मिले, लेकिन वह सर्वस्वदान न था । परन्तु आपको धन्य है, आपने सर्वस्वदान दे दिया ।” इस प्रकार उस महिला की प्रशंसा करके अनाथपिण्ड तथागत बुद्ध के पास पहुँचा और कहा - “भंते ! यह लीजिए, सर्वस्वदान ।” और उसने कौशाम्बी नगरी में सर्वस्वदान न मिलने और वन में एक महिला द्वारा सर्वस्वदान मिलने का आद्योपान्त वृत्तान्त सुनाया । बुद्ध उस वस्त्र को पाकर बहुत ही प्रसन्न हुए । उन्होंने वह वस्त्र मस्तक पर चढ़ाकर कहा- “मेरी प्रतिज्ञा अब पूर्ण हुई । अब मैं लोगों को अवश्य ही वह ज्ञान सुनाऊँगा, जो मुझे प्राप्त हुआ है ।”

वास्तव में इस प्रकार के सर्वस्वदान को ही पूर्वोक्त गुण से युक्त विधिवत् दान माना गया है । इसी प्रकार का दान एक गरीब वृद्धा के हाथ से बुद्ध को आहारदान था । इस दान के पीछे भी न कोई प्रसिद्धि थी, न प्रतिष्ठा पाने की दौड़ थी और न ही कोई स्वार्थ सिद्धि की तमन्ना थी ।

तथागत बुद्ध राजगृह में पधार रहे थे सभी नर-नारी प्रफुल्लित होकर उनकी अगवानी के लिए खड़े थे । बुद्ध धर्म और संघ की शरण के स्वर से आकाश गुँज रहा था । बुद्ध के आगे-पीछे सैकड़ों श्रेष्ठी, राजपुत्र और राजा आदि विनीत मुद्रा में चल रहे थे । नगर के द्वार पर सम्राट बिम्बसार ने हाथ जोड़कर प्रणाम करते हुए उनका स्वागत किया और प्रार्थना की - “भंते ! आज के भोजन के लिए मेरे यहाँ पधारने की स्वीकृति दीजिए ।” तथागत बुद्ध ने कहा- “राजन् ! भिक्षुओं को जहाँ तक सम्भव हो, किसी के घर पर बैठकर भोजन नहीं करना चाहिए । न एक घर से सारी भिक्षा-सामग्री ही लेनी चाहिए । हम लोग सार्वजनिक भिक्षाटन के लिए आयेंगे, उस समय आप भी कुछ दे दें ।”

इसी नगर में एक गरीब वृद्धा रहती थी । उसने महात्मा बुद्ध का नाम

बहुत दिनों से सुन रहा था। परन्तु गया और सारनाथ जाकर दर्शन करने की उसके पास शक्ति और सुविधा नहीं थी। अब जब सुना कि तथागत अपने शिष्यों के साथ उसके नगर में आ रहे हैं, तो हर्षविभोर हो गई। उसने सुना था कि बौद्ध भिक्षु नंगे पैर चलते हैं, उनके पैरों में काँटे चुभ जाते हैं। वह प्रतिदिन राजमार्ग में झाड़ू देती थी और काँटे चुगती थी। राह चलते हुए बच्चे उसे छेड़ते और उसे पागल समझते थे। पर उसे इन बातों की कोई परवाह ही नहीं थी।

बुद्ध अपने शिष्यों सहित भिक्षा के लिए नगर में पधारे। लोगों में होड़ लगी हुई थी कि ज्यादा से ज्यादा स्वादिष्ट भोजन दिया जाय।

बेचारी वृद्धा थकी हुई एक ओर खड़ी ताक रही थी। उसके पास एक ही रोटी बची थी। दूसरे लोगों की नाना प्रकार की मिठाइयों को देखकर उसे अपनी सूखी रोटी देते हुए लज्जा हो रही थी। तथागत ने उसे भीड़ में खड़ी हुई देखा। पास में जाकर कहा - “माई! भिक्षा दे दो।” बड़े प्रेम से गद्गद् होकर उस वृद्धा ने पूरी रोटी इनकी झोली में डाल दी। उसने सोचा कि नाना प्रकार के व्यंजनों के रहते मेरी इस रोटी को कौन पूछेगा? फिर भी उसका मन नहीं माना और जब तथागत बुद्ध अपने शिष्यों सहित एक वृक्ष के नीचे बैठकर आहार करने की तैयारी करने लगे तो वह एक तरफ खड़ी ताकने लगी। दूसरे शिष्यों को अन्य सामग्री बाँटने के बाद तथागत ने स्वयं उस वृद्धा की रोटी से पारणा किया।

यह देखकर उस गरीब वृद्धा की आँखों से अश्रुधारा बहने लगी। सोचा-आज मेरा जीवन धन्य और सार्थक हो गया।

वस्तुतः दान का महत्त्व और मूल्य भावना में निहित होता है। कौन, कितनी और कैसी वस्तु देता है, इसका महत्त्व नहीं; महत्त्व है वस्तु देने के पीछे व्यक्ति की श्रद्धा-भक्ति और हृदय की अर्पण भावना का। इसी कारण तुच्छ वस्तु का दान भी श्रद्धा-भावना के कारण महामूल्यवान हो जाता है और इतिहास के पन्नों पर स्वर्णाक्षरों में अंकित एवं प्रसिद्ध हो जाता है। ईसाई धर्म की पुस्तकों में दरिद्रता में दिये गये दान की महिमा गायी गई है। एक जैनाचार्य भी कहते हैं - “दाणं दरिद्रस्स पहुस्स खंती।” - दरिद्र द्वारा दिया गया दान और समर्थ द्वारा की गई क्षमा महत्त्वपूर्ण है।

यही हाल पूणिया श्रावक का था। वह कुछ ही पैसे रोज कमाता था और उसी से पति-पत्नी निर्वाह करते थे। जिस दिन कोई अतिथि आ जाता तो उसके आतिथ्य में सब कुछ व्यय करके स्वयं पति-पत्नी उपवास कर लेते थे।

एक बार कहीं दुष्काल पड़ा तो वहाँ के दुष्काल पीड़ितों के लिए चन्दा होने लगा। चन्दा करने वाले ईसामसीह थे। इसलिए उनके व्यक्तित्व को देखकर लोग बड़ी-बड़ी रकमें देने लगे। एक बुढ़िया ने बड़ी भावना से दुष्काल पीड़ित सहायक फंड में अपना सर्वस्व बचत - एक पैसा दे दिया। ईसा ने बड़े प्रेम से उससे पैसा लेकर उपस्थित जनता को सम्बोधित करते हुए कहा - "बन्धुओं! यद्यपि तुम सबने हजारों-लाखों रुपये दिये हैं, लेकिन इस बुढ़िया के दिये हुए पैसे की तुलना नहीं कर सकते। क्योंकि तुमने तो थोड़ा देकर बहुत-सा अपने पास रखा है, जबकि इसने तीन पैसे रोज की कमाई और तीन ही पैसे के खर्च में कतरब्योत् करके एक पैसा दिया है।

इस्लाम धर्म के कुछ लोगों ने अपनी तंगी हालत में भी अपने पास जो कुछ था, वह गरीबों के लिए दे डाला था।

इसलिए दानविधि में और सब कुछ देखने की अपेक्षा सबसे अधिक ध्यान दाता की भावना, आस्था, श्रद्धा और भक्ति पर ही दिया जाना चाहिए। ऐसी दशा में वह तुच्छ दान भी महत्त्वपूर्ण और मूल्यवान होकर चमक उठेगा।

दानमहिमागर्भितं श्री दान कुलकम्

'परिहरिअ रज्जसारो, उप्पाडिअ-संजमिक्कगुरुभारो ।
खंधाओ देवदूसं, विअरंतो जयउ वीरजिणो ॥१॥

धम्मत्थकामभेया, तिविहं दाणं जयम्मि विक्खायं ।
तहवि अ जिणिंद मुणिणो, धम्मं दाणं पसंसंति ॥२॥

दाणं सोहग्गकरं, दाणं आरुग्गकरणं परमं ।
दाणं भोगनिहाणं, दाणं ठाणं गुणगणाणं ॥३॥
दाणेण फुरइ कित्ती, दाणेण य होइ निम्मला कंती ।
दाणावज्जियहिअओ, वइरी वि हु पाणियं वहइ ॥४॥

धणसत्थवाहजम्मे, जं घयदाणं कयं सुसाहूणं ।
तक्करणमुसभजिणो, तेलुक्क पियामहो जाओ ॥५॥
करुणाइ दिन्नदाणो, जम्मंतरगहिअपुण्णकिरिआणो ।
तित्थयर-चक्करिद्धि, संपत्तो संतिनाहो वि ॥६॥

पंचसयसाहुभोयण-दाणावज्जिअसुपुण्णपब्भारो ।
अच्छरिअ-चरिअ-भरिओ, भरहो भरहाहिवो जाओ ॥७॥

मूलंविण्ण वि दाउं, गिलाण पडिअरणजोगवत्थूणि ।
सिद्धो अ रयणकंबल-चंदणवणिओ वि तम्मि भवे ॥८॥

अर्थ

१. समस्त राज्यऋद्धि का त्याग किया । संयम का एक अति कठिन भार वहन किया और दीक्षा लेते समय इन्द्र महाराजा द्वारा स्थापन किया हुआ देवदूष्यवस्त्र भी कंधे से उतारकर जिन्होंने दान में दे दिया वे श्री वीरप्रभु जयवंत हो ॥१॥
२. जगत में धर्मदान, अर्थदान और कामदान - ये तीन प्रकार के दान प्रसिद्ध हैं, फिर भी जिनेश्वर प्रभु के मुनिओं धर्म के दान की ही प्रशंसा करते हैं ॥२॥
३. दान सौभाग्य को करनेवाला है, दान आरोग्य का परम कारण है, दान भोग का निधान और दान अनेक गुणसमूह का स्थान है ॥३॥
४. दान करने से निर्मल कीर्ति बढ़ती है, दान से निर्मल कांति बढ़ती है और दान से वश हुआ हृदयवाला दुश्मन भी देने वाले के घर पानी भरता है ॥४॥
५. धनसार्थवाह के भव में उत्तम साधुओं को भी दान किया था, जिससे ऋषभदेव भगवान् तीन लोक के पितामह (नाथ) हुए ॥५॥
६. दसवें भव में (पूर्व के तीसरे भव में) करुणा से पारेवा को अभयदान दिया और जन्मांतर में जिन्होंने ये पुण्य करियाणु खरीद लिया, वे श्री शांतिनाथ प्रभु भी अंतिम भव में तीर्थंकर की और चक्रवर्ती की ऋद्धि प्राप्त की ॥६॥
७. पांचसौ साधुओं को भोजन लाकर देने से जिन्होंने विशिष्ट (निकाचित) पुण्य बांधा था जिससे जिनका चरित्र आश्चर्यकारक है ऐसे भरत राजा संपूर्ण भरतक्षेत्र के चक्रवर्ती राजा हुए ॥७॥
८. कोढ़ रोगवाले ग्लान मुनि को औषध में उपयोगी वस्तुएँ (बावनाचंदन और कंबल) बिना मुल्य के देने मात्र से रत्नकंबल और बावनाचंदन का व्यापारी उसी भव में सिद्धि को प्राप्त किया ॥८॥

दारुण खीरदाणं, तवेण सुसिअंगसाहुणो धणिअं ।
जणजणिअचमक्कारो, संजाओ सालिभदो वि ॥१॥

जम्मंतरदाणाओ, उल्लसिआऽपुव्वकुसलझाणाओ ।
कयवन्नो कयपुन्नो, भोगाणं भायणं जाओ ॥१०॥

घयपूस-वत्थपूसा, महरिसिणो दोसलेसपरिहीणा ।
लद्धीइ सव्व (सयल) गच्छो-वग्गहगा सुहगइं पत्ता ॥११॥

जीवंतसामिपडिमाए, सासणं विअरिऊण भत्तीए ।
पव्वइऊण सिद्धो, उदाइणो चरमरायरिसी ॥१२॥

जिणहरमंडिअवसुहो, दाउं अणुकंपभत्तिदाणाइं ।
तित्थप्पभावगरेहिं संपत्तो संपइराथा ॥१३॥

दाउं सद्धासुद्धे, सुद्धे कुम्मासए महामुणिणो ।
सिरिमूलदेवकुमारो, रज्जसिरिं पविओ गुरुइं ॥१४॥

अइदाणमुहरकविअण-विरइअसयसखकव्ववित्थरिअं ।
विक्कमनरिंदचरिअं, अज्जवि लोए परिप्फुरइ ॥१५॥

तियलोयबंधवेहिं, तब्भवचरिमेहिं जिणवरिंदेहिं ।
कयकिच्चेहिं वि दिन्नं, संवच्छरियं महादाणं ॥१६॥

सिरिसेयंसकुमारो, निस्सेयस्सामिओ कहं न होइ ।
फ़सुअदाणपवाहो, पयासिओ जेण भरहम्मि ॥१७॥

९. तपश्चर्या से अत्यंत शोषित देहवाले तपस्वी मुनिराज को क्षीर (खीर) का दान देने से शालिभद्र भी सभी को चमत्कार पैदा कराए, वैसी ऋद्धि के पात्र हुए ॥९॥
१०. पूर्वजन्म में किये हुए दान के प्रभाव से उत्पन्न अपूर्व शुभध्यान के प्रभाव से अतिपुण्यवंत कयवन्ना सेठ विशाल सुखभोग के स्वामी हुए ॥१०॥
११. धृतपुष्य और वस्त्रपुष्य नाम के महामुनि स्वलब्धि से सकल गच्छ की निरतिचार भक्ति करके सद्गति (मोक्ष) प्राप्त की ॥११॥
१२. जीवित (महावीर) स्वामी की प्रतिमा की भक्ति के लिए राज्य का भाग-गाम गरास देकर के दीक्षित हुए उदायी नाम के चरम राजर्षि मोक्षगति को प्राप्त किया ॥१२॥
१३. जिन्होंने सकल पृथ्वी को जिनचैत्यों से सुशोभित किया ऐसे संप्रति राजा अनुकंपादान और भक्तिदान (सुपात्रदान) से शासन प्रभावकों में रेखा को - अग्रसरता को प्राप्त किया ॥१३॥
१४. शुद्ध श्रद्धापूर्वक निर्दोष ऐसे मात्र उड़द के बाकुले का दान महामुनि को देने से (जितशत्रु राजा का पुत्र) श्रीमूलदेवकुमार विशाल राज्यलक्ष्मी को प्राप्त किया ॥१४॥
१५. अति दान मिलने से वाचाल - खुश हुए कवियों (पंडितों) द्वारा रचित सेंकड़ों काव्य प्रमाण वाला श्री विक्रमादित्य राजा का चरित्र आज भी लोक में प्रसिद्ध है ॥१५॥
१६. त्रिलोकबंधु ऐसे श्री जिनेश्वरों जो कि उसी भव में निश्चित मोक्षगामी होने से कृतकृत्य है उन्होंने भी सांवत्सरिक महादान दिया ॥१६॥
१७. जिन्होंने प्रासुक (निर्दोष) पदार्थों का दानधर्म का प्रवाह इस अवसर्पिणीकाल में भरतक्षेत्र में चलाया, वे श्री श्रेयांसकुमार मोक्ष के स्वामी क्यों नहीं होए ? ॥१७॥

कहं सा न पसंसिज्जइ, चंदणबाला जिणिददाणेणं ।
छम्मासिअ-तव-तविओ, निव्वविओ जीए वीरजिणो ॥१८॥

पढमाइं पारणाइं, अकरिंसु करति तह करिस्संति ।
अरिहंता भगवंता, जस्स घरे तेसिं धुवा सिद्धी ॥१९॥

जिणभवणबिबपुत्थय, संघसरूवेसु सत्तखित्तेसु ।
वविअं धणं पि जायइ, सिवफलयमहो अणंतगुणं ॥२०॥

१८. छ मासी तपवाले घोर तपस्वी श्री वीरप्रभु को जिन्होंने उड़द के बाकुला का दान देकर संतुष्ट किया, वह चंदनबाला प्रशंसा क्यों नहीं प्राप्त करे ?
॥१८॥
१९. अरिहंत भगवंतों ने जिनके घर प्रथम वगैरह (तप के) पारणा किया है, करते हैं, और करेंगे उन आत्माओं की सिद्धि (मोक्ष) अवश्य होती है
॥१९॥
२०. आश्चर्य है कि जिनमंदिर, जिनबिंब, आगम और साधु-साध्वी-श्रावक-श्राविका रूप चतुर्विध संघ - इन सात क्षेत्रों में बोया हुआ धन अनंतगुणयुक्त मोक्षफल को प्रदान करने वाला है ॥२०॥

सन्दर्भ ग्रन्थ-सूचि

अभिधान राजेन्द्रकोष	जैनधर्म में दान एक समीक्षात्मक
अमितगति श्रावकाचार	अध्ययन-उपाध्यय श्री पुष्कार
अभिज्ञान शाकुन्तलम्	मुनि
अनगार धर्माभूत	तत्त्वार्थसूत्र
अनुभव अमृतकुंभ - बाबुभाई कड़ीवाला	तत्त्वार्थ राजवार्तिक
आचारांगसूत्र	तत्त्वार्थ भाष्य
आवश्यकनिर्युक्ति	दानषट्त्रिंशिका
आवश्यकभाष्य	दान विचार
आदिपुराण - आचार्य जिनसेन	दीघनिकाय
आवश्यकचूर्णि	दशवैकालिकसूत्र
आचारांगसूत्र टीका	दान-प्रदीप
उत्तराध्ययनसूत्र	दानशासन
उपासकदशांग	नीतिवाक्यामृत-सोमदेवसूरि
उपदेशमाला	नवतत्त्व प्रकरण - उमास्वाति
ऋग्वेद	नवतत्त्व प्रकरण - देवेन्द्रसूरि
अंतकृद्दशांग	नीतिशतक - भर्तृहरि
कार्तिकेयानुप्रेक्षा	पद्मनंदिपंचविंशतिका
कल्पसूत्र वृत्ति	परमात्मप्रकाश टीका
कठोपनिषद्	पंचतंत्र
कथासरित्सागर	पुरुषार्थसिद्धयुपाय
चाणक्यनीति	पाराशरस्मृति
चारित्रसार	प्रवचनसार
जैनकथाएँ	पद्मपुराण

भगवतीसूत्र
 भगवद्गीता
 भगवान महावीर : एक
 अनुशीलन - देवेन्द्रमुनिशास्त्री
 भगवतीसूत्र वृत्ति
 महाभारत
 महापुराण - आचार्य जिनसेन
 मनुस्मृति
 योगशास्त्र
 योगविशिका - आचार्य हरिभद्र
 रथणसार
 रत्नकरंड श्रावकाचार
 रामायण
 विसुद्धिमग्गो

वसुनन्दि श्रावकाचार
 विपाकसूत्र
 स्थानांगसूत्र
 सुत्तनिपात
 सर्वार्थसिद्धि
 सूत्रकृतांगसूत्र
 सुखविपाकसूत्र
 सागारधर्मामृत
 हरिवंशपुराण
 त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र
 ज्ञातृधर्मकथांगसूत्र
 ज्ञानसार
 ज्ञानसागरनां भोती - डॉ. कलाबेन शाह



पूज्य उपकारी गुरुवर्याश्री
पद्मलताश्रीजी के चरणोमें
वंदन...

डॉ. प्रीतम सिंघवी लिखित और अनुवादित अन्य प्रकाशनों

क्रम	विषय	साल
(१)	हिन्दी जैन साहित्य में कृष्ण का स्वरूप विकास - डॉ. प्रीतम सिंघवी	1992
(२)	समत्वयोग एक समन्वय-दृष्टि - डॉ. प्रीतम सिंघवी	1996
(३)	बारहक्खर-कक्क of महाचन्द्र मुनि - Ed. H.C. Bhayani, Pritam Singhvi	1997
(४)	दोहाणुपेहा - Ed. Pritam Singhvi	1998
(५)	अनेकान्तवाद - Dr. Pritam Singhvi	1999
(६)	सदयवत्स - कथानक of Harṣavardhanagani - Ed. Pritam Singhvi	1999
(७)	आणंदा of आनंदतिलक - Ed. H. C. Bhayani, Pritam Singhvi	1999
(८)	दोहापाहुड - Ed. H. C. Bhayani, R. M. Shah, Pritam Singhvi	1999
(९)	तरंगवती - अनु. Pritam Singhvi	1999
(१०)	संप्रतिनृपचरित्रः संपादकः चतुरविजयमुनि	1999
(११)	शासनसम्राट जीवन-परिचय - हिन्दी अनुवाद Pritam Singhvi	1999
(१२)	प्रभु-वीर का अंतिम संदेश : मुनि यशोविजयजी एवं डॉ. प्रीतम सिंघवी	1999
(१३)	विद्युत : सजीव या निर्जीव : मुनि यशोविजयजी अनुवादक : डॉ. प्रीतम सिंघवी	1999
(१४)	नंदावर्तनुं नंदनवन - संकलन : पू.प्र.सा. विद्युत्प्रभाश्रीजी म.सा.ना शिष्य-प्रशिष्या अने डॉ. (श्रीमती) प्रीतम सिंघवी	2003
(१५)	संवेदन की सरगम - लेखक मुनि यशोविजयजी गणी हिन्दी अनुवादक : डॉ. प्रीतम सिंघवी	2007
(१६)	संवेदन की मस्ती : लेखक मुनि यशोविजय गणी हिन्दी अनुवादक : डॉ. (श्रीमती) प्रीतम सिंघवी	2007
(१७)	संवेदन की सुवास - अनुवादक : डॉ. प्रीतम सिंघवी	2008
(१८)	संवेदन की झलक अनुवादक : डॉ. प्रीतम सिंघवी	2008

“प्रार्थना ईश्वर की तरफ आधे रास्ते तक ले जाती है। उपवास महल के द्वार तक पहुँचा देता है और दान से हम अन्दर प्रवेश करते हैं।”

- कुरान

‘No person was ever honoured for what he received. Honour has been the reward for what he gave.’

- Calvin Coolidge

किसी भी इन्सान को कुछ पाने के लिए सम्मानित नहीं किया गया है। उसे सम्मान का पुरस्कार मिला है जब उसने दूसरों को दिया है।

